॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

प्रथम खण्ड।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशक विभाग
द्वारा श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णा दान भाण्डार
के लिये प्रकाशित।

—:*:—

काशी।

सम्वत् १९७९ विक्रमीय।

प्रथमवार १०००]   सन् १९२३ ई०   [मूल्य २) रुपया।

प्रथम खण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन।

श्रीभगवान्‌की कृपासे प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारतका प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ। स्कूल कालेजोंमें धर्मशिक्षा प्रदानके लक्ष्यसे अबतक जितने ग्रंथ श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाशविभागद्वारा प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं उनमेंसे यह परमोपयोगी ग्रंथ बी. ए. क्लासके पाठ्यपुस्तकरूपसे बनाया गया है। इससे पहले स्कूलके बालकोंकी धर्मशिक्षाके लिये क्रमोन्नत श्रेणिके विचारसे सदाचारसोपान, धर्मप्रश्नोत्तरी, धर्मसोपान, चरित्रचन्द्रिका, नीतिचन्द्रिका, आचारचन्द्रिका, नवीन दृष्टिमें प्रवीणभारत और धर्मचन्द्रिका—ये आठ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं तथा एफ् ए क्लासके बालकोंके धर्मशिक्षोपयोगी 'साधनचन्द्रिका' और 'शास्त्रचन्द्रिका' नामक दो पुस्तक बनकर तैयार हैं। अब बी. ए. क्लासकी उच्च-शिक्षाके लिये यह धर्मग्रंथ प्रकाशित किया गया। इसमें विचार्य्य विषय अनेक होनेसे दो खण्डमें यह ग्रंथ सम्पूर्ण होगा। प्रथम खण्डमें जितने विषय आये हैं उनके लिये विषय सूची देखने पर ही पाठकोंको विदित होगा कि इस ग्रंथकी उपयोगिता वर्त्तमान देश-कालमें कैसी असाधारण है। नवीन भारतमें आजकल जितने धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विषयों पर नाना मतभेद चल रहे हैं उन सभोंकी विस्तारित मीमांसा इसमें दी गई है। उच्च श्रेणिका पाठ्यपुस्तक होनेसे सब विषयों पर विचार बहुत ही गम्भी-रता तथा चिन्ताशीलताके साथ किया गया है और साथ ही साथ वर्त्तमान देशकाल तथा अधिकार और अधिकारीके प्रति भी पूरा लक्ष्य रक्खा गया है, जिससे सभी अधिकारके जिज्ञासुगण इस उपयोगी ग्रंथके अध्ययनसे अपने अपने गन्तव्य पथोंको पहचान

सके। अब इसके द्वितीय खण्डमें और भी अनेक अत्यावश्यकीय विषयों पर विचार प्रकट किये जायेंगे। उसमें नारीधर्म, आदर्श-नेता, आपद्धर्म, समाजसंस्कार, आदि सामाजिक विषयों पर देश-कालानुकूल गम्भीर विवेचन किये जायंगे और राजनैतिक जगत्, धर्मजगत्, शास्त्रजगत् तथा दार्शनिक जगत् पर भी पूरा प्रकाश डाला जायगा जिससे इन जगतोंमें वर्त्तमान समयमें जो कोलाहल मच रहा है तथा नाना विप्लवोंकी सूचना हो रही है इन सभोंकी उदारतामूलक शान्ति तथा समाधान हो सके। आपद्धर्म तथा समाजसंस्कार नामक दोनों अध्यायोंमें वर्त्तमान आपत्कालके विचारसे हिन्दुसमाजकी रीति नीति किस प्रकार व्यवस्थित होनी चाहिये इस पर पूरा विवेचन तथा कर्त्तव्यनिर्देश किया जायगा। इस प्रकारसे उच्चकक्षाके स्वाध्यायशील छात्रोंके हितार्थ प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारतके ये दो खण्ड प्रकाशित किये जा रहे हैं। इसके अनन्तर अन्तिम धर्मग्रंथ अँग्रेजी भाषामें दि वर्लड्स् इटरनल रिलि-जन (The World's Eternal Religion) प्रकाशित हो चुका है जो कि एम्. ए. क्लासके विद्वानोंके पढ़ने योग्य है। यही श्रीमहा-मण्डलके शास्त्रप्रकाशविभाग द्वारा निम्नश्रेणीसे लेकर सर्वोच्च श्रेणी पर्यन्त छात्रोंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रकाशित धर्म्मग्रन्थोंका दिग्दर्शन है।

इस पुस्तकका स्वत्वाधिकार, दीन-दरिद्र दुखियोंकी सहायताके हेतु श्रीमहामण्डल द्वारा स्थापित श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डारको समर्पित है।

निवेदक—

काशीधाम
वसंत पञ्चमी
सं० १९७९ विक्रमीय

श्रीकवीन्द्रनारायणसिंह
अध्यक्ष, श्रीभारतधर्ममहामण्डल।

विषय सूची ।

ओं नमः परमात्मने ।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत ।

——✻✻✻✻✻——

प्रस्तावना ।

(१)

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

हमारे पूर्वज पिता पितामहगण जिस पथ पर चलकर सुखमय लक्ष्यस्थलको प्राप्त हो गये हैं वही पथ हमारे लिये सरल तथा निरापद है । श्रीभगवान् मनुके दूरदर्शितापूर्ण इस गम्भीर उपदेशके प्रति 'नवीन भारत' की दृष्टि आजकल विरल ही आकृष्ट हो रही है । कालधर्मके प्रभावसे, आत्मोन्नतिकर यथार्थ शिक्षाका अभाव तथा भौतिक बहिर्लक्ष्यप्रधान शिक्षाके प्रभावसे, धर्माधर्म निर्णयकारी सच्चे हिन्दुनेताके अभावसे और जीवनसंग्रामकी तीव्र प्रबलताके वेगसे आर्य-जाति दूरदर्शी, सत्यदर्शी 'प्रवीण' पूज्यपाद महर्षियोंके शास्त्रीय वचनों पर चित्तके उन्मुख करनेमें बहुधा असमर्थ हो रही है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने गीतामें उपदेश किया हैः—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिको उल्लङ्घन करके यथेच्छ कार्य करता है, उसको सिद्धिलाभ, सुख या परमगति कुछ भी प्राप्त नहीं होती है ।

इस कारण कार्य्याकार्यके निर्णयमें शास्त्र ही प्रमाण है, शास्त्रसम्मत विधानके अनुसार ही कार्य करना चाहिये; किन्तु जातीय दुर्दैव तथा ऊपर कथित हेतुओंके कारण 'नवीन भारत' श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके इस 'प्रवीण' उपदेशके गम्भीरताज्ञानमें सर्वथा असमर्थ हो रहा है। कालधर्म, कुशिक्षा तथा कुत्सित आदर्शने अब 'नवीन भारत' के मस्तिष्कमें तरल शास्त्रभित्तिविहीन नवीन विषयोंके प्रति ही अधिक अभिनिवेश उत्पन्न करा दिया है। क्या शिक्षाका लक्ष्य निर्णय, क्या सामाजिक तथा जातीय उन्नतिका आदर्श-निरूपण, क्या वर्ण-धर्म और आश्रम धर्मका जातीय चिरजीवन प्रदानकारी गूढ़रहस्य-ज्ञान, क्या आर्यनारियोंके त्रिलोकपवित्रकर पातिव्रत्यधर्मका माहात्म्य ज्ञान, क्या आर्यसदाचारोंकी परमोपयोगिताका अनुभव, क्या आर्यधर्मके प्रति उदार महनीय पितृभावका गौरव ज्ञान, क्या राजनीति तथा धर्मनीतिका पारस्परिक सम्बन्धनिर्णय, इत्यादि इत्यादि सभी विषयोंमें 'नवीन भारत' प्रवीण पुरुषोंके आप्तवचनोंके दूरदर्शितापूर्ण तात्पर्य ग्रहणमें असमर्थ हो रहा है और इस प्रकार अज्ञानका कुफल यह हो रहा है कि आधुनिक नेतागण आर्य्यजातीय उन्नतिके पथनिर्देशमें किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर अनन्त मतभेद तथा आन्तरिक वैमनस्यकी वृद्धि करा रहे हैं। इस प्रकार घोर सङ्कटग्रस्त समयमें 'प्रवीण' पूज्यपाद आप्त पुरुष महर्षियोंके सिद्धान्त वचन ही दीन हीन 'नवीन भारत' वासियोंके लिये ध्रुवताराकी तरह पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं। इस कारण प्रकृत ग्रन्थमें 'नवीन भारत' के ऊपर-कथित सन्दिग्ध विषयों पर चर्चा करते हुए 'प्रवीण दृष्टि' के अनुसार उन सभोंका शास्त्रीय समाधान सन्निवेशित किया जायगा।

परन्तु कालका प्रभाव दुरत्यय है इसलिये कालाधीन जीवोंकी प्रकृति प्रवृत्ति कालधर्मानुसार ही हुआ करती है। सत्यादि युगोंमें

उत्पन्न जीवोंकी प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकार जिस प्रकार थे, एकपादावशिष्टधर्मप्रधान कराल कलियुगमें उस प्रकार उन्नत अधिकार मनुष्योंमें कदापि दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है इसी कारण ज्ञानदृष्टि-सम्पन्न महर्षियोंने युगानुसार अधिकारभिन्नता-प्राप्त जीवोंकी प्रकृति, प्रवृत्ति तथा शक्तिका तारतम्य देखकर ही स्मृत्यादि शास्त्रोंमें धर्मानुशासनका विधान किया है। श्रीभगवान् मनुने स्पष्ट ही कहा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

सत्ययुगमें तपःप्रधान धर्मका अनुष्ठान होता है, त्रेतायुगमें ज्ञान-प्रधान, द्वापरमें यज्ञप्रधान और कलियुगमें दानप्रधान धर्मका अनुष्ठान होता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने भी युगानुसार सिद्धि-वर्णनप्रसङ्गमें कहा है—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे ।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च सङ्घशक्तिः कलौ युगे ॥

त्रेतायुगमें मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्धिलाभ हुआ करता है। सत्य-युगमें ज्ञानशक्ति, द्वापरमें युद्धशक्ति और कलियुगमें एकताशक्ति द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है अतः सिद्धान्त हुआ कि युगानुसार युगो-त्पन्न जीवोंकी प्रकृति, प्रवृत्ति तथा शक्तिका तारतम्य होनेसे धर्मचर्या तथा जीवनचर्याकी व्यवस्थामें भी अवश्य ही तारतम्य हुआ करते हैं। इस समय धर्मभावहीन कलियुगका प्रभाव अतिप्रबल होनेसे आजकलके नर-नारी बहुत ही साधारणाधिकारसम्पन्न देखे जाते हैं अतः लक्ष्य अटूट रहने पर भी इस समयका धर्मानुशासन बहुधा आपत्कालीन देशकालपात्रविचारसे ही करना पड़ेगा। मन्वादि शास्त्रोंमें देशकालपात्रानुसार आपद्धर्मका विधान भी पाया जाता है। इसी अधिकारोपयोगी विधानके प्रति लक्ष्य रखकर ही प्रवीण

दृष्टिमें नवीन भारतका कर्त्तव्य निर्देश किया जायगा जिससे अधिकार और अधिकारीका सामञ्जस्य सुरक्षित होकर वर्त्तमान देश-कालमें नवीन भारतकी दीन दशा विदूरित हो सके। यही प्रकृत शिक्षाग्रन्थकी प्रस्तावना है ।

आर्य्यजातिका आदिवासस्थान ।

(२)

आर्यजातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष है या नहीं इस विषयमें आजकल बहुत मतभेद तथा आन्दोलन हो रहे हैं। अपने देशमें विदेशी बनना केवल धर्म्म तथा शास्त्रविरुद्ध ही नहीं है अधिकन्तु युक्ति और बुद्धिमत्तासे भी विरुद्ध है, अतः इस विषयपर प्रवीण आर्यमहर्षियोंके सिद्धान्तानुसार विचार किया जाता है ।

आर्य्यजाति भारतवर्षकी आदि जाति है या नहीं, इस विषयमें नवीन भारतके ऐतिहासिक लोगोंके जितने विचार देखनेमें आते हैं उन सबोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथमतः वे लोग कहते हैं कि आर्यगण मध्यएशियामें कास्पियन् ह्रदके पास पहले कहीं रहा करते थे और वहांसे ही क्रमशः भारतवर्षमें आये हुए हैं। इस प्रकारके विचारके विषयमें उन्होंने तीन युक्तियां बताई हैं, यथाः—ऋग्वेद संहितामें ऐसे अनेक नद नदी तथा नगरके नाम मिलते हैं जिनके स्थान मध्यएशियामें कहे जा सकते हैं। द्वितीय युक्ति यह है कि आर्यगण शास्त्रोंमें श्वेताङ्ग पुरुष करके वर्णित किये गये हैं और मध्यएशियाके लोग श्वेतवर्णके होते हैं। तृतीयतः आर्योंके उपास्य अनेक देव देवियोंके नामके साथ उक्त प्राचीन महादेशकी प्राचीन जातियोंके अनेक उपास्य देव देवियोंके नामका मेल देखनेमें आता है ; जिससे यह प्रमाण होता है कि मध्यएशियाके एक ही प्रदेशसे भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें आर्य्योंने उपनिवेश स्थापन

किये थे। नवीन भारतीय ऐतिहासिक पुरुषोंका द्वितीय विचार यह है कि आर्य्यलोग उत्तर मेरुसे क्रमशः दक्षिणकी ओर अग्रसर होकर अन्तमें भारतमें आये हैं। इसके लिये युक्ति यह है कि वेदमें दीर्घकाल-व्यापी रात्रि तथा दिनका उल्लेख है और उत्तर मेरुमें छः महीनेका दिन और छः महीनेकी रात्रि होती है और जेन्दाभेस्ता नामक ग्रंथमें लिखा है:—"आर्य्योंका स्वर्ग उत्तर मेरुमें ही था, वहां पर वर्ष भरमें एकही वार सूर्य्यका उदय होता था। पश्चात् वरफ और शीतके अधिक होनेके कारण वह स्थान जब वास करने योग्य न रहा तो आर्यलोग उसे त्यागकर दक्षिण देशकी ओर आये।" ऐतिहासिक पुरुषोंका तृतीय विचार यह है कि जर्मनीके पास किसी स्थानमें आर्यलोग रहते थे, क्योंकि भाषापर विचार करके देखा जाता है कि आर्यभाषा संस्कृतके साथ जर्मन भाषाका बहुत मेल है। इन सब विचारोंके अतिरिक्त आजकल और एक नवीन विचार निकला है जिसके अनुसार आर्यजाति तिब्बतसे आई है ऐसा कहा जाता है। अब नीचे प्रथमतः प्रवीण आर्यमहर्षियोंके विचारानुसार तत्त्वनिर्णय करके पश्चात् क्रमशः नवीन पुरुषोंके विचारोंकी अयौक्तिकता तथा निःसारता प्रमाणित की जायगी।

दुःखकी बात यह है कि नवीन ऐतिहासिक पुरुषोंने भारतकी प्रकृति तथा सृष्टिके क्रमविकाशके नियमपर विचार न करके ही अपनी अपनी कल्पना की है। किसी वस्तुके तत्त्वानुसन्धान करनेके लिये यथार्थ उपाय यह है कि कारणोंका तत्त्व निर्णय करके उसीके अनुसार कार्यका तत्त्व निर्णय किया जाय, क्योंकि कार्य्य कारणका ही विकाश मात्र है और इसलिये कारणके विषयमें पूर्ण सिद्धान्त निर्णय होने पर तभी कार्यका पूर्ण सिद्धान्त निर्णय हो सकता है, इसलिये आर्यजातिकी आदि वासभूमि निर्णय करनेके पहले भारतकी प्रकृति, आर्यजातिकी प्रकृति और सृष्टिके क्रमविकाशके अनुसार दोनों प्रकृति

का कब तथा किस प्रकार मेल हो सकता है इसका अवश्य विचार होना चाहिये। तभी सत्य सिद्धान्त निर्णय हो सकता है।

हिन्दु शास्त्रके सिद्धान्तानुसार समष्टि सृष्टिकी धारा ऊपरसे नीचेकी ओर चलती है। तदनुसार सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण मानव उत्पन्न होते हैं और वह युग सत्ययुग कहलाता है। उस समय पूर्ण सत्त्वगुणका विकाश रहनेसे सभी लोग पूर्ण धर्मात्मा होते हैं। स्मृति तथा पुराणोंमें इस प्रकार सृष्टिका क्रम बहुधा वर्णन किया गया है, यथाः—सृष्टिके प्रथम विकाशमें पूर्ण निवृत्तिसेवी सनक, सनन्दन आदि ब्रह्माजीके चार पुत्र, तदनन्तर मरीचि, अत्रि आदि सात (किसी किसी मतमें दस) पुत्र उत्पन्न होते हैं, पश्चात् उनके द्वारा अन्य सृष्टि क्रमशः उत्पन्न होती है। उक्त कथनसे सिद्धान्त होता है कि सृष्टिके पहले पूर्ण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं और क्रमशः सृष्टि अधोमुखिनी होकर सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर जाने लगती है। तदनुसार धीरे धीरे धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है। मनुसंहितामें लिखा हैः—

> चतुष्पात् सकलो धर्म्मः सत्यं चैव कृते युगे।
> नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते॥
>
> इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
> चौरिकाऽनृतमायाभिर्धर्मश्चाऽपैति पादशः॥

सत्ययुगमें धर्म चार पाद रहता है, सत्यकी पूर्णता रहती है और अधर्म्मके द्वारा अर्थादि लाभकी ओर मनुष्योंकी दृष्टि कदापि नहीं जाती है। तदनन्तर त्रेतादि युगमें क्रमशः धर्मका एक एक पाद नष्ट होने लगता है जिससे चोरी, मिथ्यावाद, कपटता आदि जघन्य वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ने लगती हैं। यही सब समष्टि सृष्टिके अधोमुखिनी होनेका प्रमाण है। केवल हिन्दु शास्त्रोंका ही यह सिद्धान्त नहीं है परन्तु पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थोंमें भी अनेक स्थलपर ऐसा ही

सिद्धान्त पाया जाता है । प्राचीन हिब्रु (Hebrew) शास्त्र ग्रन्थमें आदम (Adam) से जीवोंकी उत्पत्तिके विषयमें भी ऐसा ही लिखा है कि उनसे एक स्वर्गीय ज्योति निकलकर पृथिवीकी तरफ आई जिससे यहाँ पर अनेक पुण्यात्मा पुरुष उत्पन्न हुए, परन्तु यह सृष्टि बहुत दिनों तक ऐसी नहीं रही और क्रमशः अधोमुखिनी हो गई इत्यादि । ग्रीस देशके प्रसिद्ध विज्ञानवित् पण्डित प्लेटो (Plato) ने अपने फिड्रस (Phaedrus) नामक ग्रन्थमें लिखा है कि सृष्टिकी पहिली दशामें ऐसे पुण्यात्मा पुरुष थे कि स्वर्गमें देवताओंके साथ भी उनकी वातचीत हुआ करती थी । पश्चात् कालके अनुसार सृष्टिके निम्नाभिमुखिनी होनेसे मनुष्योंकी बुद्धि पर भी आवरण आ गया जिससे अधार्मिक सन्तान उत्पन्न होने लगी इत्यादि । अतः पूर्व और पश्चिम दोनों देशोंके शास्त्रीय सिद्धान्तोंसे यह बात निश्चय हुई कि सृष्टिके आदि कालमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं और पश्चात् क्रमशः धर्मके ह्रास होनेके कारण वह पूर्णता नष्ट होकर सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सकल प्रकारकी प्रजा उत्पन्न होती है ।

अब विचार करनेकी बात यह है कि सृष्टिकी प्रथमदशामें जो पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं वे पृथिवीके किस स्थलमें उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि मनुष्यकी प्रकृति जिस प्रकारकी होती है वे उसी देश कालमें उत्पन्न हो सकते हैं, असमान या प्रकृतिके विरुद्ध देश कालमें उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । इसी विचारसे सिद्ध होता है कि पूर्ण पुरुषोंकी उत्पत्ति पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है, अपूर्णप्रकृति भूमिमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । पूज्यचरण आर्य महर्षिगण तथा गवेषणा-परायण पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितगण सभीने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है कि पृथिवीभरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति सर्वथा पूर्ण है । प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म, कारण या आधिभौतिक, आधिदैविक

तथा आध्यात्मिक तीनोंकी पूर्णतासे पूर्ण होती है। भारतकी प्रकृति पर विचार करनेसे इन तीनोंकी पूर्णता देखनेमें आती है। आधि-भौतिक या स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताका प्रथम लक्षण यह है कि यहां पर षड् ऋतुओंका विकाश ठीक ठीक होता है। दो दो महीनेके अनन्तर प्रकृतिका सूर्यगतिके अनुसार ठीक ठीक परिवर्तन होना उसी देशमें सम्भव हो सकता है कि जिस देशकी प्रकृति पूर्ण हो। अपूर्ण प्रकृतिमें ऐसा कभी नहीं हो सकता है क्योंकि प्राकृतिक अपूर्णताके कारण सूर्यकी गतिका यथाक्रम प्रभाव, जिससे कि ऋतुओंका विकाश सम्भव होता है, नहीं पड़ सकता है और यही कारण है जिससे उन देशोंमें षड् ऋतुओंका आविर्भाव यथाक्रम न होकर एक या दो ऋतुका ही प्रभाव रहता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु भारतीय प्रकृतिकी स्थूल पूर्णताका यह भी और एक अपूर्व लक्षण है कि यहां पर एक ही समयमें भिन्न भिन्न प्रांतोंमें भिन्न भिन्न ऋतुका विकाश रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता केवल भारतकी समष्टि प्रकृतिमें ही नहीं परन्तु भारतकी व्यष्टि प्रकृतिके अङ्ग अङ्गमें भी व्याप्त है। जिस समय हिमा-लयके शीतमय प्रदेशोंमें तुषारमय पर्वत हेमन्त और शिशिर ऋतुओंके प्रबल पराक्रमका झण्डा उड़ाते रहते हैं ठीक उसी समय सिन्धुदेशके मरुस्थलमें दिवाभागमें ग्रीष्मऋतुका प्रभाव बना रहता है और उसी कालमें मैसूर, आदि देशोंमें वसंत, आसाम आदि देशोंमें वर्षा और मध्य देशमें शरद्ऋतुका आनन्द बना रहता है। सर्व सौन्दर्यमयी प्रकृति माताके सब रमणीय अङ्गोंका परमानन्द केवल भारतवर्षमें ही विक-सित है। पृथिवीके यूरोप आदि देशोंमें श्वेतवर्णके मानव, अफ्रिका आदि देशोंमें कृष्णवर्णके मानव और जापान चीन आदि देशोंमें पीत-वर्णके मानव बहुधा दिखाई पड़ते हैं परन्तु भारतवर्षमें वैसी असम्पूर्णता नहीं पाई जाती। इस पवित्र आर्यजातिकी मातृभूमिमें उज्ज्वलगौरवर्ण,

साधारण-गौरवर्ण, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण, श्याम-वर्ण और उज्ज्वलश्यामवर्ण आदि अनेक रङ्गोंके स्त्री पुरुष समानरूप-से दिखाई देते हैं। यही इस भूमिकी पूर्णता है। प्रत्यक्ष पूर्णताका वर्णन करते हुए उद्भिज्जतत्त्ववेत्ता पण्डितोंने यह भलीभांति निश्चित कर दिया है कि भारतवर्षमें पृथिवीके सब देशोंके उद्भिज्ज उत्पन्न हो कर उन्नतिको प्राप्त हो सकते हैं। उसी प्रकारसे प्राणिशास्त्रवेत्ता पण्डि-तोंने यह स्पष्टरीतिसे कहा है कि पृथिवीभरमें जितने प्रकारके पशु पक्षी तथा अन्य प्रकारके जीव हैं वे सब भारतवर्षके किसी न किसी प्रदेशमें भली प्रकारसे जीवित रहकर भारतवर्षकी सृष्टिलीला-विस्तारकारी पूर्णताका परिचय दे सकते हैं। भारतसमुद्रकी गंभीरता और भारत समुद्रकी मुक्ता प्रवाल आदि रत्न और नाना समुद्रसेवी जीवोंकी प्रसव करनेकी शक्ति तो सर्ववादिसम्मत है। पवित्रसलिला भागीरथीके जलकी अपूर्वता और उसकी शक्ति तो आजकलके दाम्भिक सायन्स-वेत्ता पण्डितोंने भी स्वीकार की है।* इस पवित्र तथा पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें सब प्रकारकी भूमियां हैं। सिन्धुदेश और राजपूतानाके कुछ अंशमें शुष्क जलहीन मरुस्थल, बङ्गदेश और मिथिला आदि देशोंमें अधिक सजलता और ब्रह्मावर्त आदि प्रदेशोंमें इन दोनों अवस्थाओं-की समता विद्यमान है। पृथिवीभरमें सबसे बड़ा और उच्च पर्वत-राज हिमालय और सबसे गंभीर भारतसमुद्र आर्य्यावर्तकी महिमा-को अनन्तकालसे बढ़ा रहे हैं। श्वेतवर्णकी ब्राह्मणजातीय भूमि, रक्तवर्णकी क्षत्रियजातिकी भूमि, पीतवर्णकी वैश्यजातीय भूमि और कृष्णवर्णकी शूद्रजातिकी भूमि भारतवर्षके प्रायः सब प्रदेशोंके विभागोंमें विद्यमान है, इस कारण सब प्रकारके उद्भिज्ज भारतवर्ष-

* 'नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत' नामक ग्रन्थमें भारतप्रकृतिकी पूर्णता तथा गङ्गामहिमाका विस्तृत वर्णन द्रष्टव्य है।

में उत्पन्न हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं । यहाँ भारतभूमिमें मूर्त्ति-काकी पूर्णता है ।

शिवरत्नसारतन्त्रमें लिखा है:—

> विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा ।
> नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ॥
> अश्वत्थः सर्ववृत्ताणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
> तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमण्डलम् ॥

जिस प्रकार देवताओंमें विष्णु, ह्रदोंमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, वृत्तोंमें अश्वत्थ और राजाओंमें इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार कर्म्मभूमि भारतवर्ष पृथिवीकी अन्य सब भूमियोंसे श्रेष्ठ है। यही सब भारतवर्षकी आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है ।

भारतवर्षमें दैवीशक्तिकी पूर्णताके कारण ही यहां पर अनादि कालसे काशी आदि दैवी शक्तिके प्रकाशक केन्द्ररूपी नित्य तीर्थ, अनेक नैमित्तिक तीर्थ, विविध पीठस्थान, ज्योतिर्लिङ्ग आदि आधिदैविक शक्तिके केन्द्र विद्यमान हैं और भगवत्शक्तिके आधार भूत विभूति तथा अवतारोंका आविर्भाव होता है और इसी आधिदैविक पूर्णताके कारण ही भगवान्के पूर्णा-वतार आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रकी लीला यहां पर प्रकट हुई थी। भारतवर्षकी आध्यात्मिक पूर्णताके कारण ही यहां पर पूर्णज्ञानाधार वेद और पूर्णज्ञानमय महर्षियोंका आविर्भाव हुआ है। वेदमें लिखा है:—

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः ।

ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है। इसलिये भारतमें पूर्ण ज्ञानके आविर्भाव होनेके कारण भारत मुक्तिभूमि कहलाता है। मोक्षमूलर, कोलब्रुक आदि पाश्चात्य मनीषिगण एकवाक्य होकर

स्वीकार करते हैं कि इसी देशसे ज्ञानज्योति प्रकट होकर संसारमें व्याप्त हुई है। कोलब्रुककी तो यह सम्मति है कि इस देशसे ज्ञानकी ज्योति ग्रीसमें गई थी, ग्रीससे रोममें, रोमसे समस्त पृथिवीमें गई है। अतः भारतकी आध्यात्मिक पूर्णता सर्ववादिसम्मत है। इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल प्रकारसे पूर्ण होनेके कारण भारतकी प्रकृति पूर्ण है यह सिद्धान्त निश्चय हुआ।

अब जब विचार तथा प्रमाणके द्वारा यह निश्चय हुआ कि सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण पुरुष उत्पन्न हुए थे और पूर्ण पुरुषकी उत्पत्ति पूर्णप्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है और जब यह बात भी निश्चय हुई कि पृथिवी भरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति पूर्ण है तो यह बात निःसन्देह है कि आदि सृष्टि भारतवर्षमें ही हुई थी और किसी देशमें नहीं। और जब मनुजीके सिद्धान्तानुसार आदि सृष्टिके पूर्ण पुरुष आर्य महर्षिगण थे तो आर्य जातिकी आदि निवासभूमि भारतवर्ष ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्यजाति और किसी देशमें रहती थी, वहांसे भारतवर्षमें आयी, यह कल्पना मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है; यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। वेदकी आदि विकाशभूमि भारतवर्षमें वैदिक आर्यजाति ही अनादिकालसे वास कर सकती है। यहां और कोई अपूर्ण जाति सृष्टिके आदिकालमें नहींहो सकती है और न पूर्ण ज्ञान और पूर्ण मनुष्यत्व युक्त आर्यजाति और किसी अपूर्ण प्रकृतियुक्त देशमें उत्पन्न होकर यहांपर आ सकती है। पूर्ण मानव आर्यगणकी भारतवर्षमें तथा तदन्तर्गत कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देशोंमें उत्पत्ति होनेके विषयमें श्रुतिस्मृतियोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा-मनु संहितामें:—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवाऽन्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

जिस भूमिके पूर्व और पश्चिममें समुद्र है, जिसके उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें विन्ध्याचल है उसको आर्य्यावर्त्त कहते हैं। आर्य्यावर्त्त भारतवर्षका ही नाम है। पूर्वोक्त लक्षणको देखकर और दक्षिणमें विन्ध्याचलका नाम देखकर प्रायः मनुष्योंकी यही सम्मति होती है कि भारतवर्षके उत्तर भागको आर्य्यावर्त्त कहते हैं और दक्षिण भागके दक्षिणावर्त्तादि और और नाम हैं; परन्तु इस सिद्धान्तको निश्चित न रखकर यदि समस्त भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त रूपसे माना जाय तो सिद्धान्तके स्थिर करनेमें सुविधा होगी। यदि वर्त्तमान उत्तर भारतको आर्य्यावर्त्त रूपसे माना जाय तो उसकी पूर्व्वसीमा और पश्चिम सीमामें समुद्र पाया नहीं जाता, क्योंकि उत्तर भारतके पूर्वमें बङ्गदेश तथा पद्मा, ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी बड़ी नदियाँ हैं और पश्चिम सीमामें पञ्जाब, सिन्धुदेश और सिन्धुनद तथा अन्यान्य नदियाँ हैं। इस कारण शास्त्रोक्त पूर्व्वकथित लक्षण घटानेपर केवल उत्तर भारतको आर्य्यावर्त्त नहीं कह सकते। पूर्व्वसमुद्र और पश्चिम समुद्रद्वारा पूर्व्व पश्चिम सीमा समझी जाने पर भारतवर्ष अर्थात् पूरे हिन्दुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके मान सकते हैं। उत्तरमें हिमालयके होने और दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेके विषयमें उत्तर सीमाका तो मतभेद है नहीं,

केवल दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेका रहस्य उद्घाटन होने योग्य है। यद्यपि इस समय भारतवर्षके बीचके पर्व्वतको ही विन्ध्याचल नामसे पुकारते हैं, परन्तु जिस प्रकार नीलपर्व्वत भारतवर्षके कई स्थानोंमें है और पुराणोंमें भी नीलपर्व्वतका भारतवर्षके कई स्थानोंमें होना पाया जाता है। अब भी उड़ीसामें, दक्षिण भारतमें और हरिद्वारके निकट, इन तीन स्थानोंमें नीलपर्व्वतके नामसे पर्व्वत विद्यमान हैं; ठीक उसी ढंग पर भारतवर्षके मध्यपर्व्वतको विन्ध्याचल कहते हैं और दक्षिण समुद्रके निकटवर्त्ती स्थानोंमें भी विन्ध्य नामका पर्व्वत विद्यमान है। यदि यह सिद्धान्त स्थिर माना जाय कि आर्य्यावर्त्तकी सीमा कहते समय महर्षियोंने भारतकी दक्षिण सीमाके विन्ध्यपर्व्वत नामक शिखरको ही लक्ष्य किया है तो अति-सुगमतासे समग्र हिन्दुस्थानको आर्य्यावर्त्त करके निश्चय कर सकते हैं और समग्र भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके माननेमें सब प्रकारकी सुविधा भी है और शास्त्रोक्त पूर्व और पश्चिम समुद्रकी भी मीमांसा ठीक ठीक हो सकती है। सरस्वती और दृषद्वती नाम्नी दोनों देवनदियोंके बीचमें जो देवनिर्मित देश है उसका नाम ब्रह्मावर्त्त देश है। कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पञ्चालदेश और मथुरादेश ब्रह्मावर्तके अन्तवर्त्ती ये देश ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं। सृष्टिका आदि विकाश इसी देशमें हुआ है, सृष्टिकी प्रथम दशामें जो ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे सो इसी देशमें उत्पन्न हुए थे और इन्हींसे आचार, व्यवहार तथा चरित्रका आदर्श संसारमें सर्वत्र व्याप्त होना चाहिये; और सो हुआ भी था; क्योंकि पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार पूर्व्व पुरुष आर्य्यगणकी ही ज्ञानकी ज्योति समस्त संसारमें फैल गई थी सो आजतक उन देशोंमें प्रकाशको दे रही है और श्रीभगवान् मनुजीके उपर्युक्त वचनोंका भी यही तात्पर्य्य है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है:—

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमाह तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् ।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है। देवतालोग कर्मके प्रेरक हैं इसलिये देवयज्ञके द्वारा जो दैवीशक्ति उत्पन्न होती है उसीसे कर्मानुसार सृष्टि-प्रवाह चलता है और वह शक्ति जब कुरुक्षेत्रमें ही प्रथम विकाशको प्राप्त हुई थी तो प्रथम सृष्टिका विकाश कुरुक्षेत्रमें ही हुआ था इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसलिये गीताजीमें भी भगवान्‌ने कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। जाबालोपनिषद्‌में लिखा है:—

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है तथा समस्त जीवोंका आदि उत्पत्तिस्थान है। सृष्टिके आदिकालमें पूर्वपुरुष आर्य्यगण भारतके इसी स्थानमें उत्पन्न होकर समस्त आर्य्यावर्त्तमें विचरण करते थे, उनके रहनेके कारण इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। शास्त्रोंमें लिखा है:—

आर्याः श्रेष्ठा आवर्त्तन्ते पुण्यभूमित्वेन वसंत्यत्र इति आर्यावर्त्तः ।

पुण्यभूमि होनेके कारण पूर्वपुरुष आर्यगण यहां पर निवास करते थे इसीलिये इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। कुल्लूक भट्ट-जीने आर्यावर्त्त शब्दका यह अर्थ किया है:—

आर्या अत्राऽऽवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त्तः ।

आर्यगण इस स्थानमें पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं इसलिये इस स्थानका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। आर्यगणके आदि ग्रन्थ वेदमें इन सब विषयोंका बहुधा वर्णन देखनेमें आता है, यथा ऋग्वेदमें:—

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।

गङ्गा यमुनाके संगम स्थलमें प्राणत्याग होनेसे ऊर्द्ध्वगति होती

है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा भारतवर्ष ही आर्यगणकी आदि निवास भूमि है यह बात स्पष्ट रूपसे सिद्ध होता है। अतः वेद दि शास्त्रीय प्रमाण तथा विचारके द्वारा निश्चय हुआ कि आर्य्यजातिके देशान्तरसे आनेके विषयमें नवीन ऐतिहासिक मनुष्योंने जो कुछ कल्पना की है सो सर्वथा उनकी मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है इसमें अणु-मात्र सन्देह नहीं है।

सृष्टिके यथार्थ रहस्यके न जाननेसे नवीन ऐतिहासिकोंने ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड सृष्टिके विषयमें अनेक भ्रान्त कल्पना की है और तदनुसार आदि सृष्टिमें पूर्ण मानव उत्पन्न होते हैं या नहीं—इस विषयमें भी उनके अनेक मतभेद पाये जाते हैं। किसी किसीने तो अवतारका रहस्य न जानकर श्रीभगवान्के दस अवतारोंको ही सृष्टिक्रमका रूपक करके वर्णन किया है। उनके मतानुसार मत्स्यादि दस अवतार क्रमोन्नत सृष्टिका ही दृष्टान्त है। यथा—प्रथमतः जब समस्त संसार जलमें मग्न था तब केवल जलजन्तु मछली आदि की उत्पत्ति हुई थी, मनुष्य, पशु आदिकी सृष्टि तब नहीं थी। मत्स्यावतार इसीका ही सूचक है। तदनन्तर जब सृष्टि और कुछ उन्नत हुई तो कच्छप आदि जीव उत्पन्न हुए जो जलमें और कभी कभी स्थलमें भी रहने लगे। कूर्मावतार इसीका ही सूचक है। तदनन्तर सृष्टिका परिणाम होता होता जब जलसे कीचड़ या दलदल हुआ तो वराह आदि पशु उत्पन्न होने लगे। वराहावतार उसीका सूचक है। उसके बाद सृष्टिकी और भी उन्नत दशामें अर्द्धपशु अर्द्ध-मानव इस प्रकारसे नृसिंहाकृति जीव उत्पन्न होने लगे। सृष्टिके और भी उन्नत परिणाममें मनुष्यकी उत्पत्ति हुई; किन्तु प्रथम मानवीय सृष्टि होनेसे उसमें हिंसा, हत्या, क्रोध आदि भाव रहे। परशुराम अवतारमें मनुष्य हत्या इसका दृष्टान्त है। तदनन्तर सृष्टिकी क्रमोन्नत दशामें सुन्दर सुगुणसम्पन्न मनुष्य उत्पन्न होने लगे। राम,

कृष्ण, बुद्ध आदि अवतार इसके दृष्टान्त हैं। इस प्रकारसे दशावतारको सृष्टिका रूपक करके उन लोगोंने बताया है और आदि सृष्टिमें पूर्ण मानव नहीं हुए थे किन्तु मछली आदिके क्रमसे सृष्टि हुई थी ऐसा विचार किया है।

जिन नवीन ऐतिहासिक पुरुषोंने कैन्ट (Kant) आदि पश्चिमी दार्शनिक पण्डितोंके कथित नैहारिक सिद्धान्त (Nebulous Theory) के अनुसार सौर जगत्की सृष्टि मानी है उनके मतमें सृष्टिके आदिकालमें सूर्य, चन्द्र अथवा कोई भी ग्रह उपग्रह नहीं थे। समस्त जगत् सर्वत्र व्याप्त नीहार (कुहर) के आकारमें विद्यमान था। जिन विशेष पदार्थोंसे ग्रह नक्षत्रादिकी उत्पत्ति हुई है वे सब सर्वत्र व्याप्त किसी मूल पदार्थके विकारमात्र हैं। वे ही पदार्थ किसी गूढ़ कारणसे पहले भिन्न भिन्न खण्डोंमें बँटकर फिर भी विभक्त हो गये थे और उन्हीं विभक्त खण्डोंसे सूर्य्यमण्डल तथा सौरजगत्की उत्पत्ति हुई है। नैहारिक मतानुसार इस प्रकारसे पृथिवी, चन्द्र, सूर्य आदि जड़ पदार्थोंकी सृष्टि होनेके अनन्तर धीरे धीरे चेतन जीवोंकी सृष्टि हुई है। उसमें प्रथमतः जङ्गली असभ्य मनुष्य बनकर पश्चात् क्रमशः उन्नत मानव उत्पन्न हुए हैं। प्रस्तर युग, लौह युग, ताम्र युग, रौप्य युग, स्वर्ण युग इस प्रकारसे क्रमोन्नत मनुष्य समृद्धिपूर्ण क्रमोन्नत युगोंका प्रकट होना इसी सिद्धान्तके अनुकूल हैं। पश्चिमी पण्डित डार्वीन (Darwin) साहबने भी इसी प्रकारका सिद्धान्त माना है। उनके मतानुसार वृक्ष, पक्षी, पशु आदि योनियोंके द्वारा सृष्टिकी क्रमाभिव्यक्ति होती हुई अन्तमें वानर योनिमें सृष्टिका परिणाम होता है और वानर योनिके बाद ही मनुष्य योनिकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सृष्टि बतानेमें डार्वीन साहबने आर्य शास्त्रानुसार यह नहीं बताया है कि जीवात्मा तथा सूक्ष्म शरीर स्लथ्

शरीरसे पृथक् पदार्थ है और वह एक एक स्थूल शरीरको छोड़ता हुआ क्रमोन्नत भिन्न भिन्न स्थूल शरीरमें जन्म लेता है। उन्होंने अपने आस्तिकताहीन विचारके अनुसार केवल स्थूल शरीरकी ही क्रमाभिव्यक्ति (evolution) मानी है और चेतनता आदिका विकाश उसी अभिव्यक्तिके अनुसार ही स्वतः हो जाता है ऐसा कहा है। वानर योनिसे मनुष्य योनिमें आकर जीव कैसे क्रमोन्नत होता है उसका वृत्तान्त प्रस्तर युग, लौह युग आदि क्रमसे उन्होंने बताया है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। इस प्रकारसे आदि सृष्टि तथा आदि चेतन जीवकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक मतभेद पाये जाते हैं।

आर्यशास्त्रके निगूढ़ तत्त्व पर मनन करनेसे यह सिद्ध होता है कि पश्चिमी पण्डितोंके द्वारा वर्णित वृक्षादि क्रमसे क्रमाभिव्यक्तिवाद तथा आदि सृष्टिमें पूर्ण मानवकी उत्पत्ति होकर सृष्टिकी क्रमनिम्नगति दोनों ही व्यष्टि सृष्टि तथा समष्टि सृष्टिके प्रवाहके विचारसे सत्य हैं। अवतार तत्त्वका रूपक बनाकर मत्स्यादि क्रमसे सृष्टिका विस्तार मानना केवल अवतार तत्त्वके विषयमें अज्ञानका ही फल मात्र है। सृष्टि अण्डज मत्स्यादिके क्रमसे नहीं होती है किन्तु उद्भिज्ज वृक्षादि क्रमसे होती है। वृक्ष योनि ही व्यष्टि सृष्टिमें प्रथम योनि है। श्रीभगवान्के दस अवतारोंकी दस मूर्त्तियां सृष्टिकी तत्कालीन दशाके लिये आवश्यकतानुसार गृहीत मूर्त्तियां हैं। उसके साथ सृष्टिक्रमका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। खण्ड प्रलयके समय संसार जलमग्न रहता है। इस लिये उसी सर्वतो व्याप्त जलके आक्रमणसे भावी सृष्टिबीजकी रक्षाके लिये जलजन्तु मत्स्यके रूपमें श्रीभगवान्को अवतार धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार समुद्रमथनके समय पर्वत धारणके लिये कूर्मरूप तथा रसातलके भीतरसे पृथिवीके बचानेके लिये वराहरूप उन उन समयोंकी आवश्यकताको ही सूचित करते हैं। ये सब

रूप धारण विश्वकी स्थितिके लिये हैं, सृष्टिके लिये नहीं हैं। और खण्ड प्रलयके साथ इनका सम्बन्ध है, महाप्रलयके साथ नहीं है। इनको सृष्टिविज्ञानके साथ मिलाकर अवतार रहस्यका नाश नहीं करना चाहिये। अब नीचे व्यष्टि तथा समष्टि सृष्टिके क्रमका संक्षेप वर्णन करके सृष्टि विषयक विभिन्न मतवादोंका सामञ्जस्य तथा समाधान किया जाता है।

आर्यशास्त्रमें विश्वसृष्टिका स्वाभाविक परिणाम चक्रावर्त्तकी तरह बताया गया है। जिस प्रकार किसी चक्रके घूमनेके समय देखा जाता है कि जब उसका आधा अंश नीचेसे ऊपरकी ओर आता है तो दूसरा आधा अंश ऊपरसे नीचेकी ओर चला जाता है, उसी प्रकार सृष्टिमें भी व्यष्टि सृष्टि अर्थात् पिण्डसृष्टिका प्रवाह तमोगुण-से सत्त्वगुणकी ओर या नीचेसे ऊपरकी ओर स्वाभाविकरूपसे चलता रहता है और समष्टि सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डसृष्टिका प्रवाह सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर या ऊपरसे नीचेकी ओर स्वाभाविक रूपसे प्रवाहित हुआ करता है। पश्चिमी पण्डितोंने व्यष्टिसृष्टिके क्रमको थोड़ा बहुत समझा है, इसलिये वृत्तादिक्रमसे सृष्टिका वर्णन किया है। किन्तु आर्यमहर्षियोंने ज्ञानदृष्टि द्वारा व्यष्टि समष्टि दोनों प्रकारकी सृष्टिके प्रवाहको ही देखा था। और उसीके अनुसार उन्होंने ब्रह्माण्डसृष्टि तथा पिण्डसृष्टि दोनोंका ही विस्तारित वर्णन तथा सामञ्जस्य किया है। पिण्डसृष्टिमें अनन्त जीवोंका सृष्टि-प्रवाह उद्भिज्जयोनिमें प्रारम्भ होकर उद्भिज्ज, स्वदेज, अण्डज, जरायुज इस प्रकार क्रमसे ऊपरकी ओर चलता है। यही क्रमाभिव्यक्ति (evolution) का नियम है। जिस प्रकार समुद्रके तरङ्गायित जल-में एकही सूर्यके अनन्त प्रतिबिम्ब तरङ्ग तरङ्गमें दीख पड़ते हैं उसी प्रकार महाप्रकृतिके त्रिगुण तरङ्गमें परमात्माके प्रतिबिम्बरूपी अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति नैसर्गिकरूपसे सदा ही होती रहती है। और

इन सब जीवोंकी धारा तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर चलती है। इन्हीं जीवोंको उद्भिज्जादि क्रमसे ८४ लक्ष योनि भेद करके पश्चात् मनुष्ययोनिमें आना पड़ता है यथा, वृहद् विष्णुपुराणमें—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे।
ततो हि मानुषा जाता कुत्सितादेर्द्विलक्षकम्॥

मनुष्ययोनिमें आनेसे पहले प्रत्येक जीवको २० लक्ष वार उद्भिज योनि, ११ लक्ष वार स्वेदज कृमि कीटादि योनि, १९ लक्ष वार अण्डज पक्षी मत्स्य मकर आदि योनि और ३४ लक्ष वार पशुयोनिमें जन्म लेना पड़ता है। पशुयोनिकी अन्तिम योनि वानर योनि है और किसी किसी मतमें गौ योनि तथा सिंह योनि भी है। अन्तिम योनिमें कई वार जन्म होनेके बाद तब जीवका जन्म मनुष्य योनिमें होता है। उसमें भी दो लक्ष वार कुत्सित् अर्थात् असभ्य जङ्गली मनुष्य योनिमें जन्म होता रहता है। तदनन्तर क्रमशः जीव अपने कर्मानुसार उन्नति करता हुआ अनार्य, आर्य, आर्योंमें वैश्य, क्षत्रियादि क्रमोन्नत योनियोंको पाता है। और उन्नत कर्मानुसार इसी मनुष्ययोनिसे देवता, ऋषि, पितृ आदि अन्यान्य लोकोंके उपयोगी योनियोंको प्राप्त करता है। चतुर्दशभुवनात्मक यह विशाल ब्रह्माण्ड इसी प्रकारसे महाप्रकृतिकी नित्य सृष्टिधारामें उत्पन्न अनन्त प्रकारके जीवोंके द्वारा परिपूर्ण है। ये ही सब जीव ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें चौदह लोकोंमें बसते हैं और ब्रह्माण्डकी प्रलयदशामें महाप्रकृतिके गर्भमें लय हो जाते हैं। तदनन्तर महाप्रलयके बाद जब ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है तब येही सब जीव पुनः पूर्वकर्मानुसार चौदह भुवनोंमें प्रकट हो जाते हैं। महाप्रलयके अनन्तर होनेवाली इसी सृष्टिको ब्रह्माण्डसृष्टि या समष्टि सृष्टि कहते हैं। यह सृष्टि पूर्वकल्पानुसार

होती है, जैसा कि वेदमें लिखा है—"यथापूर्वमकल्पयत्" और इसकी धारा ऊपरसे नीचेकी ओर अर्थात् सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर होती है। इस कारण ब्रह्माण्डसृष्टिमें प्रथमतः सत्त्वगुण-प्रधान सत्ययुग, तदनन्तर क्रमशः रजः-सत्त्व-प्रधान त्रेतायुग, रजस्तमः प्रधान द्वापर युग और अन्तमें तमःप्रधान कलियुगका उदय होता है। यही चार युगोंका चक्र हजारों वार चलते चलते कल्प, महाकल्प, मन्वन्तर, खण्डप्रलय, महाप्रलय आदि होते रहते हैं। किन्तु इसकी गति ऊपरसे नीचेकी ओर ही है और ऐसा होनेसे ही ब्रह्माण्डसृष्टिमें सात्त्विक महत्तत्त्व आदि क्रमसे स्थूल ब्रह्माण्डका विकाश और मानव सृष्टिमें प्रथमतः सनक सनन्दन आदि पूर्ण सत्त्वगुणमय पूर्ण मानवकी उत्पत्ति होकर क्रमशः नीच कोटिके मनुष्य युगधर्मानुसार उत्पन्न होते रहते हैं। यही व्यष्टिसृष्टि तथा समष्टिसृष्टि अर्थात् पिण्डसृष्टि तथा ब्रह्माण्डसृष्टिकी चक्रावर्त्तकी तरह दोनों ओर चलनेवाली दो नित्यधाराएं हैं। ब्रह्माण्डसृष्टिमें किस प्रकारसे चतुर्दश लोकोंका विकाश तथा देवता, मनुष्य, पशु पक्षी आदिका पूर्वकल्पानुसार विकाश होता है उसका आर्यशास्त्रानुसार कुछ वर्णन नीचे दिया जाता है।

विश्वप्रसविनी प्रकृतिमाता परमात्मासे ही उत्पन्न होती है। प्रकृति माया और परमात्मा उसके प्रेरक मायी हैं। उन्हींके शरीरसे उत्पन्न अगणित जीवोंके द्वारा समस्त जगत् परिव्याप्त है। समस्त देवतागण, साध्यगण, मनुष्यगण तथा पशु पक्षी आदि चराचर समस्त जीव उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। पञ्चप्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वधात्री पृथिवी सभी उनसे उत्पन्न हुए हैं। महाभूतादि महत्तत्वान्त समस्त तथा आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सकल प्राणी किस आधारसे नवीन ब्रह्माण्डसृष्टिके समय प्रकृतिमें उत्पन्न होते हैं, इसके लिये श्रुति कहती है कि—

"यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवींचान्तरीक्षमथो स्वः"

द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा चराचर समस्त जीव पूर्व सृष्टिके अनुसार ही नवीन ब्रह्माण्ड सृष्टिके समय उत्पन्न होते हैं। महाभूतादि तो स्वाभाविकरूपसे पूर्वकी तरह उत्पन्न हो ही जाते हैं; एतदतिरिक्त मनुष्यादि समस्त जीव भी प्रलयके समय जो जिस दशामें जिन जिन कर्मोंके साथ लय हो गये थे, उन्हीं उन्हीं कर्मोंके वेगसे ठीक तदनुसार योनियोंको प्राप्त हो जाते हैं। पूर्व सृष्टिमें जो मनुष्य थे वह मनुष्य ही बनते हैं, जो देवता थे वह देवता ही बनते हैं, जो पशु थे वह पशु ही बनते हैं, जो उन्नत लोकके जीव थे वह उन्नत लोकमें ही उत्पन्न होते हैं, जो अधोलोकके जीव थे वह अधोलोकमें ही उत्पन्न होते हैं, यही श्रुत्युक्त 'यथापूर्व' शब्दका तात्पर्य है। श्रीभगवान् मनुजीने भी अपनी संहितामें लिखा है:—

यं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद् यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥
यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥

स्वभावके अनुसार जिस जीवका जो कर्म प्रथम उत्पन्न हुआ था प्रत्येक सृष्टिमें उसीके अनुसार उसकी चेष्टा तथा जन्म होता है। हिंस्र सिंहादि, हिंसाशून्य हरिणादि, मृदुप्रकृति ब्राह्मणादि, क्रूरप्रकृति क्षत्रियादि, धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या—जिसमें पूर्व सृष्टिमें जो बातें थीं उसीके अनुसार सृष्टि होती है और ऐसी

ही प्रकृति तथा प्रवृत्तिको जीव प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओंके आगमनके समय प्रकृतिमें स्वतः ही तदनुसार वृक्षलतादिकोंका परिवर्त्तन हो जाता है ऐसे ही पूर्वकर्मानुसार स्वतः ही जीवोंका जन्म तथा उनमें भिन्न भिन्न प्रवृत्ति होने लगती है। श्रीभगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे मरीचि अत्रि आदि प्रजापतिगण तपोऽनुष्ठान द्वारा स्थावर जङ्गमात्मक समस्त सृष्टि इसी प्रकारसे समष्टि जीवोंके प्राक्तनानुसार करते हैं ।

यह सब सृष्टि वैजी है या मानसी, इसके विषयमें आर्यशास्त्र कहता है कि, समस्त प्राथमिक सृष्टि मानसी ही हुआ करती है । श्रुतिमें लिखा है—

"मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त"

सृष्टिके समय प्रजापति ब्रह्माजीने मनःसंयम द्वारा समष्टि-जीवोंके प्राक्तन कर्मोंको ठीक ठीक देखकर मानसी सृष्टि की। महाभारतमें लिखा है—

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

प्रजापति ब्रह्माने समस्त जीवों तथा देवताओंकी सृष्टि मनसे ही की थी और महर्षियोंने भी आदि कालमें तपस्याके द्वारा मानसी सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्मासे जो अक्षय, अव्यय, वेदमूलक, धर्म्मतन्त्रपरायण सृष्टि हुई थी जो सनक, सनन्दन आदि सिद्ध, मरीचि अत्रि आदि प्रजापति तथा उनसे उत्पन्न आदि पुरुष ब्राह्मण-गण थे। ये सब सृष्टि ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टि थी।

इन सब सृष्टियोंको आर्यशास्त्रमें दस भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः॥
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः॥
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो॥
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः॥
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः॥
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः।
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः॥
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः।
गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः॥
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम!
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः! शृणु पञ्चनखान् पशून्॥
श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः॥
कङ्कगृध्रवकश्येनभासभल्लकबर्हिणः।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥
वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम!
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः॥
देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुरा।

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥

प्रकृतिके गुणवैषम्यसे प्रथम सृष्टि महत्तत्त्वकी है, द्वितीय सृष्टि अहंतत्त्वकी है, जो द्रव्यात्मक, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला है। तृतीय सृष्टि सूक्ष्मतत्त्व या सूक्ष्म तन्मात्राकी है जिसमें द्रव्य अर्थात् स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न करनेकी शक्ति है। चतुर्थ सृष्टि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियकी है। पञ्चम सृष्टि इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता तथा मनकी है। षष्ठ सृष्टि तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामक पञ्चपर्वा अविद्याकी है जो अबुद्धिपूर्वक स्वतः उत्पन्न होती है और आवरणविक्षेप धर्मा होती है। ये छः प्रकारकी सृष्टियाँ प्राकृतिक हैं। तदनन्तर विकृतिसे जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसका वर्णन है। सप्तम सृष्टि स्थावर उद्भिज्जोंकी है जिसके छः भाग हैं। यथाः—वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार, बांस आदि कठिन लतावृक्ष और द्रुम (जिसमें फूलसे फल होता है)। उद्भिज्जोंके साधारण लक्षण ये हैं कि इनमें आहार सञ्चार नीचेसे ऊपरकी ओर होता है, ये अव्यक्तचैतन्य, अन्तःसंज्ञायुक्त और अव्यवस्थित परिणामादि अनेक भेदयुक्त होते हैं। यह सृष्टि ऊर्द्ध्वस्रोत है। तदनन्तर तिर्यक्स्रोत जीवोंकी सृष्टि होती है जिसमें स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशु अन्तर्निविष्ट हैं। तिर्यक स्रोत जीव उसे कहते हैं जिसमें आहार सञ्चार वक्र भावसे होता है। इनके अट्ठाइस भेद हैं। अपने स्तनादिकी ज्ञानशून्यता, आहारादिमात्रनिष्ठा, घ्राणसे जान लेनेकी शक्ति और दीर्घानुसन्धानशून्यता,—ये सब तिर्यक् स्रोत जीवोंके लक्षण हैं। इनके अट्ठाइस भेद इस प्रकारके हैं:—गौसे लेकर उष्ट्र पर्यन्त दो खुर वाले जीव नौ प्रकारके हैं। गधेसे चमरी तक एक खुर वाले छः प्रकारके जीव हैं। कुत्तेसे लेकर

गोधा तक पञ्चनखवाले जीव बारह प्रकारके हैं। ये सत्ताइस भेद हुए। इसके सिवाय अट्ठाईसवेंमें मकरादि अण्डज जलजन्तु, गृद्ध कङ्कादि अण्डज, खेचर पक्षी तथा मशक मत्कुणादि स्वेदज समझना चाहिये, जिनमें तिर्यक्स्रोतके सब लक्षण मिलते हैं। अण्डज और स्वेदजके विषयमें मनुसंहितामें लिखा हैः—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्योदकानि च॥
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्॥

जिसमें पहले अण्ड होकर पीछे जीव उत्पन्न होता है, ऐसे पक्षी, सर्प, मगर, मत्स्य, कच्छप, कृकलास, शङ्ख, शुक्ति आदि स्थलज जलज जीव अण्डज हैं। स्वेद, मैल अथवा उत्तापके कारण जो उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे मशक, मक्षिका, मत्कुण आदि जीव स्वेदज कहलाते हैं। इसमें नाना प्रकारके कीटाणु (Germs) भी समझे जायँ। सृष्टिक्रमके अनुसार उद्भिज्ज सृष्टिके बाद स्वेदज सृष्टि, तदनन्तर अण्डज सृष्टि और तदनन्तर पशुओंकी सृष्टि होना ऊपर कथित वर्णनोंसे समझना चाहिये। तदनन्तर नवम सृष्टि मनुष्योंकी है जो अर्वाक्स्रोत अर्थात् अधःस्रोत सृष्टि है। इसमें आहार सञ्चार ऊपरसे नीचेकी ओर होनेसे इसको अर्वाक्स्रोतसृष्टि कहा गया है। रजोगुणका अधिक होना, कर्मप्रधानता होना तथा दुःखमें सुखज्ञान होना इस सृष्टिका लक्षण है। यही महत्तत्त्वसे लेकर मनुष्य पर्यन्त नवविध सृष्टिका क्रम है। इसके सिवाय एक दशम सृष्टि है जिसको दैवी सृष्टि कहते हैं। महत्तत्त्वादि सृष्टि जो छः भागोंमें विभक्त है सो प्राकृत सृष्टि है। उसके बाद सप्तम, अष्टम, नवम सृष्टि जिसमें उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज पशु और जरायुज मनुष्य हैं ये सब विकृतिसे उत्पन्न वैकृत-सृष्टि हैं।

दैवी सृष्टि जो दशम है उसमें कई प्रकार हैं। यथा, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवतागण वैकारिक सृष्टिके अन्तर्गत हैं जिसका वर्णन प्राकृत सृष्टिके भीतर पहले ही किया गया है। सनक, सनन्दनादिकी सृष्टि वैकारिक वैकृत—उभयात्मक है; क्योंकि, वे सब मनुष्यसृष्टि होनेपर भी देवकोटिके मनुष्य हैं और अन्यान्य देवतागण इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंसे न्यून होनेसे वैकृत सृष्टिमें ही सम्पर्क रखते हैं। तथापि देवयोनि होनेके कारण इनको वैकारिक सृष्टिके भी अन्तर्गत कर सकते हैं। वैकृत देवसृष्टि आठ प्रकारकी होती है। यथा, विबुध अर्थात् देवता और ऋषि, पितर और असुर ये तीन प्रकारकी सृष्टि, गन्धर्व और अप्सरा एक प्रकारकी, यक्षरक्ष एक प्रकारकी, भूत प्रेत पिशाच एक प्रकारकी, सिद्धचारण विद्याधर एक प्रकारकी और किंनरादि एक प्रकारकी—इस प्रकारसे देवसृष्टि आठ प्रकारकी कही गई है। इन आठ प्रकारकी दैवीसृष्टियोंमें देवता, ऋषि पितर और असुर—ये सृष्टियाँ प्रधान हैं। यही ब्रह्माण्डान्तर्गत चेतन-जडात्मिका दशविध सृष्टि है जिसके जीव चतुर्दशभुवनमय ब्रह्माण्डके भीतर निज निज कर्मानुसार पृथक् पृथक् स्थानमें रहकर नियति-चक्रमें मुक्ति-पर्यन्त परिभ्रमण करते रहते हैं।

महदादि मनुष्यान्त सृष्टिके क्रमके विषयमें विष्णुपुराणमें निम्नलिखित वर्णन प्राप्त होते हैं। यथा—

> सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा।
> अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः॥
> तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
> अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥
> पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान्।
> बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः॥
> मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम्।

तं दृष्ट्वा साधकं सर्गममन्यदपरं पुनः ॥
तस्याभिध्यायतः सर्गं तिर्यक्स्रोताभ्यवर्त्तत ।
यस्मात्तिर्यक्प्रवृत्तः स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः ॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः ।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥
अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्वधात्मकाः ॥
अन्तः प्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम् ॥

पूर्वकल्पकृत सृष्टिके विषयमें ब्रह्माके चिन्ता करते करते अबुद्धिपूर्वक तमोमोहादि पञ्चपर्वा सृष्टि प्रगट हुई। तदनन्तर सृष्टिके विषयमें ध्यान करते २ अज्ञानयुक्त, भीतर बाहर प्रकाशहीन, मूढस्वभाव स्थावरसृष्टि पञ्चधा प्रकट हुई। जीव-सृष्टिमें इसलिये स्थावर उद्भिज्जमयी सृष्टि ही मुख्य है। तदनन्तर इस सृष्टिको असम्पूर्ण जानकर ब्रह्माजीने पुनरपि ध्यान किया जिससे तिर्यक्-स्रोत स्वेदज, अण्डज तथा पश्वादिकी सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि तमः-प्रधान, ज्ञानलक्ष्य-शून्य, नियमित ऊर्द्ध्वपथगामी अज्ञानमें अभिमानयुक्त, अहंकृत, अभिमानी, अट्ठाईस प्रकारके वधसे युक्त और ऐसा होने पर भी अन्तःप्रकाश और परस्परावृत हैं अर्थात् मनुष्यके नीचेकी जितनी सृष्टि है उन सब जीवोंमें पञ्चकोशोंका पूर्णविकाश न होनेसे उनमें आत्माकी कलाका पूर्ण विकाश न होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें आत्माकी कला विद्यमान रहती है। यही अन्तः-प्रकाश शब्दका तात्पर्य है और परस्परावृत शब्दका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें जैसी स्वाधीनता (individuality) आजाती है वह भाव अन्य अन्य जीवोंमें नहीं है और अन्य सब जीवोंकी श्रेणियां एक एक देवता द्वारा चालित होनेसे आत्मसंघ (Group Soul) विशिष्ट हैं। यही परस्परावृतका तात्पर्य है।

तदनन्तर कौन सृष्टि हुई, इसके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है।

तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत्।
ऊर्द्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्द्ध्वमवर्त्तत॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृता।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्द्ध्वस्रोतोभवाः स्मृताः॥
तुष्टात्मनस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः।
तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम्।
असाधकाँस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान्॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतस्तु साधकम्॥
यस्मदर्वाक् प्रवर्त्तन्ते ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः।
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते॥

पश्वादि सृष्टिको भी असाधक जानकर पुनरपि ब्रह्माजीने ध्यान किया जिससे ऊर्द्ध्ववासी ऊर्द्ध्वस्रोता सात्त्विक सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि सुखप्रीतियुक्त बहिरन्तःप्रकाशक देव सृष्टि है जिससे ब्रह्माजी-को सन्तोष प्राप्त हुआ। तदनन्तर इन सभीको असाधक जानकर एक साधक-सृष्टिके लिये ब्रह्माजीने ध्यान किया। सत्याभिध्यान-शील ब्रह्माके ध्यान करनेपर अव्यक्तसे अर्वाक्स्रोत साधक मनुष्योंकी सृष्टि हुई। यह सृष्टि प्रकाशबहुल, तमोद्रिक्त, रजोधिक है। इस-लिये मनुष्यगण दुःख-मूल पुनः पुनः कर्मकारी, बहिरन्तःप्रकाश और साधक होते हैं।

असुर, देवता, पितर आदिके क्रमपर्यायके विषयमें पुनः विष्णु-पुराणमें लिखा है:—

कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः।

ख्यात्या तया ह्यनिर्मुक्ताः संहारे ह्युपसंहृताः ॥
स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः ।
ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तु ताः ॥
ततो देवासुरपितॄन् मानुषाँश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥
युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताभूत् प्रजापतेः ।
सिसृक्षोर्जघनात् पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥
उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् ।
सा तु त्यक्ता ततस्तेन मैत्रेयाभूद् विभावरी ॥
सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः ।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज ॥
त्यक्ता सा तु तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद्दिनम् ।
ततो हि बलिनो रात्रावसुरा देवता दिवा ॥
सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥
उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥
रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः ।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम ॥

जीव-समूह शुभाशुभ प्राक्तन कर्म द्वारा विजड़ित हैं इसलिये महाप्रलयके समय जीव-समूह प्रलय गर्भमें लवलीन होने पर भी प्राक्तन संस्कार जीवको परित्याग नहीं करता है। अतः सृष्टि-कालमें प्रलयविलीन इन्हीं संस्कारोंके अनुसार पितामह ब्रह्माजी सुरादि स्थावरान्त चतुर्विध प्रजाओंकी उत्पत्ति करते हैं। ये सभी सृष्टि मानसी सृष्टि है अर्थात् ब्रह्माके सङ्कल्प द्वारा ये सब सृष्टियाँ होती हैं, किसी प्रकार मैथुन-सम्बन्ध द्वारा नहीं। ऋषि-देवता,

असुर, पितर और मनुष्य-सृष्टिका क्रम यह है कि सिसृक्षु ब्रह्माके सृष्टिकार्यमें शरीरयोजना करनेके समय प्रथमतः तमोमात्राका उद्रेक हुआ इसी कारण ब्रह्माके जघनदेशसे प्रथमतः असुरगण उत्पन्न हुए। तदनन्तर उस तमोभावका परित्याग करनेसे, परित्यक्त वह तमोमात्रा रात्रि हो गई। पुनरपि सिसृक्षु ब्रह्माजीने अन्यदेहस्थ तथा सत्त्वभावमें भावित होकर प्रीति प्राप्त की इस कारण उनके मुखसे सत्त्वोद्रिक्त ऋषि और देवगण उत्पन्न हुए और उनके द्वारा परित्यक्त वह शरीर दिन हो गया। इसलिये असुरगण रात्रिमें और देवतागण दिनमें बलवान् होते हैं। अनन्तर ब्रह्माजीने सत्त्वमात्रमय अन्य शरीर ग्रहण किया जिससे उनके पार्श्व देशसे पितृगण उत्पन्न हुए। पितरोंकी सृष्टि करके उस तनुको त्याग करने पर परित्यक्त वह शरीर दिवा रात्रिके अन्तर्वर्त्ती सन्ध्या हो गयी। इसलिये पितृगण सन्ध्याकालमें बलशाली होते हैं। तदनन्तर ब्रह्माजीने रजोमात्रात्मक अन्य शरीर ग्रहण किया जिससे रजःप्रधान मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। परित्यक्त वह शरीर प्रातः काल हो गया। इसलिये मनुष्यगण प्रातःकालमें बलशाली होते हैं। इससे मनुष्य सृष्टिकी देवता-सृष्टिसे भी उन्नत दशा सिद्धि हुई क्योंकि मनुष्यसे ही देवता होते हैं और मुक्ति भी मनुष्ययोनिसे ही सम्भव है। यही देवासुर-मनुष्यादि-सृष्टिका शास्त्रोक्त क्रम है। वेदमें भी—

"तत्र कानीयसा देवा ज्यायसाश्चासुराः"

ऐसा वर्णन करके असुरको ज्येष्ठ और देवताको कनिष्ठ कहा है, सो पुराणोक्त सृष्टिके अनुकूल है। यही महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल पञ्चमहाभूत पर्यन्त जड़सृष्टि और स्थावर उद्भिज्जसे लेकर देवतादि क्रमसे मनुष्य पर्यन्त चेतनसृष्टिका यथाक्रम शास्त्रोक्त वर्णन है जिस पर विचार करनेसे मुमुक्षु साधकको सृष्टि-रहस्यका सम्यक् परिज्ञान हो सकता है।

ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी गति चक्रावर्त्तकी तरह होनेके कारण व्यष्टि-सृष्टिका प्रवाह नीचेसे ऊपरकी ओर अर्थात् तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर चलता है, परन्तु समष्टि-सृष्टिका प्रवाह ऊपरसे नीचेकी ओर अर्थात् सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर चलता है। इसलिये ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें सृष्टिके समय सत्त्वगुणमय सत्ययुग पहले आता है और क्रमशः रजोगुण और तमोगुणकी भी अभिव्यक्ति होकर सत्ययुगके बाद सत्त्वरजः प्रधान त्रेतायुग, तदनन्तर रजस्तमःप्रधान द्वापरयुग और तदनन्तर तमःप्रधान कलियुगका उदय होता है। इसी प्रकार चार युगों का चक्र लाखों वार चलता रहता है और ब्रह्माण्ड-प्रकृति भी धीरे धीरे गुण-परिणाम द्वारा सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर झुकती जाती है और अन्तमें तमोगुणका पूर्ण प्रभाव तथा रजःसत्त्वगुणकी पूर्ण अभिभूति हो जानेसे समस्त ब्रह्माण्डप्रकृति पर घोर तमोगुण परिव्याप्त हो जाता है जिससे समस्त ब्रह्माण्डमें महाप्रलयका उदय हो जाता है, यही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी चक्रावर्त्तगति है। इनसे यह सिद्धांत निश्चय होता है कि ब्रह्मांड-प्रकृतिमें प्रथमतः सत्त्वगुणका प्रकाश होनेसे सृष्टिकालमें प्रथम मानव पूर्णसत्त्वगुणमय होंगे और दैवजगत्‌में उससे ठीक विपरीत होगा क्योंकि ब्रह्मांडप्रकृतिकी गति नीचेकी ओर होनेसे उस गतिके सञ्चालक तामसिक-शक्ति असुर प्रथम उत्पन्न होंगे और तत्पश्चात् सत्त्वगुणके सञ्चालक देवतागण उत्पन्न होंगे। यही कारण है कि दैवसृष्टिमें प्रथम असुर और तत्पश्चात् देवता उत्पन्न होते हैं और मानव सृष्टिमें प्रथम पूर्ण पुरुष उत्पन्न होकर क्रमशः अधिकार तारतम्यानुसार सृष्टि प्रवाह नीचेकी ओर चलता है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्याँस्ततोऽसृजत्।
सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः॥

सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्द्ध्वरेतसः।
तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः॥
ते नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः।

परमात्माके ध्यानसे पवित्रचित्त ब्रह्माजीने मनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक चार पुत्र प्रथमतः उत्पन्न किये। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी प्रथम अभिव्यक्ति होनेसे ये चार पुत्र ऊर्द्ध्वरेता और कर्ममार्गमें पूर्ण अनासक्त थे। इसलिये इनसे ब्रह्माजीने जब प्रजासृष्टि करानेको चाहा तो इन्होंने अस्वीकार किया। वे मोक्षधर्मपरायण हो परमात्मामें रम गये। यह पूर्ण सात्त्विक प्रथम सृष्टि है। इसके बाद कौन सृष्टि हुई थी, इसके विषयमें भागवतमें लिखा है—

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्रा प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तान-हेतवः॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः।
प्राणाद् वशिष्ठः सञ्जाता भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥

परमात्माकी शक्तिसे युक्त होकर ब्रह्माजीने जब पुनरपि ध्यान किया तो प्रजावृद्धि-कर दश पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद हुए। ब्रह्माजीके अङ्कसे नारद हुए, अङ्गुष्ठसे दक्ष, प्राणसे वशिष्ठ, त्वक्से भृगु, करसे क्रतु, नाभिसे पुलह, कर्णसे पुलस्त्य, मुखसे अङ्गिरा, चक्षुसे अत्रि और मनसे मरीचि उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी गति निम्नाभिमुखिनी होनेसे इन दस मानस पुत्रोंकी इच्छा

सृष्टि करनेकी ओर हुई। ये पूर्वोक्त चार पुत्रोंकी तरह पूर्णनिष्काम नहीं हुए। इसलिये इनको प्रजापति कहते हैं। इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके द्वारा असृष्ट अनेक मानसी सृष्टि की। यथा मनुसंहितामें—

एते मनूँस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥

इस प्रकारसे दस प्रजापतियोंमें ब्रह्मांड-प्रकृतिके द्वितीय स्तरमें उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध सत्त्वगुण न होकर कुछ रजोगुणका भी सम्पर्क हुआ जिससे उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई। परन्तु परम तेजस्वी होनेके कारण उनको मैथुनी सृष्टि नहीं करनी पड़ी। उन्होंने मनके ही बलसे प्रलयविलीन जीवोंको प्राक्तन-कर्मानुसार त्रिविध-शरीर-युक्त करके यथादेश-काल संस्थापित कर दिया। उनके द्वारा ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें जो मानुषी सृष्टि हुई वह भी पूर्ण ब्राह्मणकी सृष्टि हुई; क्योंकि ब्रह्माण्डप्रकृतिके तृतीय स्तरमें भी सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश और रजोगुणका स्वल्प प्रकाश रहनेके कारण सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मणके लिये ही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका वह देशकाल अनुकूल था इसलिये उस सृष्टिमें ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए, जैसा कि महाभारतमें कहा है—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्"

प्रथम सृष्टिमें चातुर्वर्ण्यकी पृथक्ता नहीं थी, समस्त जगत् ब्राह्मणमय ही था। तदनन्तर ब्रह्माण्ड-प्रकृति जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई उतना ही उसमें रजोगुणका तथा तमोगुणका प्राधान्य और सत्त्वगुणका अप्राधान्य होता गया और तदनुसार एक ही सत्त्वप्रधान ब्राह्मणजातिके स्थानमें रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियजाति, रजस्तमः-प्रधान वैश्य-जाति और तमःप्रधान शूद्रजाति—इस तरहसे चार जातियाँ बन गईं, जिनका विवरण पहले ही सविस्तार कहा

जा चुका है। इस प्रकारसे एक वर्णसे कर्मवैचित्र्यके कारण चार वर्ण बनजाने पर भी उनमें वेद-विहित आर्यजातीय आचार बहुत वर्षोंतक बना रहा। पश्चात् प्रकृति जितनी जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई, उतनी उतनी इन चारों वर्णोंमें निज निज आचारके प्रति भी उपेक्षा होती गई जिससे आर्यभावविच्युत म्लेच्छभाव-प्राप्त अनेक जातियाँ इन चारोंमेंसे बन गईं और वे सब भिन्न भिन्न देशमें आकर हूण, दरद, खश, चीन आदि अनेक जातियां बन गईं। यथा महाभारतमें—

इत्यतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः॥
ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा॥
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः॥

ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें उत्पन्न ब्राह्मणगण क्रमशः हीन-वर्ण होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंमें विभक्त हो गये। तथापि इन चार वर्णोंके धर्मानुकूल आचार तथा यज्ञ-क्रियादि नष्ट नहीं हुई। वे अपने अपने अधिकारानुसार वैदिक क्रिया-कलापोंका अनुष्ठान करते रहे। परन्तु कुछ वर्षोंके बाद लोभके कारण उनमें भी बहुत अज्ञान फैल गया। उनमेंसे जो ब्राह्मणगण वेदानुसार व्रतनियमादिमें तत्पर रहे वे तो अपने वर्णमें स्थित रहे और जो पीछेसे कुछ लोग उत्पन्न हुए वे सब आचारभ्रष्ट,

वेदभ्रष्ट, नियमभ्रष्ट होनेके कारण अनेक प्रकारके अनार्य-जातीय बन गये। उन्हींकी पिशाच, राक्षस, म्लेच्छ आदि संज्ञा हुई। वे सब स्वच्छन्द आहार विहार करनेवाले, ज्ञान-विज्ञान-शून्य, परमात्मासे विमुख, इन्द्रिय-परतन्त्र, आधिभौतिक सुखको ही सर्वस्व मानने वाले अनार्य अथवा म्लेच्छ-जातिके लोग हैं। जो भारतवर्षसे बाहर भी जाकर पृथ्वीमें सर्वत्र निवास करने लगे। इस प्रकारसे ब्रह्माण्ड-प्रकृति कालानुसार परमात्माके ईक्षणसे स्पन्दन-शालिनी होकर प्रथमतः गुणस्पन्दन द्वारा महदादि महाभूतान्त स्थूल सूक्ष्म दृश्य संसाररूपमें परिणामको प्राप्त हो जाती है और तदनन्तर यथा-पूर्वकल्प ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य तथा मनुश्येतर जीवोंको प्रसव करके श्रीभगवान्की मधुर लीलाको प्रकट करती है। यही आर्य्य-शास्त्रानुसार समष्टि ब्रह्माण्डका सृष्टितत्त्व है।

आस्तिक सृष्टि प्रकरण जो हिंदुशास्त्रके अनुसार है और नास्तिक सृष्टि प्रकरण जो अन्य प्रकारके विद्वानोंका है, इस प्रकारसे दो मत कहे जा सकते हैं। आर्य्य शास्त्रके अनुसार जो सृष्टि प्रक-रणका वर्णन है जिसको हम आस्तिक सृष्टि प्रकरण कह कर वर्णन कर रहे हैं वह अभ्रान्त सत्यसे पूर्ण है ऐसा माननेके लिये प्रधान दार्शनिक युक्ति यह है कि नास्तिक सृष्टि प्रकरण मानने वाले चिंता-शील व्यक्तिगण कूपमण्डूककी नाईं इस क्षणभंगुर मृत्युलोकको सृष्टिका सब कुछ करके मानते हैं। वस्तुतः यह मृत्युलोक एक ब्रह्माण्डके चौदहवें हिस्सेका एक चौथा हिस्सा है अर्थात् जिस सृष्टि प्रकरण पर निर्भर करके वे अपने चिंताप्रवाहको प्रवाहित करते हैं यह केवल संपूर्ण सृष्टिका एक बटा छपनवाँ $\frac{1}{56}$ हिस्सा है। इसीसे प्रमाणित होगा कि उनकी कूपमण्डूकके समान विचार शक्तिकी परिधि कितनी क्षुद्र है। यही कारण है कि, वे आर्य्यशास्त्रोक्त अलौकिक भावसे पूर्ण ब्रह्मांड सृष्टिके महत्त्व और यथार्थ स्वरूपके समझनेमें

सर्वथा असमर्थ हैं। यदि वे चौदह भुवनोंका हाल जानते, यदि वे भूलोकके अन्तर्गत प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोकका कुछ भी स्वरूप हृदयङ्गम करनेमें समर्थ होते, यदि वे अनुमान कर सकते कि इस मृत्युलोकरूपी मनुष्य सृष्टिके अतिरिक्त दैवसृष्टि तथा आसुरी सृष्टिका चतुर्दश भुवनोंमें महान् विस्तार है, यदि वे कुछ भी जानते कि हमारा यह स्थूल मृत्युलोक यथार्थमें सूक्ष्म दैवलोक द्वारा चालित होता है। और यदि वे अनुमान करनेमें समर्थ होते कि देवता और पितृगणके द्वारा इस मृत्युलोककी सब सुव्यवस्था होती है और हम उनकी क्रिया कौशलके समझनेमें असमर्थ हैं तो कदापि वे नास्तिक सृष्टि प्रकरणके पक्षपाती नहीं होते। और अति सुगमताके साथ आर्य्यशास्त्रोक्त इस अलौकिक और अकाट्य दार्शनिक युक्तियोंसे पूर्ण सृष्टि प्रकरणके समझनेमें समर्थ होते। वस्तुतः पूर्वोक्त दैवी रहस्योंको भलीभाँति समझने पर हमारे पूर्वकथित मतमें किसी बुद्धिमान् व्यक्तिको सन्देह नहीं रह सकता है।

ब्रह्माण्ड सृष्टिके ऊपर लिखित वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि आदि मानव सृष्टिमें पूर्ण मानव ही उत्पन्न होते हैं। और पिंड सृष्टिमें भी जीव क्रमोन्नति करता हुआ जन्मान्तर क्रमके अनुसार असभ्यसे अनार्य्य और अनार्य्यसे आर्य्ययोनि तक पहुंच जाता है। अब विचार करनेकी बात यह है कि प्रथम सृष्टिमें उत्पन्न वह पूर्ण मानव तथा पिंडसृष्टिमें क्रमशः उन्नति करता हुआ आर्य्ययोनि प्राप्त वह मानव पृथ्वीके किस देशमें उत्पन्न हो सकते हैं। भारतवर्षकी प्रकृतिकी त्रिविध पूर्णताको वर्णन करते हुए यह पहले ही बताया गया है कि पूर्ण मानवकी उत्पत्ति पूर्ण प्रकृतिमें ही हो सकती है। अतः पूर्णपुरुष प्राचीन आर्य्यगण भारतके ही आदि निवासी हैं, अन्य देशसे नहीं आये थे यह सिद्धान्त सर्वथा विज्ञानसिद्ध तथा आर्यशास्त्रसम्मत है इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। भारतकी प्रकृति

पूर्ण है। इसलिये यहाँ पर अच्छे बुरे सभी प्रकारके जीव तथा मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं। किंतु अन्य देशोंकी प्रकृति अपूर्ण होनेसे वहाँ पर पूर्ण मानव उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। इसलिये व्यष्टि सृष्टिमें भी जीव उन्नति करता करता अनार्य्य भावको छोड़कर जब आर्य्यभाव-का संस्कार लाभ करेंगे तब उनकी उत्पत्ति भारतवर्षमें ही होगी, देशांतरमें नहीं होगी। और इसी दशामें पूर्ण ज्ञानको पाकर वह मोक्ष प्राप्त करेगा। यही सृष्टि तत्त्वका गूढ़ रहस्य है।

अब जब विचार तथा शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सिद्धान्त हो गया कि आर्य्यजातिका आदि वासस्थान भारतवर्ष ही हो सकता है, यह जाति और कहीं उत्पन्न होकर यहाँ नहीं आई है तो इसी सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित होकर नवीन ऐतिहासिक पुरुषोंकी कल्पनाओं पर विचार करनेसे सहज ही उनके मिथ्यात्वके विषयमें निश्चय हो जायगा। इसलिये अब उनकी युक्तियोंपर एक एक करके विचार किया जाता है। उनका पहला कहना यह है कि आर्यगण मध्य एशियामें कास्पियन हृदके किनारे पर बसते थे और पश्चात् वहींसे यहां आगये। इस प्रकार कल्पनाकी पुष्टिमें वे युक्ति देते हैं कि ऋगवेदमें मध्य एशियाके नद नदी तथा नगर ग्रामके नाम देखनेमें आते हैं, वहाँके लोग वेदमें वर्णित आर्योंकी तरह श्वेतवर्ण होते हैं और वहांके प्राचीन देवदेवियोंके नामके साथ आर्यशास्त्रोक्त देवदेवियोंके नाम मिलते हैं। थोड़े ही विचारसे सिद्ध होगा कि नवीन ऐतिहासिक पुरुषोंकी इस प्रकारकी युक्ति नितान्त सारहीन है। यदि वेदमें मध्य एशियाके नद-नदीके नाम देखनेसे ही आर्य्यगणका मध्य एशियामें रहना सिद्ध हो जाय तो वेदमें गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता आदि नद-नदियोंके नाम देखनेसे भारतवर्षमें रहना सिद्ध क्यों न होगा? पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि गङ्गा, यमुना आदि नदनदियोंके अनेक वर्णन वेदमें मिलते हैं। अतः नामको देखकर आदिवासस्थान निर्णय

करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। सामान्य दृष्टान्तसे ही समझ सकते हैं कि यदि अँग्रेजोंके किसी इतिहास या भूगोल ग्रन्थमें कामस्कट्-काके किसी शहरका नाम मिल जाय तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना होगा कि अँग्रेजोंके आदि पुरुष कामस्कट्कामें वास करते थे? यह सिद्धांत नितान्त हास्यजनक है। इससे यह सिद्धान्त ठीक होगा कि यहाँ-के लोग वहां जाकर अपना आधिपत्य विस्तार करते थे, इसलिये इन-के इतिहास और भूगोलमें उन देशके नाम आगये हैं। इसी दृष्टान्तके अनुसार वेदमें और देशोंके नाम देखकर आर्य्यजाति और देशकी थी, यहां आ गयी है, इस प्रकार सिद्धान्त करनेकी अपेक्षा ऐसा कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि आर्य्यजाति पूर्व कालमें पृथिवीकी अधीश्वरी थी और इसलिये उसका आधिपत्य-विस्तार पृथिवीके सर्वत्र था। आर्य्यगण सकल स्थानोंमें आया जाया करते थे और इसीलिये उनके ग्रंथोंमें पूर्वोक्त नाम पाये जाते हैं। आर्य्यजातिके अन्यान्य ग्रन्थोंमें और देशोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धान्त भले ही किया जाय परन्तु वेदमें मध्य एशियाके या और किसी प्रदेशके नदनदियोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धान्त कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि वेद यदि किसीके बनाये ग्रन्थ होते तो आर्यजातिके भिन्न देशोंमें जानेके साथ ही साथ उन देशोंके नाम या तत्रत्य नदनदियोंके नाम वेदमें आ गये हैं ऐसा कहना ठीक होता। परन्तु वेद ऐसा मनुष्यकृत ग्रंथ नहीं है। वेद ईश्वरकृत तथा ज्ञानरूप हैं। ऋषिलोग वेदके कर्त्ता नहीं किन्तु द्रष्टा मात्र हैं। इसलिये आर्यजाति वहीं पर जा बसी और वहाँकी बातें वेदमें लिख दी ऐसा नहीं हो सकता है। वेदमें मध्य एशियास्थित नदनदियोंके नाम अथवा गङ्गा, यमुना आदि भारतस्थित नदननियोंके नाम आनेका कारण यह है कि वेद ज्ञानरूप तथा पूर्ण ग्रंथ है। इसलिये संसार भरकी बातें तथा देशदेशान्तरोंके नाम उसमें आ जाते

हैं। जब प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अटल सिद्धान्त वेदमें पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है तो पृथिवीके सामान्य देश, ग्राम नगर या नदनदियोंके दो चार नाम बताना वेद जैसे पुस्तकके लिये क्या बड़ी बात है। वेदके त्रिकालदर्शी होनेसे इसमें अतीत, वर्त्त-मान या भविष्यत्में होने वाली सभी बातें या सभी देशदेशान्तरोंके नाम या घटनायें यथावत् लिखी जासकी हैं। यही कारण है कि वेदमें और देशके नदनदियोंके नाम पाये जाते हैं। मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य मनीषिगण सभी एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि वेद ही समस्त पृथ्वीका आदि ग्रन्थ है, और यह भी सभीने स्वीकार किया है कि भारतवर्ष ही वेदका आदि विकाश स्थान है। अतः सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद जब भारतका आदि ग्रंथ है तो वैदिक आर्य्यजातिकी आदि वासभूमि भारतवर्ष ही होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है? आर्य्यगण श्वेताङ्ग पुरुष थे, भारतवर्षमें श्वेताङ्ग पुरुष नहीं मिलते हैं, काकेशियामें मिलते हैं,इस-लिये आर्यगण काकेशियासे आये हुए हैं। इस प्रकार युक्ति जो लोग देते हैं उन्होंने सर्वत्र परिभ्रमण करके पुरुषोंको देखा नहीं होगा या यथार्थमें श्वेतवर्ण कैसा होता है इसका उन्हें परिज्ञान नहीं होगा। आर्यशास्त्रोंमें ब्राह्मणोंका वर्ण श्वेत लिखा है सो हिमाचल और विन्ध्याचलके बीचमें और पश्चिम तथा पूर्व समुद्रके बीचमें जो आर्य्यब्राह्मण रहते हैं उनका वर्ण आज भी बहुधा श्वेत ही है, अन्य वर्ण नहीं है। और जहाँ कुछ विशेष अन्यथा है वहां कालके प्रकोपसे परम्परागत धर्मके ही परिवर्त्तनका फल है, इससे वैदिक सिद्धान्तमें कोई भी विरोध नहीं पड़ता है। और काकेशिया तथा पाश्चात्य देशके मनुष्योंके वर्णके विषयमें जो कहा जाता है सो वर्ण-विज्ञानके अभाव-का ही परिचायक है। क्योंकि सिवाय भारतके अन्य देशोंके लोग यथार्थ श्वेतवर्ण नहीं होते किन्तु विकृत श्वेतवर्ण हुआ करते हैं।

उनका रंग देखनेसे सभी लोग ऐसा कहेंगे। इससे यह भी युक्ति अकिञ्चित्कर प्रतीत होती है। तृतीयतः देव देवी अथवा भाषागत शब्दोंके नामका मेल देखकर जो लोग मध्यएशियामें आर्यजातिका वासस्थान निर्देश करना चाहते हैं अथवा संस्कृत भाषाके साथ जर्मन भाषाका कहीं कहीं सादृश्य देखकर पोलण्ड या स्काण्डिनेवियामें आर्योंका आदि वासस्थान बताना चाहते हैं उनकी युक्ति भी ऐसी ही मिथ्या है। कोई जाति जब एक देशसे जाकर और किसी देशमें अधिकार विस्तार करती है तो इससे उस जातिके देशका गौरव तथा स्मृतिचिन्ह लुप्त नहीं होता है। अधिकन्तु इस प्रकार अधिकार विस्तारके द्वारा अपने देशका गौरव बढ़ता ही है।

इसी प्रकार जब भारतवर्षमें वेदसे लेकर समस्त विषयोंमें आर्य्य जातिका गौरव परिस्फुट है और अन्य देशोंमें केवल दोचार नामोंका उल्लेख पाया जाता है तो यह सिद्धांत करना युक्तियुक्त होगा कि आर्य्यगण और किसी देशसे नहीं आये थे। भारत ही आर्योंका आदि वासस्थान है जहाँ पर इनकी गौरवपताका फहरा रही है। और इसी देशसे पृथ्वीकी अधीश्वर आर्य्यजाति विजयपताका फहराती हुई पृथ्वीमें जहां जहां पर गई थी, वहां अब विजयपताका नष्ट होनेसे केवल आर्य्यभाषाके कुछ शब्द तथा देव देवियोंके नामका मेल ही रह गया है, जिससे आदि वासस्थानके विषयमें इतने संदेह उत्पन्न हो रहे हैं। विदेशमें अधिकार विस्तार होनेसे स्वदेशका गौरव-निदर्शन बढ़ता ही है, घटता नहीं। सृष्टिके आदिकालसे वसुन्धराके विशाल वक्षमें विराजमान पृथ्वीपति आर्यजातिके विषयमें ऐसा ही हुआ है, जिससे भारतमें जगद्गुरु आर्यजातिका गौरव प्रतिष्ठित है और अन्य देशोंमें प्राचीन अधिकार विस्तारके स्मृतिचिह्न आज भी विद्यमान हैं। अतः नवीन पुरुषोंकी कल्पना सर्वथा भ्रमयुक्त है इसमें संदेह नहीं।

पहले ही कहा गया है कि 'ऋ' धातुका अर्थ गमन या व्याप्ति होनेसे जिसने पृथ्वीमें सर्वत्र गमन करके अपना अधिकार विस्तार किया था वही आर्य्यजाति है ऐसा सिद्धांत सुनिश्चित होता है। आर्यजातिके प्राचीन इतिहास पर मनन करने पर भी उपर्युक्त विषयोंका पता लगता है। शास्त्रमें लिखा है कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रतने पृथ्वीको सप्तद्वीपमें विभक्त किया था। यथाः— जम्बु, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शाक, शाल्मली तथा कुश। इन्हीं सप्त-द्वीपोंके अन्तर्गत आजकलके एशिया, युरोप आदि महादेश हैं। राजा प्रियव्रतने इन्हीं सप्तद्वीपोंको अपने पुत्रोंके लिये विभक्त कर दिया था। अतः आर्य्यशास्त्रके अनुसार प्राचीनकालमें ये ही सप्तद्वीप आर्य राजाओंके अधिकारभुक्त थे, आर्य इतिहाससे यही सिद्धांत निकलता है। प्रसिद्ध प्रत्नतत्त्वविन् पण्डित ब्रुगस्वे साहबने कहा है कि अति प्राचीन कालमें सुयेज क्यानल पार होकर आर्यजातिके एक दलने नील नदके तीर पर उपनिवेश स्थापन किया था। कर्नल अलकाट साहबने कहा है कि भारतवर्षसे ही आर्यगणने मिशर (Egypt) देशमें जाकर अपनी सभ्यता तथा शिल्पकलाका विस्तार किया था। कुरुक्षेत्रके युद्धके पहले पाण्डवोंने दिग्विजय करते हुए जिन जिन देशोंपर अधिकार स्थापन किया था महा-भारतके सभापर्वमें उन सभोंका वर्णन है। प्रथम यात्रामें चीन, तिब्बत, मङ्गोलिया, पारस्य आदि देश और द्वितीय यात्रामें अरब, मिश्र आदि देशोंपर अपनी विजय पताका पाण्डवोंने फहराई थी। सगर राजाने भी दिग्विजयके लिये वहिर्गत होकर भारत महासमुद्र स्थित समस्त द्वीपोंपर अधिकार जमाया था, यह वृत्तांत महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है। यहाँ तक कि उत्तरमेरु देशमें भी आर्योंका जाना आना था। महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाने कुंतीको उत्तर मेरुमें स्त्री जातिकी अवस्थाके विषयमें बताया है कि

उस देशकी स्त्रियाँ नग्न रहती हैं इत्यादि । इसके सिवाय ऋग्वेदमें भी सुदास या भुज्यु राजाके दिग्विजयका वृत्तांत लिखा है । अतः वेद आदि हिंदुशास्त्र तथा पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धांतानुसार निश्चय हो गया कि आर्यराजागण पृथ्वीके सर्वत्र ही विचरण तथा राज्यस्थापन करते थे । जहां जहां उनका अधिकार विस्तार होता था वहांके लोगोंमें उनका प्रभाव अवश्य ही जमता था और उस देशकी भाषामें भी आर्यभाषाके शब्द आजाया करते थे । क्योंकि जेता जातिके साथ विजित जातिका इस प्रकार भाषा तथा भावका संबन्ध होना स्वाभाविक है । आजकल भारत पर अंग्रेज जातिका अधिकार है जिससे यहांकी भाषा तथा जातिगत भावके ऊपर आंग्ल भाषा तथा भावका बहुत ही प्रभाव पड़ गया है । उसी प्रकार प्राचीन कालमें आर्यजातिकी भाषाका और भावका बहुत ही प्रभाव पृथ्वीकी अन्यान्य जातियों पर था । अब कालचक्रकी विपरीत गतिके कारण आर्यजातिका वह प्रभाव नष्ट हो गया है । इसलिये उन देशोंमें इनका अधिकार भी विलुप्त हो गया है । केवल स्मृति-रूपसे भाषा आदिका कहीं कहीं सादृश्य देखनेमें आता है । यही कारण है कि मध्य येशिया पोलण्ड आदि प्रदेशोंमें आर्यभाषाके शब्द, नाम और देव देवियोंकी संज्ञाएं देखनेमें आती हैं । आर्यजातिके प्राचीनत्वके विषयमें यही सत्य सिद्धांत है जिसको बुद्धिमान् लोग विचारके द्वारा निर्णय कर सकते हैं ।

संस्कृत भाषाके साथ जर्मन, स्कांडिनेविया, पोलन्ड आदि देशोंकी भाषाका सादृश्य और भी निम्नलिखित दो कारणोंसे हो सकता है । जिस समय पृथ्वीके अधीश्वर आर्यराजागण सर्वत्र अपना अधिकार विस्तार करके सर्वत्र ही वास करते थे, उस समयसे क्रमशः उनमेंसे बहुत लोग उन देशोंमें अपना स्थायी वासस्थान बनाने लगे । पश्चात् जब आर्य जातिका गौरव पृथ्वीके अन्यान्य

प्रांतोंमें नष्ट होकर केवल भारत भरमें ही रह गया तब जो लोग अन्यान्य देशोंमें बस गये थे उनका सम्बन्ध आर्य्यजातिके साथ नष्ट हो गया। वे सब उधर ही रहकर धीरे २ अपने आर्य्यजातीय आचार व्यवहारसे गिर गये और अन्यजाति कहलाने लगे। परन्तु उनकी भाषा आर्य्यभाषा होनेके कारण यद्यपि नवीन भाव और जीवनके साथ उसमें कुछ परिवर्त्तन हो गया तथापि पूर्ण परिवर्त्तन नहीं हो सका। यही कारण है कि भारतके सिवाय अन्यान्य देशोंकी भाषाओंमें भी संस्कृत भाषाके साथ सादृश्य देखनेमें आता है। इस प्रकार क्रियालोपसे भिन्नजाति बननेके विषयमें मनुजीने भी कहा है:—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पन्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपाज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

उपनयन आदि क्रियालोप और वेदाध्ययनाध्यापनके अभावसे नीचे लिखी हुई जातिओंने क्रमशः शूद्रत्व प्राप्त किया है। यथा पौंड्रक, औंड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पन्हव, चीन, किरात, दरद और खश। ब्राह्मणादि चार वर्णोंके बीचमेंसे क्रियालोपके कारण जो लोग बहिस्कृत होकर बाह्यजाति कहलाते हैं वे आर्यभाषा बोलें या म्लेच्छभाषा बोलें इनकी गणना दस्युओंमें होती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मोक्त क्रियालोप होनेके कारण प्राचीन आर्य्य जातिओंमेंसे बहुत जातियाँ बन गई हैं और पृथिवीके देश देशमें उनका वासस्थान हुआ है। महाभारतमें वर्णित है कि राजा ययातिने अपने कई पुत्रोंको भारतवर्षसे निर्वासित किया था और राजा

सगरने भी अपनी प्रजाओंमेंसे बहुत लोगोंको भारतवर्षसे निकाल दिया था। ऋगवेदमें सुदास राजाके विषयमें भी ऐसी बातें देखनेमें आती हैं कि उन्होंने अपने राज्यस्थ अनेक विद्रोही मनुष्योंको पराहत करके राज्यसे निकाल दिया था। इस प्रकार और पूर्वोक्त अनेक प्रकारसे भारतवर्षसे आर्यगण अफ्रिका, यूरोप तथा अमेरिकाके अनेक स्थानोंमें जा बसे हैं। कालक्रमसे उनके आचार व्यवहार तथा प्रकृति अन्यरूप हो जानेपर भी बहुतसी बातें अब भी मिलती हैं और भाषाका मेल भी इसी कारण पाया जाता है। संस्कृत भाषासे लाटिन्, ग्रीक्, जर्मन् आदि भाषाओंका मेल होनेका द्वितीय कारण संस्कृत भाषाकी मौलिकता है। संस्कृत भाषा और देशोंकी भाषाओं-की तरह अस्वाभाविक रूपसे बनी हुई भाषा नहीं है। संस्कृत भाषा प्रकृतिस्पन्दसे उत्पन्न प्राकृतिक नादोंसे बनी हुई भाषा है। प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा प्रलयान्तमें जब सृष्टि होने लगती है उस समयका प्रथम स्पन्दनजनित शब्द ॐ है। इसलिये ॐ ही सकल शब्दोंके मूलरूपसे आर्यशास्त्रोंमें माना जाता है। और इसके पश्चात् उसी मूल शब्दसे प्रकृति-विकारसे उत्पन्न अनन्त स्पन्दन द्वारा अनन्त शब्दोंकी सृष्टि हुई है। उन्हीं प्राकृतिक शब्दोंकी समष्टि संस्कृत भाषा है और अन्य देशीय समस्त भाषाएँ इसी प्रकृतिकी विकृतिसे उत्पन्न हुई हैं। जब विकृति प्रकृतिमूलक है और उसी प्रकृतिसे संस्कृत भाषा बनी है तब विकृतिसे उत्पन्न समस्त भाषाओंके मूलमें संस्कृत भाषा ही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। यही कारण है कि संसारकी समस्त भाषाओंके मूलमें (Root) संस्कृत भाषा देखनेमें आती है जर्मन आदि भाषाओंके साथ संस्कृतका मेल रहनेके येही सब कारण हैं। आर्यजातिका पोलण्ड आदि स्थानोंसे भारतमें आना इसका कारण नहीं है।

वेदमें दीर्घकालव्यापी रात्रि और दिन तथा शैत्याधिक्यका

वर्णन है । इस कारण आर्यगण उत्तरमेरुमें वास करते थे, इस प्रकार जो लोग कल्पना करते हैं उनकी भी कल्पना उपर्युक्त कारणोंसे कपोलकल्पनामात्र प्रतीत होती है। वेद पूर्ण तथा भगवद्वाक्य होनेसे उसमें संसारकी सभी बातें रहेंगी इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ? अतः वेदमें इन बातोंके देखते ही इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं प्रतीत होता । वेदकी बात ही क्या, जब महाभारतके वनपर्वमें पाण्डु राजाकी कुन्तीके प्रति जो उक्ति है, उसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि महाभारत जैसे इतिहासमें भी उत्तर मेरुका वर्णन है, जिससे आर्यगण उत्तर मेरुमें भी जाया आया करते थे ऐसा निश्चय होता है, तो भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानको नेत्रके सामने धरनेवाले वेदमें उत्तर मेरुका वर्णन है इसमें असम्भावना ही क्या हो सकती है ? पारसी जातिके जेन्दा आभेस्ता ग्रन्थमें आर्यगणका स्वर्ग उत्तर मेरु है ऐसा जो वर्णन पाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रमात्मक है । हिन्दुशास्त्रोंमें स्वर्गको अनन्त सुखका स्थान कहा है यथाः—

"सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा" ।

"यन्न दुःखेन संभिन्नम्" ।

इस प्रकारसे स्वर्गलोक अतीव आनन्दमय है, वहाँ दुःखका लेशमात्र नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है । परन्तु जहाँ छः छः महीने तक सूर्य्यका मुख देखनेमें न आवे और मारे ठण्डके प्राण निकल जाय वह स्थान उपर्युक्त लक्षणयुक्त स्वर्ग कैसे हो सकता है सो बुद्धिमान् लोग सोच सकते हैं । स्वर्गलोक ऊर्द्ध्वलोक होनेसे वहाँ प्रकाशका अधिक होना शास्त्र तथा विज्ञान-सिद्ध है । अतः स्वर्गमें छः महीने दिन और छः महीने रात्रि नहीं हो सकती है और पृथ्वीकी गति जानने वाले लोग जानते हैं कि विषुव रेखाके उपरिस्थित तथा निकटवर्त्ती देशोंमें ही सूर्य्यरश्मि अधिक पड़ती है । इससे उत्तरकी तरफके

देशोंमें उत्ताप कम होनेसे शीत अधिक होता है। इसलिये उत्तरमेरुमें शीतका अधिकता होना प्राकृतिक है। वहाँ पर कभी चिरवसन्त बिराजमान था और संसारके श्रेष्ठ पुरुष आर्यगण वहाँ रहते थे, पश्चात् शीत अधिक होनेसे वहाँसे भागे, ऐसा सिद्धान्त न भूगोल विद्या ही कह सकती है और न हिन्दु शास्त्रमें ही स्वर्गका ऐसा लक्षण पाया जाता है। यदि स्वर्गकी ऐसी दुर्दशा हो तो इतनी तपस्या और यज्ञ करके स्वर्गकी कामना कौन करेगा और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भी:—

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।

इस प्रकारसे स्वर्गकी महिमा ही क्यों वर्णन करेंगे? अतः इस प्रकारकी कल्पना सर्वथा भ्रमयुक्त है। चतुर्दशभुवन और स्वर्गादि लोकोंका रहस्य अतिसूक्ष्म विज्ञानसे युक्त है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावोंको जो नहीं समझते वे लोग इस विषयको नहीं समझ सकेंगे। जब वेदके वर्णनानुसार उत्तरमेरुकी दशा जो पहले थी, अब भी वही है तो आर्यगण वहाँसे यहाँ क्यों आये? पहले वहाँ पर शीत कम था, बीचमें कुछ बढ़ गया और आजकल फिर पहलेकी तरह हो गया ऐसा कहना सत्य तथा वेदवर्णनसङ्गत नहीं है। और कभी ऐसा हो भी तथापि इससे आर्य्यगण वहां रहते थे ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वेदमें भी केवल शैत्याधिक्यका वर्णन नहीं है। वेदमें जिस प्रकार शीतका वर्णन है उसी प्रकार हेमन्त, शरत्, ग्रीष्म आदिका भी वर्णन है। 'स जीव शरदः शतम्' आदि वैदिक प्रमाण प्रत्यक्ष ही है। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलमें शरद्ऋतुका, षष्ठ और पञ्चम मण्डलमें हेमन्त ऋतुका, दशम मण्डलमें ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतुका और अनेक स्थानोंमें शीत ऋतुका वर्णन देखनेमें आता है। यदि वेदमें शीतका वर्णन देखते ही शीतप्रधान उत्तर मेरु आर्यजातिका आदि वासस्थान था ऐसा

सिद्धांत करना हो तो वेदमें शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंका वर्णन देखनेसे जिन जिन स्थानोंमें ऐसे ऋतु प्रधान हैं वहां पर भी आर्यजाति प्राचीन कालमें वास करती थी और वहांसे यहां आगई ऐसा कहना पड़ेगा। इस प्रकारकी कल्पनाका फल यह होगा कि आर्यजातिके आदि वासस्थानके विषयमें कुछ निर्णय ही नहीं हो सकेगा। यदि वेदमें वर्णित ऋतुके विचारसे ही आर्य जातिका आदि वासस्थान निर्णय करना हो तो धीरमस्तिष्क हो कर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि जब वेदमें सभी ऋतुओंका वर्णन देखनेमें आता है तो जहांपर सभी ऋतु भ्रातृभावसे विराजमान हैं, पूर्णप्रकृतियुक्त वही देश पूर्णप्रकृति आर्य्यगणोंका आदि वासस्थान है। और ऐसा सकल ऋतुओंसे युक्त पूर्णप्रकृतिशाली भारत ही है, अन्य देश नहीं हो सकता। अतः विचार, शास्त्रीय प्रमाण, इतिहास, भूगोलादि सभीके अवलम्बनसे सिद्धांत हुआ कि भारतवर्ष ही आर्य्यजातिका आदि वासस्थान है।

इसके सिवाय कुछ नवीन पुरुषोंने जो तिब्बतसे आदिसृष्टि मानी है सो प्रमाण तथा विचारोंसे हीन होनेके कारण सर्वथा मिथ्या है। तिब्बत शीतप्रधान स्थान है। वहां छओं ऋतुओंका विकाश न होनेसे वह भूमि पूर्ण प्रकृतियुक्त नहीं है। अतः पूर्व कहे हुए विज्ञानके अनुसार अपूर्ण प्रकृतियुक्त स्थान तिब्बतमें पूर्ण प्रकृतियुक्त आर्यगण प्रथम उत्पन्न ही नहीं हो सकते। मध्यएसिया आदिसे आनेके विषयमें जो कुछ युक्ति कोई कोई लोग देते हैं, तिब्बतके लिये ऐसी भी कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। अतः प्रमाण तथा युक्तिसे हीन होनेके कारण यह कल्पना सर्वथा परित्याज्य है और तिब्बत शब्दको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गका अपभ्रंश कह कर स्वर्गसे देवप्रतिम आर्योंकी उत्पत्ति बताना भी भ्रमयुक्त ही है क्योंकि पूर्वसिद्धान्तानुसार आर्यगण ही आदि सृष्टिमें उत्पन्न होनेसे त्रिविष्टप

अर्थात् स्वर्गसे आदि सृष्टि मानना विज्ञान तथा शास्त्र सङ्गत नहीं है।
मनुसंहितामें लिखा है:—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च शाश्वतम्।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च निर्ममे॥

भगवान् ब्रह्माजीने सकल सृष्टिके आधाररूप अण्डमें एक वर्ष तक रह कर उसे ध्यानबलके द्वारा द्विधा विभक्त किया। उसके ऊपरके खण्डसे स्वर्ग आदि लोक और नीचेके खण्डसे पृथिवी आदि लोकोंकी उत्पत्ति की। इस प्रकार सृष्टिके प्राक्कालमें स्वर्गादि लोक और पृथिव्यादि लोक उत्पन्न होनेके बाद स्वर्गादिमें दिव्य सृष्टि और पृथिव्यादिमें मनुष्य सृष्टि प्रारम्भ होती है। और उसी मनुष्य सृष्टिमें पूर्ण मानव आर्य ऋषिगण हैं; जिसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। अतः तिब्बतको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग कह कर वहांसे मनुष्य सृष्टिका वर्णन करना मिथ्या कपोल कल्पना मात्र है, शास्त्र सङ्गत नहीं है। अन्ततः नवीन ऐतिहासिक पुरुषोंका सकल कल्पना-जाल छिन्न होकर यह सिद्धान्त प्रकट हुआ कि आर्य्य-जातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही है।

इसी कारण प्रसिद्ध पण्डित मुयर साहबने अपने संस्कृत टेक्सट् * नामक ग्रन्थमें कहा है—"आर्यगण कभी पश्चिमदेशसे इस देशमें

* They could not have entered from the west, because it is clear that the people who lived in that direction were descended from these very Aryans of India, nor could Aryans have entered India from the north or north west, because we have no proof from history or philosophy that there existed any civilized nation with a language and religion resembling

नहीं आये हैं, किन्तु आर्य्यगणके वंशसे ही पश्चिम देशकी अनेक सभ्यजाति उत्पन्न हुई थी, उत्तर या उत्तर पश्चिम देशसे भी आर्य-गण भारतमें नहीं आये हैं; क्योंकि प्राचीनकालमें पश्चिममें कोई सभ्यजाति रहती थी जिससे आर्यगणकी सभ्यता तथा धर्मकी उत्पत्ति हुई है ऐसा प्रकरण भाषातत्त्वके इतिहासमें कहीं नहीं मिलता है। किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थमें प्रमाण नहीं मिलता है कि विदेशीय किसी जातिसे प्राचीन आर्यगण उत्पन्न हुए हैं अथवा भारतके सिवाय और कहीं आर्योंका निवास था।"

वेदमें 'प्रत्नौक' (प्राचीन वासस्थान) आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको देखकर लोग सन्देह करते हैं; किन्तु सामान्य भाष्योंमें उन शब्दोंका अर्थ देखने पर भ्रम दूर हो जाता है। वेदमें अनेक स्थानपर अधिदैव भावमें इस प्रकार शब्दोंका प्रयोग हुआ है और कहीं कहीं आर्यमहर्षियोंकी तपोभूमि हिमालय प्रान्तको लक्ष्य करके ऐसे शब्द कहे गये हैं। यही नवीन भारतमें आर्यजातिके आदि वासस्थानके विषयमें विविध मतभेद तथा प्रवीणदृष्टिके अनुसार सिद्धान्तनिरूपण है।

उन्नतिका आदर्श-निरूपण।

(१)

आर्य्यजातिके लिये परम सौभाग्यका समय आया हुआ है कि आज कल प्रत्येक आर्य्य सन्तानके हृदयमें अपनी तथा अपनी जातिकी सर्वाङ्गीण उन्नतिकी चिन्ता सदैव हो रही है और अपने अपने अधिकारके अनुसार सभी लोग जातीय उन्नतिके लिये

पुरुषार्थ करनेमें भी प्रवृत्त हो रहे हैं। विना लक्ष्य निर्णय किये पुरुषार्थ विपथगामी हो सकता है, इस कारण जातीय उन्नतिके लिये पुरुषार्थ करनेसे पहले आर्य्यजातिका स्वरूप, जातिगत मौलिकता तथा यथार्थ उन्नतिका आदर्श निर्णय करना अवश्य कर्त्तव्य है। आर्य्यजातिकी यथार्थ उन्नति किस प्रकारसे हो सकती है इस विषयमें जितने मतवाद नवीन भारतमें चल रहे हैं उन सबको प्रधानतः दो भागमें विभक्त कर सकते हैं। एक मतवाद यह है कि प्राचीन महर्षिगण आर्य्यशास्त्रमें जो कुछ धर्मानुशासन बता गये हैं चाहे देशकालपात्र कैसा ही हो, उन्हीं धर्मानुशासनोंका पूर्वयुगोंकी तरह पूर्णरूपसे प्रतिपालन होना चाहिये, उसमें वर्त्तमान देश काल तथा पात्रके अधिकार पर विचार करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वे सब धर्मानुशासन सकल अवस्थामें ही हमारे कल्याणकारक हैं। दूसरा मतवाद यह है कि प्राचीन महर्षियोंके अनुशासन अत्यन्त प्राचीन तथा नवीन सभ्यताके प्रतिकूल होनेके कारण एकबार ही परित्याज्य हैं, उनसे वर्त्तमान देश कालमें हमारी अवनतिके सिवाय उन्नति कदापि नहीं हो सकती है और देश तथा जातिकी उन्नतिके विचारसे तो वे सब अनुशासन बहुत ही हानिजनक हैं। इस लिये प्राचीन समस्त रीतिनीतियोंको तोड़कर नवीन भारतके उपयोगी पश्चिमी सभ्यताके आदर्श पर जब तक आर्य्यजातिकी सामाजिक, व्यावहारिक तथा राजनैतिक व्यवस्था न बाँधी जायगी तब तक वर्त्तमान देश कालमें आर्य्यजातिकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती है। इन दोनों परस्पर विरुद्ध मतवादके तीव्र संघर्षसे वर्त्तमान सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र बहुत ही डावांडोल हो रहा है और इसका प्रबल प्रतिघात आर्य्यजातिके हृदयको सदा ही विकम्पित कर रहा है, इस लिये नवीन भारतके ऊपर कथित दोनों मतवादोंके सत्यासत्य पर विचार करते हुए

प्रवीण महर्षियोंके आज्ञानुसार उनका यथा सम्भव देशकालानुसार सामञ्जस्य किया जाता है।

प्रथम मतवादके विषयमें वक्तव्य यह है कि युगानुसार देश काल तथा मनुष्य प्रकृति पर विचार न करके अन्य युगोंमें प्रवर्त्तित अनुशासनोंका जैसा का तैसा इस कलियुगमें भी विधान करना, जब कि धर्मके ४ पादोंमेंसे एक ही पाद रह गया है, विचार, दूरदर्शिता तथा पूज्यपाद महर्षियोंके गम्भीर सिद्धान्तोंका भी अनुकूल नहीं है। जिस युगमें धर्मका जितना पाद अवशिष्ट रहता है, युगोत्पन्न मनुष्यकी प्रकृति भी उसीके अनुकूल होती है, इसी कारण मनुष्यकी प्रकृति तथा अधिकार पर विचार करके ही ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षिगण भिन्न भिन्न युगोंके लिये भिन्न भिन्न प्रकार धर्मानुशासन तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विधान कर गये हैं। पृथक् पृथक् अनेक स्मृतियाँ तथा उनमें पृथक् पृथक् विधि व्यवस्था विधानके मूलमें भी यही गूढ़ तथ्य निहित है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि कन्याके विवाहकालके विषयमें "रजोदर्शनसे पहले विवाह होना चाहिये" इस सिद्धान्त पर कोई मतभेद न होने पर भी आयुके विषयमें ऋषियोंने भिन्न भिन्न स्मृतियोंमें अनेक मतभेद बताये हैं इसका कारण युगधर्म ही है; क्योंकि सत्त्वगुणप्रधान सत्ययुगमें जितनी उमरमें स्त्रीशरीरके विवाहयोग्य होनेकी स्वाभाविक सम्भावना हो सकती है, तमःप्रधान तथा कामप्रधान कलियुगमें अवश्य ही उससे कम उमरमें ऐसी सम्भावना होनी निश्चय है, इसी लिये कलियुगके उपयोगी पाराशरादि स्मृतियोंमें अपेक्षाकृत कम उमरमें कन्याके विवाहको करा देनेकी आज्ञा की गई है। इसी प्रकार धर्मके अनेक अङ्ग प्रत्यङ्ग होने पर भी किस अङ्गके द्वारा किस युगमें कल्याणलाभ हो सकता है इसके विषयमें भी श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

सत्ययुगमें धर्मका तपारूपी अङ्ग ही प्रधान कल्याणदायक है, त्रेतायुगमें ज्ञानरूपी अङ्ग प्रधान कल्याणप्रद है, द्वापरयुगमें यज्ञ और कलियुगमें दान ही प्रधान अवलम्बनीय है। श्रीभगवान् मनुके इस प्रकार युग धर्म निर्णयके मूलमें ऊपर कथित जीव प्रकृति तथा जीवाधिकार पर ही विचार किया गया है। तपस्यामें सफलतालाभ करनेके लिये स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंके ही सबल तथा द्वन्द्वसहिष्णु होनेकी आवश्यकता है। सत्ययुगमें मनुष्य विशेष धार्मिक थे, उस समय गर्भाधान संस्कार भी पूरा था, इस लिये पिता माता धर्म-भावसे प्रेरित होकर ही धार्मिक सन्तति उत्पन्न करते थे; इस प्रकार धार्मिक सन्ततिके स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर द्वन्द्वसहिष्णु तथा तपस्याके अनुकूल होते थे; इसी कारण सत्ययुगमें तपोधर्म चल सकता था और उसके द्वारा सिद्धिलाभ हुआ करता था। कलि-युगमें लोग बहुधा अधार्मिक तथा विषयी हो गये हैं, गर्भाधान संस्कार नष्टप्राय है, पिता माता काममुग्ध होकर कामजसन्तति उत्पन्न करते हैं, उनके कामज शरीर निम्नाधिकारके होनेसे तपस्याके अनुकूल नहीं होते इसी कारण कलियुगमें श्रीभगवान् मनुजीने तपोधर्मकी प्रधानता नहीं बताई है। इस प्रकारसे त्रेता-युगमें जो ज्ञानधर्मको मुख्य और कलियुगमें उसका निषेध किया गया है उसका भी यही कारण है कि विना आधाररूपी सात्त्विक शरीर तथा सात्त्विक मन बुद्धिके प्राप्त किये उसमें यथार्थ ज्ञानका विकाश नहीं हो सकता। त्रेतायुगमें ऐसा सात्त्विक आधार था किन्तु कलियुगमें विरल ही ऐसा आधार देखनेमें आता है। इसी कारण त्रेतायुगके लिये ज्ञानकी मुख्यता और कलियुगके लिये उसकी गौणता बताई गई है। इसी प्रकार द्वापर युगके लिये यज्ञधर्मकी

मुख्यता और कलियुगमें उसकी गौणता बताई गई है। यज्ञमें ईप्सित फललाभके लिये द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि, तथा मन्त्रशुद्धिकी आवश्यकता होती है। इसके विना यज्ञमें सुफल प्राप्ति नहीं होती है और कहीं कहीं कुफलका भी उदय हो जाता है। द्रव्यशुद्धिमें यज्ञीय घृत आदि हवन सामग्रियोंको समझना चाहिये, सो इस समय शुद्ध घृतादि मिलना ही दुर्लभ है अतः द्रव्यशुद्धि कलियुगमें होना बहुत ही कठिन है। मन्त्रशुद्धिके विषयमें आर्यशास्त्रमें लिखा है कि यज्ञमें वैदिक मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण न होनेसे वह मन्त्र यज्ञमें सिद्धि न देकर वज्रकी तरह यजमानका हनन करता है, यथा-महाभाष्यमें—

> मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
> मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
> यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

वैदिक मन्त्रके उच्चारणमें स्वरके या वर्णके विचारसे किसी प्रकारका दोष होनेसे अथवा मिथ्या प्रयोग होनेसे वह मन्त्र यथार्थ फलको उत्पन्न नहीं कर सकता है, परन्तु वज्र बनकर यजमानका वध कराता है, जैसा कि मन्त्रोच्चारणमें स्वरसम्बन्धीय दोष होनेसे वृत्रासुर इन्द्रका वधकारी न होकर इन्द्रसे ही वध प्राप्त हो गया था। वैदिक मन्त्रके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरभेद तथा लाघव गौरवके अनुसार ठीक ठीक उच्चारण करनेके लिये प्राणशक्तिके परिपोषणकी आवश्यकता विशेष होती है। विना ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके प्राणका पोषण नहीं होता है। कलियुगके याज्ञिकों-में इसका अत्यन्त अभाव है इस लिये मन्त्रोच्चारणमें स्वर या वर्णका दोष होना ही अत्यन्त सम्भव है, अतः इस युगमें मन्त्रशुद्धि होना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार क्रियाशुद्धिके लिये भी क्रिया

करनेवाले याज्ञिकोंमें मनःसंयम, जितेन्द्रियता, आस्तिकता, एकाग्रता कर्मनिष्ठता आदि गुणोंका विशेष प्रयोजन है, सो कलिमलदूषित अन्तःकरणमें विरल ही देखनेमें आते हैं। अतः द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और क्रियाशुद्धि तीनोंमें ही जब असम्पूर्णता है तो यज्ञमें इस समय पूर्णफल प्राप्ति बहुत ही कठिन है और इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न श्रीभगवान् मनुजीने यज्ञधर्मको कलियुगमें मुख्य नहीं बताया है। इस प्रकारसे जब तपोधर्म, ज्ञानधर्म तथा यज्ञधर्म तीनोंकी ही गौणता हुई तो सबसे सरल, सहजसाध्य दानधर्म ही अवशिष्ट रह गया और इसी कारण "दानमेकं कलौ युगे" कहकर मनुजीने कराल कलियुगके लिये सहजसाध्य दानधर्मकी ही मुख्यता बताई है। दानधर्मके अनुष्ठानके लिये न तो स्थूलशरीरके सबल होनेकी ही आवश्यकता है और न अधिक सूक्ष्मशरीरके बलका ही प्रयोजन है, केवल अपनी वस्तुको उसके प्रति ममत्व छोड़कर दूसरोंको दे देनेसे ही दान हो जाता है। इस लिये दानधर्म अति अनायाससाध्य तथा कलियुगके देश काल प्रकृतिके अनुकूल है अतः ऊपर कथित समस्त विचारोंसे यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि सकल युगोंमें एक ही प्रकारके धर्मानुशासन नहीं चल सकते, किन्तु देश काल तथा युगोत्पन्न मनुष्योंके अधिकार विचारसे धर्म्मलक्ष्यको अटूट रखकर भिन्न भिन्न युगोंमें धर्म्मव्यवस्था अवश्य ही बदलती रहती है। अतः प्रथम मतवाद उदार, दूरदर्शितापूर्ण तथा प्रवीण महर्षियोंके सिद्धान्तानुकूल नहीं है यही सिद्ध हुआ।

प्रथम मतवादकी असम्पूर्णता तथा अदूरदर्शिताके द्वारा द्वितीय मतवाद पुष्ट नहीं होता है और यह नहीं माना जा सकता है कि प्रवीण भारतकी सभी व्यवस्था दोषयुक्त तथा जातीय अवनतिकर है अतः देशोन्नतिके लिये सर्वथा परित्याज्य है: क्योंकि अती-

तके संस्कार पर ही भविष्यत्का भाग्य निर्भर करता है। अतीत जीवनके गौरवकी सहायताने ही भविष्यत् जीवनको गौरवमय बनाना सहजसाध्य तथा स्वाभाविक है। जिस जातिका अतीत जीवन गौरवमय नहीं है, उस जातिके भविष्यत् जीवनको गौरव-मय बनाना बहुत ही कठिन हो जाता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" जो वस्तु है नहीं उसकी सत्ता भी बन नहीं सकती और जिसकी सत्ता है उसका अभाव या नाश भी नहीं हो सकता है। इस लिये जिस जातिमें जो संस्कार नहीं है, जिस प्रकारका जीवन नहीं है, वह संस्कार या जीवन उसमें प्रतिष्ठित कराना असम्भव या बहुत ही कठिन हो जाता है। अन्य जातीय सधवा या विधवा स्त्रियोंको सतीधर्मकी महिमा सिखाना उतना सहजसाध्य नहीं है, जितना आर्य्यजातीय सधवा विधवा स्त्रियोंको सतीधर्मकी महिमा सिखाना सहज है; क्योंकि इस जातिके अतीत जीवनमें सीता, सावित्री, मदालसा आदि सती माताओंके उज्ज्वल पातिव्रत्य संस्कार दृढ़मूल हैं। अन्य-जातीय युवकोंको ब्रह्मचर्य्यकी शिक्षा देना उतना सरल कार्य्य नहीं है, जितना आर्यजातीय युवकोंको ब्रह्मचर्यकी शिक्षा देना सरल है; क्योंकि आर्यजातिके अतीत जीवनमें भगवान् भीष्मपितामह, भग-वान् शंकराचार्य आदि पूज्य पुरुषोंके नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संस्कार परिपूर्ण है। अन्यजातीय मनुष्योंको योग, तपस्या तथा निर्गुण ब्रह्मका उपदेश करना उतना सहज नहीं है, जितना आर्यजातीय सत्पुरुषोंको योग, तपस्या तथा निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बताना सहज है; क्योंकि आर्यजातिके अतीत जीवनमें योगी याज्ञवल्क्य, ब्रह्मनिष्ठ गुरु वशिष्ठ तथा परम तपस्वी महर्षियोंके मधुर जीवनका संस्कार विद्यमान है। अतः सिद्ध हुआ कि अतीत जीवनके गौरव पर ही भविष्यत् जीवनकी गौरव प्रतिष्ठा स्वाभाविक तथा अनायास

साध्य है। इन्हीं बातोंपर विचार करके विद्वान् मोक्षमूलर साहबने अपने ग्रन्थमें लिखा है *—"जो जाति अपने अतीत जीवनके गौरवको भूल जाती है वह अपने जातीय चरित्रके प्रधान अवलम्बनको खो डालती है। जिस समय जर्मन जाति राजनैतिक अवनतिके अन्धकूपमें डूबी हुई थी, उसने कोई भी उपाय न देखकर अपने अतीत इतिहास पर ही ध्यान दिया और उसीके सहारे भविष्यत् जातीय उन्नतिकी आशा उसके हृदयमें प्रतिष्ठित हो गई।" किसी नवीन जातिको उन्नत करना और वस्तु है और किसी पुरानी गिरी हुई जातिको उन्नत करना कुछ और वस्तु है। नवीन जाति नवीन कल्पित अथवा किसी पुरानी जातिसे संगृहीत यथासम्भव प्रकृति अनुकूल नवीन संस्कार द्वारा उन्नतिलाभ कर सकती है; किन्तु जिस जातिके रक्त मांस मज्जातकमें तथा रोम रोममें प्राचीन संस्कार समाया हुआ है और उन्हीं प्राचीन संस्कारोंके परिपाकका अभाव होनेसे जो जाति हीनप्रभ हो रही है, उसकी उन्नति उन प्राचीन संस्कारोंको नष्ट करके नवीन संस्कारोंके सन्निवेश द्वारा कदापि नहीं हो सकेगी; क्योंकि मज्जागत प्राचीन संस्कारोंका नाश करनेकी चेष्टासे वह जाति ही नष्ट हो जायगी। अनादिकालसे प्रतिपालित संस्कार जातिका प्राणरूप हो जाता है। सुतरां उसके नाशसे जातिका प्राण ही नष्ट हो जाता है। Put new wine in the old bottle, the bottle will burst अर्थात् पुरातन पात्रमें नवीन आसवके रखनेसे पात्र फट जाता है, इसको सब ही लोग जानते

* A nation which forgets the glory of its past loses the mainstay of its national character. When Germany was in the depth of political degradation she turned back upon her ancient literature and drew hope for the future from the study of the Past. Proff: Maxmuller.

हैं। अतः प्राचीन संस्कारसे अकड़ी हुई प्राचीन जातिकी उक्त संस्कारके नाश तथा नवीन संस्कारके संयोग द्वारा उन्नति नहीं हो सकती है, किन्तु प्राचीन संस्कारोंके पुनः प्रवर्त्तन द्वारा ही उन्नति हो सकती है। इसलिये नवीन मतवादियोंका सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है। किन्तु नवीन मतवादियोंका सिद्धान्त समीचीन न होनेपर भी देश काल पात्रका विचार करना पूर्व वर्णनानुसार अवश्य ही युक्तियुक्त है। इस कारण दोनों मतवादोंका इस प्रकारसे सामञ्जस्य करना होगा कि आर्य्यजातीय लक्ष्य, आर्य्यजातीय संस्कार तथा आर्य्यजातीय आदर्श अटूट रहे किन्तु वर्त्तमान देश काल तथा अधिकारके अनुसार उन सभोंका सामञ्जस्य हो। ऐसा होनेपर ही प्रवीण पूज्यपाद महर्षियोंके आज्ञानुसार नवीन देश कालमें आर्य्यजातिका अधिकारानुसार यथा योग्य कल्याण तथा उन्नति लाभ हो सकता है।

आर्यजातिकी उन्नतिका आदर्श निर्णय करनेसे पहले जाति और उन्नति इन दोनों शब्दोंके लक्षणोंपर अवश्य विचार करना चाहिये। समस्त संसारमें जो नानाप्रकारकी प्रकृतिसम्पन्न नानाप्रकारकी जातियाँ देखनेमें आती हैं, इन सबकी उत्पत्ति कैसे हुई इस बातपर विचार करनेसे गवेषणापरायण मनुष्य अवश्य ही सिद्धान्त कर सकेंगे कि प्रकृतिका त्रिगुणवैचित्र्य ही विविध विचित्र जातिसृष्टिविकाशका आदि निदान है। स्थूल प्रकृतिकी जिस भूमिमें जिस प्रकार गुणविलास प्राकृतिकरूपसे प्रकट होता है, वहाँपर उसी गुणानुरूप जातिका भी जन्म होता है। जिस भूमिमें प्रकृतिका पूर्ण विकाश होनेके कारण त्रिगुणका भी पूर्ण प्राकट्य है वहाँपर पूर्ण प्रकृतियुक्त जातिका नैसर्गिकरूपसे ही जन्म होगा। जहाँपर प्राकृतिक पूर्णताके न होनेसे तीनोंमेंसे किसी एक गुण या दो गुणका विकाश रहेगा वहाँ ऐसी ही प्रकृतिवाली जातिका

जन्म होगा। महाप्रलयके अनन्तर समष्टि सृष्टिके पूर्वकथित विज्ञानानुसार प्रथम सृष्टिमें जब शुद्ध सत्त्वगुणका विकाश रहता है तब सत्त्वगुणमय आर्य्यजाति और उसमें भी शुद्धसत्त्वगुणमय ब्राह्मणोंका जन्म पूर्णप्रकृतियुक्त भारतभूमिमें होता है, जिसका रहस्य पूर्व अध्यायमें भली भाँति बताया जा चुका है। तदनन्तर समष्टि सृष्टिकी गति निम्नाभिमुखिनी होनेके कारण सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, तमोगुणका जितना जितना विस्तार होने लगता है उतना ही भारतवर्षमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सृष्टि और पृथिवीके रजस्तम आदि गुणप्रधान नानादेशोंमें रजस्तमआदि गुणयुक्त, अपूर्ण आचार तथा अनाचार परायण अनेक जातियोंका जन्म या भारतादि देशान्तरोंसे आकर उपनिवेशस्थापन द्वारा विस्तार हो जाता है। इस प्रकारसे समष्टिसृष्टिके निम्नगामी क्रमानुसार समस्त पृथिवीमें प्रथमतः आर्यजातिकी उत्पत्ति और तदनन्तर क्रमशः अन्यान्य जातियोंकी उत्पत्ति होती है।

ऊपर कथित विचारसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृतिके त्रिगुण तारतम्यानुसार ही पृथिवीके भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी जातियोंका जन्म होता है। जाति व्यक्तिकी ही समष्टि है, अतः जिस गुणप्राधान्यसे जाति बनेगी उसके उपादान भूत व्यक्तिमें भी उस गुणका प्रभाव अवश्य रहेगा और इस प्रकारका प्रभाव रहनेसे ही व्यक्ति या उसके समष्टिभूत जातिके बाह्य आभ्यन्तर सकल भावोंमें उस गुणका अभिनिवेश रहेगा। बल्कि ऐसा अभिनिवेश ही एक जातिसे अन्य जातिका पार्थक्यनिर्णायक होगा। अतः सिद्ध हुआ कि बाह्य आभ्यन्तर लक्षणोंकी समानता ही जातिका द्योतक है। इस समानता या सादृश्यका विकाश भावसादृश्य, संस्कार सादृश्य, चिन्तासादृश्य, लक्ष्यसादृश्य, सामाजिक व्यवहार सादृश्य, राजनैतिक व्यवस्था

सादृश्य, आचार सादृश्य, भाषासादृश्य, रूप सादृश्य तथा गुण सादृश्यके द्वारा हुआ करता है। आर्य्यजातिमें जिस गुणका प्राधान्य है आर्य्यजातिका संस्कार, लक्ष्य, आचार, सामाजिक रीति-नीति, भाषा, भाव, रूप आदि सभी उसी गुणानुसार ही व्यक्त होगा। मुसलमान जातिमें जिस गुणका प्राधान्य है मुसलमान-जातिका संस्कार, धर्मलक्ष्य, आचार, सामाजिक व्यवस्था आदि सभी उसी गुणानुकूल अवश्य होगा। अङ्गरेजजातिमें जिस गुणका प्राधान्य है अंग्रेजजातिका संस्कार, धर्मलक्ष्य, आचार, सामाजिक रीति नीति सभी उसी गुणानुसार होगा। इस प्रकार जातिगत विशेषत्व ही जातिकी मौलिकताका रक्षक है, यही जातिकी जातीयता है। यह जातीयता या जातिगत विशेषता चाहे किसी कोटिकी या किसी गुणकी हो, इसीको जब तक जाति निभावेगी तभी तक संसारमें जातिका अस्तित्व रहेगा। जातिगत विशेषताको नष्ट करके या दूसरी जातिमें लय करके जाति उन्नत नहीं होती है, परन्तु काल समुद्रमें डूब जाती है; क्योंकि विशेषता ही जातिका जीवन है। जिस गुणके प्राधान्यसे आर्य्यजातिका जन्म हुआ है, उसीके अनुसार आर्य्यजातिका लक्ष्य, सामाजिक रीति नीति, आचार, भाषा, भाव, सभी नैसर्गिकरूपसे प्रकट हुए हैं। अतः यही सब आर्यजातिकी जातीयता तथा जातिगत मौलिकताका रक्षक है। ये सब मौलिकता अँग्रेज जाति या मुसलमानजातिकी जातिगत मौलिकतासे उत्कृष्ट या निकृष्ट है इसके विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब प्राकृतिक विधिके अनुसार अनादिकालसे आर्य्यजातिकी इस प्रकार जातिगत मौलिकता देखनेमें आती है और जातिकी मज्जा मज्जामें संस्काररूपसे जकड़ी हुई है तो इस मौलिकताकी रक्षा द्वारा ही आर्यजाति जीवित रह सकेगी और इसकी उन्नति द्वारा आर्यजाति उन्नति कर सकेगी।

मौलिकताको नष्ट करनेसे या किसी उन्नत या अवनत जातिमें उसे लय कर देनेसे आर्यजाति मर जायगी उन्नति नहीं करेगी। अतः आर्यत्वकी रक्षा ही आर्यजातिकी रक्षा है, उसकी पुष्टि ही आर्य्य-जातिकी उन्नति है। इसीलिये श्रीभगवानने गीतामें कहा है—"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्" उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मसे साधारणरूपसे अनुष्ठित स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसी स्वधर्मकी उन्नतिसे ही जातिकी उन्नति क्रमशः होती है, क्योंकि स्वधर्म होनेसे वह नैसर्गिक है अतः उन्नतिका प्राकृतिक सहायक है, स्वधर्मसे उत्तम या अधम कोई भी परधर्म उन्नति साधक नहीं हो सकता है। अश्वत्व यदि गर्दभत्वमें लय हो जाय तो भी उसकी उन्नति नहीं है और यदि सिंहत्वमें लय हो जाय तो भी उसकी उन्नति नहीं है। क्योंकि दोनों दशामें ही अश्वत्वका नाश है। अतः जातिके प्राणस्वरूप जातीय मौलिकताकी रक्षा तथा उन्नति द्वारा ही जातिकी उन्नति हो सकती है। उसके नाशसे या किसी अपेक्षाकृत उन्नत या अवनत जातिमें उसको लय कर देनेसे जातिकी उन्नति नहीं हो सकती है। मुसलमान जाति अपनी जातीय मौलिकता अर्थात् मुसलमानपनको अक्षुण्ण रख कर ही उन्नति कर सकती है। उसको आर्यजातिमें, अँग्रेजजातिमें या और किसी तीसरी जातिमें लवलीन करके उन्नति नहीं कर सकती है। उसी प्रकार अँग्रेजजाति भी अपने अँग्रेजपनको रख कर ही उन्नति कर सकती है। उसको खो-कर उन्नति नहीं कर सकती है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि समानलक्षणाक्रान्त व्यक्तियोंकी समष्टिका नाम जाति है, जिस जातिमें उसी समानताके अनुसार जो जो विशेषता है वही उस जातिकी जातीय मौलिकता है, मौलिकगुण होनेसे विशेषता ही जातिका प्राण है, उसी प्राणकी रक्षा तथा पोषण द्वारा जातिका प्राण पुष्ट तथा जाति उन्नत हो सकती है, विशेषता या जातीय

मौलिकताके नाश या जात्यन्तरमें विलयसाधन द्वारा जातिकी कदापि उन्नति नहीं हो सकती है।

जातिके लक्षणपर विचार करके अब 'उन्नति' के लक्षणपर विचार किया जाता है। उन्नति किसको कहते हैं और कैसे होती है, इस पर अनुधावन करनेसे पता लगेगा कि सभी उन्नति बीज-वृक्षन्यायसे भीतरसे बाहरकी ओर होती है। जिस प्रकार बीजमें भावी वृक्षका समस्त उपादान पहलेसे ही विद्यमान रहता है, केवल रसादिके सञ्चार द्वारा उसी उपादानको परिस्फुट करनेसे ही बीजसे वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार सभी उन्नति भीतरसे बाहरकी ओर हुआ करती है। (To grow is to evolve, every growth is from the inside) आमके बीजमें भावी आम्रवृक्षके सभी उपादान पहलेसे विद्यमान रहते हैं। उन्हीं उपादानोंको रसादि द्वारा परिपुष्ट तथा पूर्णाकारमें परिवर्धित किया जाता है, उसीसे आम्रबीजसे पूर्णायतन आम्रवृक्ष बन जाता है। उसमें नवीन किसी उपादानके संयोगकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल बीजमें वर्त्तमान उपादानके परिस्फुट करनेकी ही आवश्यकता होती है और इस प्रकारसे पूर्ण परिस्फुट बीजसे ही पूर्णोन्नत वृक्ष उत्पन्न होता है। अतः सिद्ध हुआ कि व्यक्ति या जातिगत बीजमें प्रच्छन्न उपादान शक्तिका पूर्ण विकाश साधन ही उन्नति है किसी नवीन वस्तुका संयोग उन्नति नहीं है। आमके बीजसे आमका वृक्ष उत्पन्न करके उसमें पूर्णावयव तथा पूर्णरसयुक्त आम पैदा करना ही आमकी उन्नति है, किन्तु यदि दैववशात् आमके बीजसे आम्रवृक्ष न बनकर अश्वत्थवृक्ष बन जाय और वह अश्वत्थवृक्ष आम्रवृक्षसे २० गुणा लम्बा चौड़ा बने तथापि वह आमकी उन्नति नहीं कहलावेगी बल्कि उसका नाश ही कहलावेगा। उसी प्रकार अश्वमें जो अश्वत्वका उपादान विद्यमान है उसीको

परिस्फुट करना ही अश्वकी उन्नति कहलावेगी, उस उपादानको नष्ट करके अश्वको बलवान् खच्चर बनाना अश्वकी उन्नति नहीं कहलावेगी, जिसमें जो मौलिक सत्ता है उसीका पूर्ण विकाश कराना ही उसकी उन्नति कराना है। वह मौलिक सत्ता किसी अन्य वस्तुकी मौलिक सत्तासे किसी अंशमें उत्तम या अधम हो सकती है, किन्तु उसका विचार करनेसे उन्नतिका तत्त्व नहीं निकलेगा। उन्नति वस्तुगत मौलिक सत्ताकी पूर्णता द्वारा ही पूर्ण हो सकेगी। श्वानकी उन्नति पूर्ण श्वान बनके ही है, घोड़ा या सिंह बनके नहीं है, मानवकी उन्नति पूर्ण मानव बनके ही है, अतिमानव या अमानव बनके नहीं है। ब्राह्मणकी उन्नति पूर्ण ब्राह्मण बनके ही हो सकती है, अतिब्राह्मण या अब्राह्मण बनके नहीं हो सकती है, आर्य-जातिकी उन्नति पूर्ण आर्य बनके ही हो सकती है, अनार्य बनके नहीं हो सकती है, मुसलमानकी उन्नति पूर्ण मुसलमान बनके ही हो सकती है, मुसलमानपनको खोकर ईसाई या हिन्दु बनके नहीं हो सकती है, अङ्गरेजकी उन्नति अङ्गरेजपनको पूर्णरूपसे कायम रखकर ही है, उसको खोकर मुसलमान जाति या आर्यजाति या और किसी जातिमें अपनी सत्ताको नष्ट करके नहीं है। यही 'उन्नति' शब्दका लक्षण तथा भावार्थ है। यदि आर्य अपने आर्य-भावको खोकर अनार्य हो जाय और ऐसा होकर भौतिक उन्नतिकी पराकाष्ठा पर पहुंच जाय तोभी वह उन्नति आर्यदृष्टिसे कुछ भी नहीं कहलावेगी, बल्कि अवनति तथा अपनी सत्ताका नाश ही कहलावेगा। हम यदि हमही न रहे तो हमारी उन्नति क्या हुई? मरकर उन्नति करना उन्नति नहीं है। भारत अभारत होकर, एमे-रिका होकर या इङ्गलण्ड होकर उन्नति नहीं कर सकता है, भारत सच्चा भारत रहकर ही उन्नति कर सकता है। हमारी सन्तान ऋषि बनकर ही उन्नति कर सकती हैं। हम ऋषिकी संतान ऋषि

बनकर ही उन्नति कर सकते हैं। हमारी उन्नति सेक्सपीयर बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु वेदव्यास बनकर हो सकती है; हमारी उन्नति मिल्टन, शेली, वायरन बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु कश्यप, भरद्वाज, शाण्डिल्य बनकर हो सकती है, हमारी उन्नति वाशिंटन, क्राईम, नेपोलियन बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु भीष्म, अर्जुन, महाराणा प्रताप बनकर हो सकती है, हमारी माताओंकी उन्नति एलिजावेथ, क्लिओपेट्रा बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु सीता, सावित्री, मैत्रेयी बनकर हो सकती है। यही जातीय मौलिकताके विचारसे प्रत्येक जातिकी उन्नतिका गूढ़ लक्षण है।

ऊपर लिखित विचारोंसे कोई ऐसा न समझे कि किसी अन्य-जातिमें कोई सद्गुणका आदर्श होनेपर भी उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्ति या जातिको मधुकरकी नाईं सभी स्थानोंसे अच्छी वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये। परन्तु इसमें इतनी सावधानता अवश्य ही होनी चाहिये कि दूसरी जातिसे किसी वस्तुके लेनेमें अपनी जातीय विशेषता नष्ट न हो जाय और लेनेके बाद ऐसी सावधानता तथा बुद्धिमत्तासे उसका परिपाक (Assimilation) होना चाहिये कि उससे अपनी जातीय विशेषता नष्ट न होकर और भी पुष्ट हो सके, तभी मधुकरवृत्तिकी सफलता तथा चरितार्थता होगी अन्यथा दूसरेसे लेनेके उद्योगमें पड़ कर अपना खो देने तथा दूसरेके बन जानेकी अपेक्षा दूसरेका न लेना ही अच्छा होगा। इस प्रकारसे पराई वस्तुको सामञ्जस्यके साथ अपना बनाकर अपनी जातीय विशेषता तथा मौलिकताका देशकालानुसार सामञ्जस्य करना होगा। क्योंकि उत्तमसे उत्तम जातीय विशेषता भी यदि देशकाल तथा युगधर्म्मके प्रतिकूल हो तो चल नहीं सकती। अतः जाति और उन्नति इन दोनोंके लक्षणोंपर विचार करते हुए

जब ऊपर लिखित सब बातोंपर ध्यान रक्खा जायगा तभी जातिका यथार्थ कल्याण संसाधित हो सकेगा।

पहिले ही कहा गया है कि जातीय विशेषता ही जातिका प्राण है। अब वह प्राणरूपी जातीय विशेषता किन किन विषयोंपर प्रतिष्ठित है सो विचार किया जाता है। 'विशेष' शब्द 'साधारण' शब्दका व्यावर्त्तक है; अर्थात् विशेष कहनेसे ही यह मालूम होता है कि वह 'साधारण' नहीं है, वह कुछ ऐसी खास वस्तु है जो उसीके भीतर है और अन्य किसीके भीतर नहीं हो सकती। किन्तु इसमें इस प्रकार शंका हो सकती है कि कोई दुर्गुण या दुराचार भी यदि किसी जातिके भीतर खास तौर पर रहे तो क्या उसको भी जातीय विशेषता समझना होगा और ऐसा समझकर उस दुर्गुण या दुराचारका पक्षपात करना होगा? कदापि नहीं। इसलिये केवल अनन्यसाधारणत्व ही विशेषताका लक्षण नहीं है, किन्तु जातीय गुणगत प्राकृतिक संस्कार तथा जातीय जीवनके साथ अच्छेद्य सम्बन्धवत्ता भी जातीय विशेषताका लक्षण है। वस्तु अनन्यसाधारण अर्थात् खास हो, अन्यजातिमें वह न मिलती हो और जातीय जीवनके अस्तित्व तथा उत्थानपतनके साथ उसका नैसर्गिक सम्बन्ध हो तभी वह जातीय विशेषता या मौलिकता कहलावेगी, इस प्रकारकी जातीय विशेषता ही जातिका जीवन है। अर्थात् जब तक जाति इस विशेषताको बनाये रखती है, उसके प्रति जातिका आन्तरिक अनुराग बना रहता है, उसमें कौनसी प्राणप्रद सत्ता है इसका ज्ञान जातिके हृदयमें विद्यमान है और इस कारण विशेषताकी मर्य्यादाके प्रति पूर्ण पूज्य बुद्धि जातिके अन्तर्गत व्यक्तिमात्रके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित है और इतनी प्रतिष्ठित है कि मौका आने पर उसके लिये प्राण तकके न्यौछावर करनेमें जातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं होता है, तभी तक जाति हजारों भिन्न भिन्न

लक्षणाक्रान्त अन्य जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताके दृढ़ रखनेमें समर्थ हो सकती है। जिस दिनसे जातीय विशेषताकी मर्य्यादा जातिके हृदयसे लुप्त होने लगती है, उसके प्रति अनुराग भी मन्दीभूत होने लगता है तथा अन्य किसी जातिके आदर्शके अनुकरणकार्य्यमें अपनी जातीय विशेषताके नष्ट करनेमें सङ्कोच या दुःख प्रतीत नहीं होता है, जानना चाहिये कि उसी दिनसे वह जाति मृत्युकी ओर अग्रसर होने लगी है और यदि इस वेगके रोकनेका कोई कारण न हो तो कुछ दिनोंमें निश्चय ही वह जाति अनुकरणीय जातिके भीतर अपनी समस्त सत्ताको लय करके चिरकालके लिये काल समुद्रमें डूब जायगी। इसी कारण जब कोई एक जाति किसी अन्य जाति पर शासनाधिकारको जमाती है तो जेता जातिका सबसे प्रथम यह कर्त्तव्य होता है कि विजित जातिकी जातीय विशेषताको नष्ट कर देवे या उसके प्रति विजित जातिकी पूज्य बुद्धिको बिगाड़ देवे, क्योंकि ऐसा किये बिना जेता जाति विजित जातिको पूर्णरूपसे अपने अधीन नहीं कर सकती है। यही जेता जातिकी दूरदर्शिता तथा बुद्धिमत्तासे पूर्ण राजनीति है। इसी राजनीतिका अवलम्बन करके जेता जाति प्रथमतः विजित जातिका शिक्षाकार्य अपने हाथमें लेती है और उसीके द्वारा धीरे धीरे विजित जातिके जातिगत सभी विशेषताको नष्ट करनेके लिये उद्योग करती है। भाषाके साथ भावका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये भावके नष्ट करनेके लिये भाषाका नाश करना, भाषाको मृतभाषा बनाना अति आवश्यकीय राजनीति है। इस कारण जेता जाति शिक्षादान कार्यमें प्रथमतः विजित जातिकी मातृभाषाका नाश करके उसके स्थानपर अपनी भाषाका प्रभाव जमाती है। जब रोमन जातिने सिलिसिया देशपर शासन विस्तार किया था तो सिलिसियन जातिको पूर्णरूपसे पराधीन करनेके लिये प्रथमतः सिलि-

सियन भाषाका नाश करके विद्यालयोंके द्वारा लाटिन भाषाका ही प्रचार कराया था। जातीय प्राचीन इतिहास जातीय जीवन तथा जातीय भावका परिपोषक है इसलिये भाषा विस्तारके साथ ही साथ जेता जाति विजित जातिके प्राचीन इतिहासको भी बिगाड़ देती है और नाना प्रकारके स्वकपोलकल्पित इतिहासकी शिक्षा देकर विजित जातिके शिक्षार्थी नवयुवकोंके हृदयमें स्वदेशीय प्राचीन महापुरुषोंके प्रति अश्रद्धा तथा घृणा उत्पन्न करनेके लिये यत्न करती है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही विस्तार मात्र है। इस लिये स्थूलशरीरमें भावान्तर होनेसे उसका प्रभाव सूक्ष्मशरीर या अन्तःकरण पर पड़कर उसमें भी भावान्तर उत्पन्न कर देता है। आचार तथा वेशके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है इसलिये आचार और वेशमें भावान्तर होनेसे अर्थात् स्वजातीय वेश तथा स्वजातीय आचारोंको छोड़कर विजातीय वेश तथा आचारोंके ग्रहण करनेसे धीरे धीरे विजातीय भाव अवश्य ही मनोदुर्ग पर अधिकार जमाता है। इस कारण शासन विस्तार तथा शिक्षा विस्तारके साथ साथ जेता जाति विजित जातिके वेष तथा आचारके नाशके लिये भी पुरुषार्थ करती है। तदनन्तर शिक्षाके द्वारा विजित जातिके सभी जातिगत संस्कार, सामाजिक रीति नीति, जीवनका लक्ष्य आदि विशेषताके उपादानोंको एक एक करके तोड़ने लगती है, जिसका अन्तिम फल यही होता है, कि विजित जाति अपनी समग्र विशेषताके प्रति अत्यन्त अश्रद्धा तथा उपेक्षापरायण होकर उसके आमूल नाश करनेमें तथा जेता जातिके भीतर अपनी सत्ताके लय कर देनेमें ही अपनी जातीय उन्नतिको मान लेती है। जैसा संकल्प क्रिया भी ऐसी ही होती है, जैसी क्रिया सिद्धि भी ऐसी ही होती है और अन्तिम परिणाम विजित जातिका सत्तानाश ही देखनेमें आता है। अतः जातीय जीवन ध्वंसकर इस घोर दुर्गतिसे आत्मरक्षा करनेके लिये

विशेषता रक्षा ही प्रत्येक जातिका एकमात्र कर्त्तव्य है। जेता जातिकी मोहिनी मायामें न फंसना, प्राणरूपिणी जातीय विशेषताकी रक्षा करना और सहस्र विपत्तियोंके भीतर भी स्वजातीय लक्ष्यसे च्युत न होकर उसीके अनुकूल अपने जीवनको आदर्श जीवन बनाना और वर्त्तमान देशकालके अनुरूप अन्य शिक्षित जातियोंसे यथायोग्य गुणसंग्रह द्वारा अपनी जातीय गुणावलीकी परिपुष्टि करते हुए स्वजातीय विशेषताकी रक्षा करना यही जातीय प्राणप्रतिष्ठाका मूल मन्त्र है।

प्रत्येक जातिकी उन्नतिके लिये जातीय विशेषताकी प्रतिष्ठाका प्रयोजन बताकर आर्य्यजातिकी जातीय विशेषताके विषयमें चर्चा की जाती है। विशेषताके लक्षणके विषयमें पहले ही कहा गया है कि अनन्यसाधारणता और जातीय जीवनके साथ मौलिक सम्बन्ध-वत्ता ही विशेषताका लक्षण है। इस लिये आर्य्यजातिके भीतर जो कुछ खास वस्तु है जो कि पृथिवीकी और किसी जातिमें नहीं देखनेमें आती है तथा जिसके अस्तित्वके साथ आर्यजातिके जीवन-मरणका सम्बन्ध है उसीको आर्यजातिको जातीय विशेषता समझनी चाहिये। विचार करने पर पता लगेगा कि आर्य्यजातिका अनूठा आध्यात्मिक लक्ष्य तथा उसके साधक, सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म और आर्य्यस्त्रीका पातिव्रत्यधर्म, यही सब अन्य जातियोंसे आर्य्यजातिकी विशेषताको प्रतिपादित करते हैं। आर्य्य-जातिका लक्ष्य अपनी जीव सत्ताको मायासे अतीत सुखदुःखहीन नित्यानन्दमय ब्रह्मसत्तामें विलीन कर देना है, त्याग उसका साधन है, इन्द्रियसंयम उसका प्रधान उपाय है। आर्य्यजाति स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर, तीनों शरीरोंसे संसारमें जो कुछ करती है, सभीका लक्ष्य उसी ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि है। आर्यजातिके तीनों शरीर ब्रह्मपूजाके लिये पुष्परूप हैं। इनकी रक्षा वैषयिक

सुखलाभके लिये आर्य्यजाति नहीं करती है, किन्तु ब्रह्मपूजाके अनुष्ठानार्थ इनकी रक्षा आवश्यकीय है, इस लिये आर्य्यजाति शरीरोंकी रक्षा तथा सेवा करती है। शरीर शरीरके लिये नहीं है, किन्तु आत्माके लिये है, इसी लिये शरीरकी सेवाका प्रयोजन है, लक्ष्य आत्मा ही है, बाकी सब उसका साधन तथा उपकरणरूप हैं। यही आर्यजातिका आध्यात्मिक लक्ष्य है। ऐसा लक्ष्य पृथिवीकी अन्य किसी जातिमें नहीं देखनेमें आता है, इस लिये आर्यजातिकी यह एक अनन्यसाधारण जातीय विशेषता है। जिस प्रकारसे आर्यजाति सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा नारीधर्मका अनुष्ठान करती है उसके द्वारा ऊपर कथित आत्मलक्ष्यकी सिद्धिमें विशेष सहायता मिलती है। अन्यजातिमें उस प्रकार आत्मलक्ष्य नहीं है, इस लिये उसके साधन सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा पातिव्रत्यधर्मकी भी सामाजिक सुव्यवस्था नहीं है। केवल आर्यजातिमें ही इनकी सुव्यवस्था है। अतः सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म और पातिव्रत्यधर्म भी आर्यजातिकी अनन्यसाधारण जातीय विशेषता है। इस प्रकारसे विशेषताका प्रथम लक्ष्य जो अनन्यसाधारणता है उसकी चरितार्थता आर्यजातिके आध्यात्मिक लक्ष्य, आचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा सतीधर्ममें सम्यक्रूपसे प्रतिपादित होती है। अब विशेषताका जो दूसरा लक्षण है अर्थात् जातीय चिरजीवनके साथ मौलिक सम्बन्ध है उसकी सिद्धि वर्णाश्रम आदियोंके द्वारा कैसे हो सकती है सो नीचे क्रमशः बताया गया है।

आर्यशास्त्रमें मनुष्यजीवनके समस्त पुरुषार्थके चार लक्ष्य बताये गये हैं, यथा–काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न होकर जो कुछ करता है सभीका लक्ष्य इन चारोंमेंसे कोई न कोई होता है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें साधनाके भी अधिकारानुसार ये ही चार लक्ष्य बताये गये हैं। कोई साधक धर्मलक्ष्य करके

भगवान्की उपासना करता है, कोई अर्थ प्राप्तिके लिये उनकी पूजा करता है, कोई कामना सिद्धिके लिये भगवद्भक्त बनता है और कोई मोक्ष प्राप्तिके अर्थ परमात्माकी आराधनामें रत रहता है। भगवान् अपने चारों हाथोंसे अधिकारानुसार अपने आर्त्त, अर्थार्थी आदि सभी प्रकार भक्तोंको चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चतुर्वर्ग प्रदानके लिये ही उनके चार हाथ हैं। उनका चक्रयुक्तहस्त धर्मका देनेवाला है, शङ्खयुक्तहस्त अर्थ प्रदाता है, गदायुक्तहस्त कामद है और सकमलहस्त मोक्षद है। इसी प्रकार शिवरूपमें भी 'परशुमृगवराभीति' हस्तोंसे भगवान् चतुर्वर्ग ही देते हैं। परशुधारीहस्त कामद है, मृगयुक्तहस्त अर्थप्रदाता है, वरमुद्रायुक्तहस्त वरणीय धर्मका देनेवाला है और अभयमुद्रायुक्तहस्तसे भवभयनाशकारी मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि जगत्में चतुर्वर्ग ही सकल जीवोंके सकल पुरुषार्थका लक्ष्य है। कर्म तथा अधिकारके तारतम्यानुसार लक्ष्यमें भी तारतम्य होता है। इसी कारण कोई व्यक्ति या जाति अर्थ या कामको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है और कोई व्यक्ति या जाति धर्म मोक्षको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है। उपनिषद्में लिखा है "यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति" अर्थात् सुखहीको लक्ष्य करके जीवकी सकल चेष्टा होती है। दुःखके लिये किसीकी भी कोई चेष्टा नहीं होती है। अतः धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी वर्गमें भी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है। अर्थकामलक्ष्यपरायण जाति अर्थकाममें ही परम सुख मानकर उसीके लिये पुरुषार्थ करती है। धर्ममोक्षलक्ष्यपरायण जाति धर्म मोक्षमें ही आत्यन्तिक सुख जानकर उसीके लिये पुरुषार्थमें प्रवृत्त हो जाती है। लक्ष्य सुखलाभ करना सभीका है, केवल अधिकार तथा विचार तारतम्यानुसार ही पुरुषार्थप्रवृत्तिमें तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

पूज्यपाद दूरदर्शी प्राचीन आर्य्यमहर्षियोंने अनेक विचार करके अर्थकामकी अपेक्षा धर्ममोक्षको ही श्रेष्ठतर लक्ष्यरूपसे निर्णय किया है और इसी लिये आर्य्यजातिके आत्यन्तिक सुख साधन तथा जातीय लक्ष्यरूपसे धर्ममोक्षको ही बताया है। उन्होंने अर्थकामके प्रति आर्य्यजातिको उपेक्षा करनेका उपदेश नहीं दिया है, सो पूर्व-कथित उपासना विज्ञानसे बुद्धिमान व्यक्ति स्पष्ट ही समझ सकते हैं। वेदके संहिता तथा ब्राह्मणभागमें अर्थकामप्रधान प्रवृत्तिमार्ग-का ही इसलिये वर्णन है। महर्षियोंने केवल अर्थकामके लिये ही अर्थकामकी सेवा न करके धर्मानुकूल अर्थकामकी सेवा करनेको कहा है ताकि धर्म्मरहित अर्थकामका जो दुःखमय परिणाम है सो जीवको प्राप्त न होकर धर्मानुकूल अर्थकामके द्वारा अन्तमें आनन्दमय मोक्ष-पदमें जीवकी प्रतिष्ठा हो। यही उनके इस प्रकार उपदेश करनेका तात्पर्य है और यह तात्पर्य कितना गम्भीर, दूरदर्शिता तथा सत्य-दर्शितासे पूर्ण है सो अर्थकामलक्ष्यके विषयमें धीर होकर थोड़ा विचार करनेसे ही पता लग जायगा। अर्थकाम जीवके चित्तमें विषय-वासनाको उत्पन्न करता है। जीव अर्थकामका दास होकर इन्द्रिय-सुखके लिये उन्मत्त हो जाता है। विषयवासनाका स्वरूप यह है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

विषयभोगके द्वारा विषयवासना निवृत्त नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है। इस-लिये जिस जातिमें अर्थकाम ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम लक्ष्य नहीं है वह जाति वासनाका दास बनकर उसीकी तृप्तिके लिये संसारमें किसी प्रकारके अधर्माचरणमें भी सङ्कोच नहीं करती है। काञ्चनमें आसक्त जीव मिथ्या, प्रतारण, चोरी, कपटव्यवहार,

दूसरेको ठगना, नरहत्या आदि सभी पापकर्मके द्वारा अर्थ संग्रहमें रात दिन व्यग्र रहता है। काममें आसक्त जीव उससे भी अधिक पशुभाव प्राप्त हो जाता है, क्योंकि एक तो कामसेवाके द्वारा कामाग्नि बढ़ती ही रहती है, दूसरा कामसुख मनका अभिमानमात्र होनेसे नवीन भोग्यवस्तुमें कामुक, स्त्रीपुरुषको अधिक सुखकी प्रतीति हुआ करती है। इसलिये जिस जातिमें धर्महीन काम ही लक्ष्य है वहाँके स्त्रीपुरुषोंमें व्यभिचारका विस्तार होना स्वतः सिद्ध है। इसीसे विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि धर्म्महीन अर्थकामपरायण जातिकी अन्तिम दशा क्या होगी। अर्थलोलुप बनकर सम्पत्ति संग्रहके लिये दूसरोंकी सम्पत्ति तथा दूसरोंका धन उन्हें ठगकर या उनसे लड़कर लेनेकी स्वभावतः ही इच्छा होगी। कामका दास बन कर परस्त्रीके छीननेकी या दूसरेको वञ्चना करके लेनेकी स्वतः ही इच्छा होगी। फल यह होगा कि अर्थकामपरायण जातिके भीतर अन्तर्विवाद, परस्परमें कलह, प्रतारना और संग्राम सदा ही बना रहेगा और यह दोष जब समस्त जातिके भीतर फैल जायगा तो ऐसी जाति दूसरी जातिका सम्पत्तिहरण अथवा बलात्कारसे युद्धादि द्वारा सम्पत्ति आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगी। इसीसे जातीय संग्राम या जातीय महासमर भीषणरूपसे प्रवृत्त होकर जातीय शान्ति, जातीय प्रेम सभीको ग्रास कर लेगा। यूरोपका महासमर इसी धर्महीन अर्थकामपरताका ही विषमय परिणामस्वरूप था और जब तक समस्त संसारमें धर्म्ममूलक अर्थकामसंग्रहकी प्रवृत्ति नहीं होगी तब तक बीच बीचमें इस प्रकार संग्राम सर्वथा अपरिहार्य है। कुरुक्षेत्रका महासमर जिसके तीव्र अनलमें चिरकालके लिये भारतीय वीरता भस्मीभूत होगई है, वह भी कौरवोंकी धर्महीन अर्थकामपरायणताका ही चरम परिणाम था। अर्थ-काम तथा राजसिक शक्तिके मदमें उन्मत्त होकर दुर्योधनने जब

धर्मकी कुछ भी परवा नहीं की और कपटता, प्रवञ्चना तथा घोर अधर्मका आश्रय लेकर धार्मिक पाण्डवोंको अनन्त दुःख दिया तभी कुरुक्षेत्रका महासमर प्रारम्भ हुआ था । इसी प्रकारसे जगत् प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जातिका भी विनाश धर्महीन अर्थकाम सेवाके द्वारा हुआ था । यूरोपके नाना देशों पर अधिकार विस्तार करके सम्पत्ति तथा प्रभुताके मदमें अत्यन्त उन्मत्त होकर रोमन-जातिमें विषय लालसा बहुत बढ़ गई थी । अति घृणितरूपसे कामसेवा, व्यभिचार, पशुओंके साथ अप्राकृतिक इन्द्रिय संसर्ग, ये सब उनके सामाजिक आचारमें परिगणित तथा निर्दोष आनन्दके उपादान माने जाने लग गये थे । प्रकाश्य थियेटर आदिमें स्त्रीपुरुष मिलकर इन सब बीभत्स नारकीय दृश्योंको करने और देखने लग गये थे । तभी पापके गुरुभारसे वसुन्धरा कांप उठी थी और भीषण भूकम्पके द्वारा इटाली देशका अनेक अंश विध्वस्त हो गया था । और पश्चात् इसी अर्थकाममूलक महापापके फलसे रोमन जाति स्वाधीनताच्युत, विदेशीय जातिके द्वारा विदलित और नष्ट भ्रष्ट हो गई थी । यही सब धर्महीन अर्थकामपरायणताका अवश्यम्भावी कुपरिणाम है । ऐतिहासिक घटनाओंसे अर्थकाम मूलक पुरुषार्थके भीषण घोर दुःखमय परिणामका कुछ दिग्दर्शन कराया गया । यही यथेष्ट होगा । अब वर्त्तमान जगत्की सामाजिक स्थितिकी कुछ पर्यालोचना भी कर लेना उचित होगा । प्राचीन कालमें शूद्रमें कामलक्ष्यप्रधान धर्म तथा वैश्यमें अर्थलक्ष्यप्रधान धर्मकी ही व्यवस्था मानी जाती थी । और क्षत्रियोंमें धर्मलक्ष्य तथा ब्राह्मणमें मोक्षलक्ष्यका ही प्राधान्य माना जाता था । यद्यपि उस समय भी इन चारों वर्णोंमें इन चारों लक्ष्योंकी प्रधानता रहती थी, परन्तु उस समयके शूद्र और वैश्यगण भी वेदादि शास्त्र तथा उनके प्रणेता निवृत्ति धर्मपरायण ब्राह्मणोंके अधीन रहनेसे अर्थकामके संग्रहमें धर्मलक्ष्यको नहीं भूलते थे । और यह

कैसे सम्भव था सो वर्णाश्रमधर्ममूलक सदाचार पर थोड़ासा विचार करनेसे ही भली भाँति मालुम होगा। इस समय क्या यूरोप, क्या एशिया, क्या अमेरिकाकी बड़ी बड़ी सभ्यजातिओंकी सामाजिक रीति नीतिकी थोड़ी ही पर्यालोचनासे भली भाँति सिद्ध हो जायगा कि उन जातियोंकी सामाजिक परिस्थितिमें मोक्ष और धर्मका तो नाममात्र नहीं है। उनके सामाजिक आचार, व्यवहार, विवाहादि व्यवस्था-प्रणाली, अर्थसंग्रह, राज्यविस्तार, व्यापार-विस्तार, वैज्ञानिक तथा शिल्पादिकी उन्नति सभी केवल अर्थ-काममूलक हैं। घोर दुःखका कारण यह है कि इस समय भारत-वासी भी इसी नरकप्रद घोर अमङ्गलकर रीतिका अनुसरण करने लगे हैं। इसी कारण दूरदर्शी प्राचीन महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको लक्ष्य न बताकर आत्माको लक्ष्य बताया है और धर्मानुकूल अर्थ काम सेवा द्वारा अन्तमें मोक्षपदवीपर प्रतिष्ठा हो उसी आत्माराम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये उपदेश किया है।

पहले ही कहा गया है कि "सुखार्थाः खलु भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः" अर्थात् जीवकी यावतीय चेष्टा सुखलाभके लिये ही होती है। इस कारण अदूरदर्शी जीव अर्थकामकी भी सेवा सुखलालसासे ही करता है। किन्तु ऊपर लिखित वर्णनोंसे स्पष्ट होगा कि अर्थ काम जीवको वास्तवमें सुख न देकर अन्तमें घोर दुःखानलमें ही दग्ध करता है। शास्त्रमें त्रिगुणभेदसे जो तीन प्रकारके सुख बताये गये हैं उनमेंसे अर्थकामजन्य सुख राजसिक तामसिक है। राजसिक सुखका लक्षण यह है कि—

> विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
> परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे राजसिक सुख उत्पन्न होता

है, वह प्रथमतः अमृतकी तरह होनेपर भी परिणाममें विषवत् दुःखदायी तथा प्राणघातक है। पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें भलीभांति इस बातको सिद्धकर दिखाया है कि मोक्षकी तो बात ही नहीं है, धर्मको अपने सम्मुख न रखकर केवल अर्थ और कामके लिये जो अर्थ कामका संग्रह जीव करता है, उससे उपस्थित राजसिक और तामसिक सुख कुछ होनेपर भी अन्तमें वह व्यक्ति अवश्य ही घोर नरकका अधिकारी होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। विषय सुखमें दुःख क्या है इस विषयमें भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।" विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेक प्रकारके दुःख होनेसे विवेकी पुरुषके निकट विषयसुख दुःखरूप है। चित्तकी शांति ही सुखका कारण है, किन्तु विषयसेवा द्वारा विषयस्पृहा पुनः पुनः बलवती होकर चित्तको कदापि शान्त होने नहीं देती है इसलिये भोगकालमें भी भोगीका चित्त भोगमुग्ध तथा चञ्चल होकर दुःखी ही रहता है। मन चञ्चल रहता है किन्तु इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर काम नहीं देती हैं, भोगान्तमें प्रतिक्रियाद्वारा समस्त शरीर तथा मन अवसन्न, क्लांत, मृतवत् होकर अगाध दुःख तथा अनुतापके समुद्रमें डूब जाता है, वासनाकी शान्ति नहीं, किन्तु उसकी तृप्तिके पहले ही शरीर भोगपरिणाममें अवश्यम्भावी अति कठिन रोगोंके द्वारा ग्रस्त हो जाता है, जिससे अकालमृत्यु, अति कष्टप्रद मृत्यु आदि सभी दुःख जीवको प्राप्त होते हैं—ये ही सब विषयसुखके साथ अवश्य भोक्तव्य परिणामदुःख हैं। भोगदशामें समभोगी या अधिकभोगीको देखकर ईर्षादिद्वारा महान् तापदुःख भोगीको प्राप्त होता है। और अन्तमें भोगमें असक्त वृद्धावस्थामें भोग्यवस्तुओंका स्मरण करके संस्कारदुःख

होता है। इस प्रकारसे विषयसुखके साथ परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःखका नित्य संबन्ध होनेसे विचारवान् पुरुषगण विषयसुखको दुःखरूप ही समझते हैं। जब राजसिक विषयसुखके साथ ही इतना दुःख है तो उसके तामसिक होजानेपर प्रमाद, मोह आदि-द्वारा विषयसुख कितना दुःखप्रद होगा इसका वर्णन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः केवल इह जन्ममें ही विषयसुखसहचर दुःखकी समाप्ति नहीं होती है। उसका संस्कार कर्माशयमें एकत्रित होकर मृत्युके समय, मृत्युके अनन्तर प्रेतादियोनि, तथा नरकादिमें पुनः पुनः जन्म मरणमें जीवके लिये अशेष दुःखका कारण बनता है। आजीवन सेवित विषयको जीव मृत्युके समय छोड़ नहीं सकता है, किन्तु भोगसे तृप्ति होनेके पहले ही काल जीवनतरुका छेदन कर देता है, अतृप्त विषयी अत्यन्त दुःखके साथ संसारको छोड़कर परलोकमें जाता है, विषयके उन्मादमें अनुष्ठित अधर्माचरणोंको स्मरण करके अनुतापके अनलमें दग्ध होने लगता है, वासनाके केन्द्र स्त्री पुत्रपरिवारोंके सामने विलाप करते हुए देखकर उसका प्राण फटता है और इस प्रकारसे विषयमुग्ध होकर मरनेसे निश्चय ही जीवको मरणानन्तर प्रेतयोनि प्राप्त होती है। प्रेतयोनिमें वासना-विदग्धजीवको दारुणदुःख भोगना पड़ता है, उसको क्षण भरके लिये भी उस योनिमें शान्ति नहीं मिलती है, वासना हृदयमें बलवती रहनेपर भी उसके भोगनेमें असमर्थताके कारण प्रेतके हृदयमें अशान्तिकी अग्नि सदा ही जलती रहती है, इत्यादि इत्यादि अनेक दुःख भोगके बाद अर्थकामपरायण जीवको पूर्व असत्कर्मानुसार नरकलोकमें भी अनेकप्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन आदि नरकोंका दुःख शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। उनमें भीषण कष्ट पानेके बाद पुनः मातृगर्भमें प्रविष्ट होकर दस महीने तक जीवको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। तदनन्तर गर्भसे निकलने-

के समय अनेक कष्ट पाकर पूर्व मन्दकर्मानुसार हीन योनियोंमें जीव-का जन्म होता है। अन्यायरूपसे अर्थोपार्जनकारी दरिद्रके घरमें उत्पन्न होकर आजीवन दुःख पाते हैं। कामपरायण पापी काम-सम्बन्धीय अनेक कष्टोंको झेलते हैं। इसी प्रकारसे अर्थकाम वासना द्वारा नवीन नवीन संस्कार उत्पन्न होकर जीवको घटीयन्त्रकी तरह जन्म-मरण चक्रमें घुमाया करते हैं और सहस्र प्रकारसे जीवहृदयमें अनन्त दुःखके दारुण दाहको बढ़ाया करते हैं। क्षणभङ्गुर अर्थकाम-मूलक विषय सुखके साथ इतना परिणामादि दुःख सम्बन्ध होनेसे ही दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको जीवनका लक्ष्य न बताकर आत्माको ही जीवनका लक्ष्य बताया है और धर्मके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमें अग्रसर होकर उसी नित्यानन्दमय आत्मा-की उपलब्धिको ही आत्यन्तिक लक्ष्य करके वर्णन किया है।

सुख क्या है? वास्तवमें विषय सुखनिदान है कि नहीं? इस विषयमें विचार करके पूज्यपाद महर्षियोंने यह तत्त्वनिर्णय किया है कि विषय सुखनिदान नहीं है, किन्तु आत्मा ही सुखनिदान है। विषयमें सुखकी तात्त्विक सत्ता नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो सभी वैषयिक वस्तुओंसे सभीको सुखबोध होता। किन्तु ऐसा नहीं होता है। एक ही पदार्थ किसीको सुखकर और किसीको दुःख-कर प्रतीत होता है। इतना तक कि एक ही पदार्थ किसी समय सुखकर तथा अन्य समय दुःखकर जान पड़ता है। बालकका खेल बालकपनके लिये ही सुखकर है, वही बालक यौवनकालमें उसमें कोई भी सुख अनुभव नहीं कर सकता है, यौवनमें कामिनी उसको सुखदायिनी प्रतीत होती है, किन्तु वही कामिनी बालकके लिये कुछ भी सुखदायिनी नहीं बन सकती है; कामीके लिये कामिनीकाञ्चन सुखदायक है किन्तु वैराग्यवान्‌के लिये वही कामिनीकाञ्चन अति दुःखदायी है, किसीको मिष्टद्रव्य प्रीतिकर जान पड़ता है और

किसीको मिठाई अच्छी न लगकर खटाई ही अच्छी लगती है, किसीको जङ्गलके दृश्य अच्छे लगते हैं और किसीको शहरके दृश्य प्रीतिकर प्रतीत होते हैं। यदि कामिनी काञ्चन मिठाई खटाई आदि वैषयिक वस्तुओंमें सुखकी तात्त्विक सत्ता होती तो अवश्य ही बालक, युवक, वृद्ध सभीको सभी अवस्थामें वे सुखदायक जान पड़ती, परन्तु ऐसा जब नहीं होता है तो निश्चय हुआ कि किसी वैषयिक पदार्थमें सुखकी तात्त्विक सत्ता नहीं है। परमात्मा आनन्दरूप है, श्रुतिने उनको रसरूप करके वर्णन किया है इसलिये परमात्मामें ही आनन्दकी तात्त्विक सत्ता विद्यमान है। परमात्मा विभु है, सभी जीवके अन्तःकरणमें उनकी आनन्दमयी सत्ता प्रतिबिम्बरूपसे विद्यमान है। जिस प्रकार चञ्चल जलमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब रहनेपर भी चाञ्चल्यके कारण ठीक ठीक प्रतिभास नहीं होता है, किन्तु जलके शान्त होते ही सूर्य्य प्रतिबिम्ब पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार चञ्चल जीवचित्त जब किसी विषयके अवलम्बनसे थोड़ीदेरके लिये शान्त तथा एकाग्र हो जाता है तभी उसी विषयमुग्ध एकाग्र अन्तःकरणमें अन्तर्विहारी आनन्दमय आत्माका प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। जीवको विषय सुख नहीं देता है, किन्तु विषय थोड़ी देरके लिये चित्तको शांत कर देता है, और उसी शांत अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आत्माका आनन्द जीवको भीतर भीतर अनुभव होने लगता है। इसीको शास्त्रमें विषयसुख कहा गया है। वह ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्ब मात्र है, यथार्थ ब्रह्मानन्द नहीं है। वेदमें भी ऐसा ही कहा है यथा—"एषोऽस्य परमानन्दोऽन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते" ब्रह्मानन्द अखण्ड और असीम है, जीवगण विषयके द्वारा उसीके अंशमात्रका आस्वादन करते हैं। किन्तु इस अंशमात्रका आस्वादन यदि लगातार निरवच्छिन्नरूपसे रहता और उसके साथ कोई

दुःख मिला हुआ न रहता तो भी विषयी जीवके लिये मनोविनोदनका आश्रय बन सकता। किन्तु प्रकृतिके क्षणभङ्गुर तथा परिणामधर्मी होनेके कारण जैसा कि पहले वर्णन किया गया है उसी अंशमात्र सुखके साथ परिणाम तापादि जन्य हजारों प्रकारके दुःख मिले हुए रहते हैं जो भोगकालमें, भोगके अन्तमें, परिणाममें तथा जन्म जन्मान्तर तकमें विषयसुखप्रयासी जीवको दुःखके अतल समुद्रमें डुवा देते हैं और समस्त सुखस्मृतिको मिट्टीमें मिलाकर अन्तमें दुःख ही दुःख कर देते हैं। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने यही सिद्धान्त निर्णय किया है कि जब विषयमें तात्त्विक सुखके लिये कोई भी उपादान नहीं है, आत्मा ही यथार्थ सुखके दाता है विषय केवल चित्तको एकाग्र करके आत्माभिमुखीन कर देता है तो इस प्रकार दुःखपरिणामी, क्षणभङ्गुर विषयके आश्रयसे क्यों चित्तको एकाग्र तथा आत्माभिमुखीन किया जाय, क्यों नहीं आत्माके ही अवलम्बनसे उपासनादि द्वारा चित्तको आत्माभिमुखीन किया जाय जिससे निशिदिन आत्मामें चित्त एकाग्र होकर दुःखपरिणामी विषयसुखकी अपेक्षा शतगुण अधिक दुःखलेशहीन विमल आनन्द जीवको प्राप्त हो सके और अन्तमें परमात्मामें समाधि द्वारा लवलीन होकर जीवका जीवत्व ही छूट जाय तथा जीवको अविनश्वर शाश्वत नित्यानन्दका समुद्र प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार विचार करके ही महर्षियोंने तथा श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे कहा है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥
> यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
> तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

विषयके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श होने पर जो कुछ सुख होता है वह दुःखका ही खान है, वह आदि अन्तसे युक्त तथा क्षणभङ्गुर है इस कारण विवेकी जनोंको उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये। विषय वासनाका क्षय होनेपर जो महान् सुख साधकको मिलता है उसके षोड़शांशके एकांश भी सुख न कामसेवासे प्राप्त होता है और न स्वर्गके दिव्य भोगमें ही प्राप्त होता है। निर्विषयचित्त निष्पाप योगी परमात्मामें सदा युक्त होकर असीम अक्षय आनन्दका लाभ करते हैं। अतः इन सब विचारोंसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि विषय लक्ष्य न होकर परमात्मा ही जीवका लक्ष्य होना चाहिये। और उसीमें मनुष्यकी वास्तविक उन्नति तथा यथार्थ सुख शान्ति प्रतिष्ठित है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थ कामको लक्ष्य न बता कर धर्म मोक्षको ही लक्ष्य बताया है।

आत्मा ही आर्य्यजातिका लक्ष्य है, आत्माके राज्यमें विराजमान होना ही आर्य्यजातिके लिये स्वराज्य प्राप्ति है, इसी स्वराज्य लाभके लिये ही आर्य्यजाति आदिकालसे अनन्त दुःखमय संसारमें घटी यन्त्रकी तरह घूम रही है। स्थूलशरीरका स्वराज्य, सूक्ष्मशरीरका स्वराज्य सभी इसी आध्यात्मिक स्वराज्यसिद्धिमें सहायक मात्र है। इन सभोंको सहायक तथा आध्यात्मिक स्वराज्यसिद्धिके साधकरूपसे करना ही आर्य्यशास्त्रानुकूल है, बाधकरूपसे करना आर्य्यजातिका शास्त्रसम्मत आदर्श नहीं है। यही अन्यान्य जातियोंसे आर्य्यजातिकी विशेषता है। आचारकी विशेषता, वर्णाश्रमकी विशेषता आदि सभी विशेषता इसी स्वराज्यसिद्धिरूप ऐकान्तिक विशेषताकी सहायिका है। सो कैसे है तथा आध्यात्मिक स्वराज्यलाभके लिये

क्या क्या उपाय आर्य्यशास्त्रमें बताये गये हैं सो नीचे क्रमशः वर्णित किये जाते हैं ।

आत्माके राज्यमें पहुँचनेके लिये तीन बाधाएँ हैं जिनके दूर किये विना जीव कदापि स्वराज्यमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है । आत्माके ऊपर स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीरके तीन पर्दे हैं जिनसे आत्माका राज्य अति दूरवर्त्ती तथा अति परोक्ष जान पड़ता है । स्थूलशरीरके पर्देको मल, सूक्ष्मशरीरके पर्देको विक्षेप तथा कारणशरीरके पर्देको आवरण कहा जाता है । अतः मल, विक्षेप, आवरणके दूर किये विना स्वराज्य नहीं मिल सकता है । आर्य्य-महर्षियोंने मल विक्षेप आवरणके दूरीकरणार्थ कर्म-उपासना-ज्ञानका अनुष्ठान बताया है । विहित कर्मानुष्ठान द्वारा मलनाश, उपासना द्वारा विक्षेप नाश और ज्ञान द्वारा आवरण नाश होता है । तब जीवको आत्माकी उपलब्धि द्वारा स्वराज्यसिद्धि होती है । अब इन तीनोंके द्वारा मल–विक्षेप–आवरण नाश कैसे होता है सो बताया जाता है । जीवसत्ता बहुत ही क्षुद्र तथा देशकालवस्तु-परिच्छिन्न है और ब्रह्मसत्ता अति वृहत्, विभु तथा देशकाल वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न है । इस लिये जब तक जीव अपने व्यष्टि शरीर-के ऊपर ही ममताग्रस्त होकर उसीके सेवामें लालायित रहता है तब तक उसकी आत्मा उदार नहीं बन सकती है और न जीवकी क्षुद्रता नष्ट होकर विराट ब्रह्मके साथ एकता हो सकती है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा जीव अपनी क्षुद्रसत्ताको उदार करता हुआ तथा अनुदार मलोंको दूर करता हुआ ब्रह्मकी विराट सत्ताके साथ धीरे धीरे एकतायुक्त हो सकता है । इस लिये वेदमें कर्मयोगका उपदेश किया गया है । कर्मयोग स्वराज्यप्राप्तिका एक प्रधान उपाय है । निष्कामता, स्वार्थसङ्कोच, तथा दूसरेके सुखके लिये आत्म-सुख विसर्जन इसके प्रधान साधन हैं । इसका प्रथम अनुष्ठान

पारिवारिक राज्यमें ही प्रारम्भ होता है। charity begins at home उदारता घरमें ही प्रारम्भ होती है ऐसा वचन भी मिलता है। मनुष्य एक परिवारमें रहकर स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजनोंके लिये अपना स्वार्थ त्याग करना सीखता है। उनके सुखमें सुखी होना, उनके दुःखमें दुःखी होना, उनके सुखके लिये अपना सुख त्याग करना—इस प्रकारसे अभ्यास करते करते जीवभावसुलभ स्वार्थपरताका सङ्कोच और ईश्वरभावसुलभ परार्थपरताका विकाश होने लगता है। तदनन्तर यही परार्थभाव उदार होता हुआ ग्रामसेवा, प्रदेशसेवा, जातिसेवा इत्यादि क्रमसे समग्र देशसेवामें जब जीवके चित्तको नियोजित करता है तभी वह महान् आत्मा धर्मवीर, कर्मवीर स्वदेशसेवी कहलाता है। प्राचीन रोमजातिमें इस प्रकार कर्मवीरकी पूजा देवताकी तरह हुआ करती थी और इसका नाम Hero-worship या वीरपूजा था। आधुनिक युरोपियन जातिके भीतर भी कर्मवीरोंका सम्मान होता है। किन्तु रोमनजातिकी देशसेवा और अर्वाचीन युरोपीयन जातिकी देशसेवामें बहुत कुछ अन्तर है। रोमनजातिकी स्वदेश तथा स्वजातिसेवामें परजातिविद्वेष या परजातिपीड़न नहीं था। वे दूसरी जातिको पीड़ित करके अपनी जातिकी पुष्टि नहीं करते थे, केवल आत्मकल्याणके विचारसे ही देशसेवा करते थे। किन्तु वर्त्तमान युरोपमें वह आदर्श नामशेष रह गया है। वर्त्तमान युरोपका स्वदेशप्रेम बहुधा परदेश तथा परजातिपीड़न पर ही निर्भर करता है। वे परकीय द्वेषके द्वारा आत्मीय प्रेमका परिचय प्रदान करते हैं। किन्तु संसारकी स्थिति तथा शान्ति तमोगुणमूलक द्वेषके द्वारा नहीं हो सकती है, सत्त्वगुणमूलक प्रेमके द्वारा हो सकती है। इसी कारण यूरोपकी स्वदेशसेवामें शान्ति नहीं फैल रही है, किन्तु द्वेषकी अग्नि क्रमशः बढ़कर जातीय घोर संग्राम फैल रहे हैं। आर्य्यजातिकी देशसेवा ऊपर

लिखित दो प्रकारकी देशसेवाओंसे बहुत कुछ उन्नत आदर्शयुक्त है। आर्य्यजाति स्वदेशका विराट् पुरुषका उत्तमांग समझती है और निष्कामभावसे भगवत्पूजा समझकर देशकी सेवा करती है। आर्य्यजातिकी देशसेवामें फलाकांक्षा या देशोन्नतिका अभिमान नहीं है। क्योंकि फलाकांक्षा या अभिमानके साथ कार्य्य करनेसे सफलतामें 'मैंने ही किया' इस प्रकारसे अहंकार-जन्य बन्धनका उदय तथा विफलतामें असीम दुःखप्राप्ति और नैराश्यजन्य कर्त्तव्यत्यागकी भी इच्छा हो सकती है। ये दोनों ही कर्मयोगके लक्षण नहीं हैं। कर्मयोगमें—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तुम्हारा कर्ममें अधिकार है फलमें कभी नहीं, फलाकांक्षासे कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलता है ऐसा समझकर कर्मत्याग भी नहीं होना चाहिये—इस प्रकारका सिद्धान्त रहता है। कर्मयोगी संसारको भगवान्का रूप मानकर जगत्सेवा द्वारा परमात्माकी ही पूजा करता है। उसका सारा कर्त्तव्य ही भगवत्-पूजाके नैवेद्यरूपसे भगवच्चरणकमलोंमें समर्पित हो जाता है और पूजाका फलाफल भी भगवान्में ही अर्पित हो जाता है। यही प्राचीन आर्य्यजातिमें स्वदेशसेवाका महान् लक्ष्य था। समस्त जीव आत्माके ही रूप हैं, क्योंकि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ऐसा श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है। इसलिये स्व-देशवासी आर्य्यवीर देशवासीकी सेवा द्वारा भगवत्पूजाका आनन्दलाभ करते हैं और उसी सेवामें आत्मविसर्जन करके परमात्माके चरणोंमें ही विलीन हो जाते हैं। उनके लिये देशसेवामें मृत्यु नाश नहीं किंतु अमृतत्वका द्वारस्वरूप हो जाता है। इसी प्रकारसे आर्यवीर देशसेवा द्वारा यथार्थ स्वराज्यकी ओर द्रुत वेगसे अग्रसर होते हैं।

तदनन्तर कर्मयोगनिरत उदारहृदय पुरुषकी उदारता क्रमशः स्वदेशसे भूमण्डलके समस्त देशोंमें व्याप्त होकर उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव प्राप्त हो जाता है। इस भावमें समस्त संसार ही उनका स्वदेश बन जाता है, वे संसारके मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ स्वार्थ-त्याग तथा सुखत्याग करनेमें सदैव तत्पर रहते हैं। इस समय उनके हृदयोंमेंसे परजातिपीड़न, परजातिविद्वेष, परधर्मिविद्वेष आदि सभी क्षुद्रताएँ एकबार ही तिरोहित होजाती हैं और वे मनुष्य-मात्रको श्रीभगवान्का अंश तथा आत्मप्रतिबिम्ब समझकर सभीसे प्रेम-व्यवहार करते रहते हैं। इस भावमें स्वराज्यसिद्धि बहुत ही निकटवर्त्ती हो जाती है। किन्तु अभी भगवद्राज्यके अनेक अंश उनके उदार हृदयोंसे बाहर रहनेके कारण आर्यजातिकी स्वराज्यसिद्धि सम्पूर्ण नहीं होती है। इस कारण उदार कर्मयोगी मनुष्यमात्रके साथ साथ जीवमात्रके प्रति प्रेम करने लगते हैं; मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता सभीमें भगवत्कला जानकर सभीके साथ अपने उदार हृदयका सम्बन्ध स्थापन करते हैं। जैसा कि भागवतमें लिखा है—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

ईश्वर सकल जीवोंमें व्याप्त हैं इसलिये सभीको आत्माका अंश समझकर सभीका सत्कार करना चाहिये, इस सिद्धान्तके अनुसार उदारचेता कर्मयोगी विश्वके समस्त जीवोंके प्रति प्रीतिपरायण हो जाते हैं। इसके भी अनन्तर जब कर्मयोगीका आध्यात्मिक सम्बन्ध सजीव निर्जीव समस्त भूतोंमें, मनुष्येतर पश्वादि जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि, पितृ सभीमें तथा सबसे परे विराजमान परब्रह्ममें प्रतिष्ठित होजाता है, तभी उनको यथार्थमें पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति होती है। पूज्यपाद महर्षियोंने 'स भवति स्वराट्'

इत्यादि वेद वचनोंके द्वारा इसी स्वराज्यकी ओर लक्ष्य कराया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

आत्माको सकल भूतोंमें तथा सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञपरायण महात्मा स्वाराज्यलाभ करते हैं। इस स्वाराज्यका लाभ करनेसे ही सिद्धयोगी समस्त संसारको ब्रह्मरूपमें देखकर सभीसे प्रेम तथा सभीसे पवित्र आनन्द लाभ कर सकते हैं, उनको शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारकी स्वतन्त्रता पूर्णरूपसे प्राप्त हो जाती है और तभी श्रीभगवान् शंकराचार्यके वचनानुसार उनको अनुभव होता है कि—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

आनन्दमय ब्रह्म सर्वत्र अनुभवगम्य हो जानेसे समस्त जगत् ही नन्दनकानन है, सभी वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सभी जल गङ्गाजल है, सभी कार्य्य धर्मकार्य हैं, प्राकृत संस्कृत सभी वाक्य वेदवाक्य हैं, सभी भूमि वाराणसी है और सभी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है। यही स्वाराज्यमें विराजमान योगीका आनन्दमय अनुभव है। धर्म और मोक्षको लक्ष्य बनाकर अर्थ और कामको उसके सहायकरूपसे सेवन करनेपर अन्तमें यही आनन्दमय आत्माका राज्य प्राप्त हो जाता है और यही आध्यात्मिक लक्ष्यसंबंधमें आर्य्यजातिकी अन्य जातियोंसे परम विशेषता है। जिस प्रकार कर्मयोगके द्वारा मलनाश तथा चित्तकी पवित्र उदारताको बढ़ाते हुए योगी आत्माको लाभ कर सकते, हैं उसी प्रकार उपासना द्वारा चित्तके विक्षेप अर्थात् चाञ्च-

ल्यको दूर करके तथा ज्ञान द्वारा आत्मापर अनादि अध्यासजन्य आवरणको हटाकर स्थिर-धीर-चित्त ज्ञानवान् योगी परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने आत्मलक्ष्य सिद्ध करनेके अर्थ आर्य्यजातिको कर्म-उपासना-ज्ञानका समवेत अनुष्ठान बताया है और उसी लक्ष्यसे आर्य्यमुमुक्षु च्युत न होजाय इसलिये आत्मलक्ष्यसिद्धिके सहायकरूपसे सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि विशेषताका निर्देश किया है।

सारांश यह है कि, आर्यजाति आत्मराज्यको प्राप्त करना ही स्वराज्यप्राप्तिकी चरमसीमा समझती है। आत्मराज्यप्राप्तिके प्रधान तीन उपाय हैं; यथा-मल दूर करके स्थूल शरीरको शुद्ध करना, विक्षेप दूर करके मनोराज्यको शुद्ध करना और आवरण दूर करके बुद्धिराज्यको परिशुद्ध करना। इन तीन प्रधान उपायोंमेंसे मल दूर करनेके लिये निष्काम कर्मयोग प्रधान सहायक है। उस निष्काम कर्मयोगको यथार्थरूपसे अभ्यास करनेमें स्वधर्मियोंका हितचिन्तन, स्वजातिका हितचिन्तन और स्वदेशके लिये आत्मसमर्पण प्रधान सहायक है। सुतरां आर्यजातिके लिये स्वधर्म्मी और स्वजातिवात्सल्य अथवा स्वदेशप्रेम पूर्वकथित आध्यात्मिक स्वराज्य-पर लक्ष्य करके ही करनेकी महर्षियोंकी आज्ञा है। आर्यजातिको पूज्यपाद महर्षियोंके इस अति दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्तको अपने लक्ष्यनिर्णयमें सदा सम्मुख रखना उचित है।

अर्थकामको लक्ष्य न बना करके आत्माको आर्यजातिने क्यों लक्ष्य बनाया है इसका रहस्य ऊपर वर्णन किया गया। अब सदाचारादि आर्यजातीय विशेषताओंके द्वारा इस लक्ष्यकी सिद्धिमें कैसे सहायता पहुंच सकती है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको सदाचार कहते हैं। धर्म सत्त्व-गुणवृद्धिकारी और तमोगुणका नाशक होता है। इस कारण

पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा आदिष्ट सदाचारोंका पालन करनेसे अवश्य ही तमोगुणका नाश तथा सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यह पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर तमोगुण-प्रधान है, क्योंकि पञ्चतत्त्वोंके तामसिक परिणाम द्वारा ही स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। इसलिये स्थूलशरीर आत्माको प्रच्छन्न करनेवाला मलरूप है। उस मलको दूर न करके हम जितना उसे बढ़ावेंगे उतना ही आत्मा और भी प्रच्छन्न होकर स्वराज्यसिद्धि दूरवर्त्ती होजायगी। इस कारण खान पान स्नान शयन स्पृश्या-स्पृश्य इस विचारसे होना चाहिये, जिससे स्थूलशरीरका मल दूर होकर स्थूलशरीर सात्त्विक बन जाय और सात्त्विक स्थूलशरीरके प्रभावसे अन्तःकरण भी सात्त्विक बनकर आत्माकी साधना निरुपद्रव हो। स्थूलदेह सूक्ष्मशरीरका ही विस्तारमात्र है, क्योंकि सूक्ष्म शरीरमें अवस्थित प्रारब्धसंस्कारके अनुसार उसीके ही भोगार्थ भोगायतनरूपसे उसीके अनुरूप स्थूलशरीर जीवको मिलता है। इस कारण स्थूलका प्रभाव सूक्ष्ममें और सूक्ष्मका प्रभाव स्थूलमें बहुत कुछ पड़ता है। प्राणकी शक्ति, मनकी शक्ति तथा बुद्धिकी शक्ति भुक्त अन्नकी शक्ति पर ही निर्भर करती है। उपवास करने पर अन्नकी शक्ति नहीं मिलती है इस लिये प्राण, मन, बुद्धि सभी दुर्बल हो जाते हैं। अतः यह बात निश्चित है कि हम जिस प्रकार शक्तिप्रद अन्नका आहार करेंगे हमारी बुद्धि, मन, तथा प्राणमें भी ऐसी ही शक्ति होगी। तामसिक अन्नके खानेसे मन, बुद्धि, प्राण सभी तामसिक हो जायँगे। राजसिक अन्नके खानेसे सभी रजोगुण-सम्पन्न हो जायँगे और सात्त्विक अन्नके खानेसे मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग पर सत्त्वगुणका प्रभाव पड़ेगा। इसी लिये वेदमें लिखा है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

आहारकी शुद्धिसे सत्त्वगुण बढ़ता है,उससे सदसद् विचारकी स्मृति परिपक्क होती है। इसी प्रकारसे स्थूल सूक्ष्म शरीरोंका अभेद्य सम्बन्ध देखकर ही पूज्यपाद महर्षियोंने सदाचारपालन-रूपसे आर्य्यजातिके लिये सात्त्विक अन्नग्रहण, सात्त्विक रीतिसे स्नान, वस्त्र परिधान, शयन, बाह्यशौच आदि सब कुछ बताया है, जिनके शास्त्रानुसार पालन द्वारा स्थूल शरीरका मल दूर होकर स्थूल शरीर शुद्ध सात्त्विक तथा साधनाके योग्य बन सकता है और उसका प्रभाव सूक्ष्मशरीरपर पड़कर विक्षेप तथा आवरणकी भी निवृत्ति द्वारा आत्माकी उपलब्धि अनायास हो जाती है। यही स्वाराज्यसिद्धिके लिये सदाचारकी उपकारिता तथा अवश्य प्रयो-जनीयता है। इसी कारण अनार्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषताके निर्देश करनेमें सदाचारको भी विशेषताके एक अङ्गरूपसे बताया गया है।

आर्य्यजातिकी तीसरी विशेषता उसमें चिरन्तन प्रचलित वर्ण-धर्म है। इसी वर्णधर्मकी कृपासे ही अनेक विजातीय अत्याचार सहन करने पर भी आज तक आर्य्यजाति संसारकी अनेक जातियों-के बीचमें अपनी पृथक् सत्ताके प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुई है। काल-समुद्रमें बुलबुलेकी तरह उठकर कितनी ही जातियाँ पुनः उसीमें चिरकालके लिये विलीन हो गई हैं किन्तु यह केवल वर्ण धर्मकी ही महिमा है कि आज तक आर्य्यजातिकी सत्ता अक्षुण्ण है। वर्ण-धर्म किसको कहते हैं और प्रकृतिके त्रिगुणानुसार चार वर्ण स्वाभा-विकरूपसे कैसे बनते हैं इत्यादि इत्यादि विषय वर्णधर्म नामक अध्यायमें पृथक्रूपसे बताये जायेंगे। यहाँ पर इतना ही समझना यथेष्ट होगा कि वर्णधर्मने ही रजोवीर्यशुद्धि द्वारा आर्यपिता तथा आर्यमाताका पवित्र बीज अब तक बना रक्खा है, जिसके कारण आर्यजाति अन्य किसी जातिमें विलीन न होकर अपने अस्तित्वको

अटूट रखनेमें समर्थ हुई है। द्वितीयतः आध्यात्मिक स्वराज्यलाभके लिये वर्णधर्मकी उपयोगिता सर्वोपरि है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। पूज्यपाद महर्षियोंने चार वर्णोंकी स्वाभाविक प्रकृतिको देखकर धर्मव्यवस्था ऐसी बाँधी है, जिससे अनायास ही चारों वर्ण क्रमशः वैषयिक प्रवृत्तिको छोड़कर आत्माके राज्यमें प्रतिष्ठा पा सकते हैं। वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक कहा गया है। "प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः" ऐसा कर्ममीमांसादर्शनका सूत्र है। उद्दाम प्रवृत्तिके वशीभूत होकर ही जीव ब्रह्मसे च्युत हो मायाजालमें फँसता है और क्रमशः पशु पक्षी आदि मूढ़ योनियोंको प्राप्त करता है। वर्णधर्म जीवकी इस उद्दाम प्रवृत्तिको क्रमशः रोककर जीवको आत्माके राज्यकी ओर आगे बढ़ाता है, इसी कारण वर्णधर्म स्वराज्यसिद्धिमें परम सहायक माना गया है। जीवभावका प्रथम विकाश उद्भिज्ज योनिमें होनेके अनन्तर जीव प्रकृतिमाताकी ऊर्द्ध्वगतिशील स्वाभाविक धारामें बहता हुआ मनुष्ययोनि तक पहुँचता है। इन योनियोंमें प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार जीवकी आहार-मैथुनादि सभी प्रवृत्ति नियमित हुआ करती है। किन्तु मनुष्ययोनिमें आनेके साथ ही साथ अहंकारादि वृद्धिके द्वारा जीवकी इन्द्रियप्रवृत्ति अनियमित तथा उद्दाम होने लगती है। इसलिये उस अनियमित प्रवृत्तिके रोकनेके लिये यदि कोई शक्ति कार्य न करे तो मनुष्ययोनिसे पुनः अधोगति होनेकी आशंका जीवके लिये हो जाती है। यह वर्णधर्मकी ही महती शक्ति है जिससे जीवकी उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति क्रमशः रुककर मनुष्ययोनिमें जीवकी परमात्माकी ओर क्रमोद्र्ध्वगति बनी रहती है। इसी कारण मीमांसादर्शनने वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक कहा है। वर्णधर्म ही प्रकृतिके त्रिगुणभेदानुसार। जीवको पृथक् पृथक् कर्मनिर्देश द्वारा क्रमशः परमात्मप्राप्तिके मार्गमें आगे बढ़ाता है और जीवहृदयमें नैसर्गिकरूपसे विद्यमान प्रवृत्तिसम्बन्धीय

उद्दामभावको धीरे धीरे कम कर देता है। शूद्रयोनिमें तमोगुणका आधिक्य है; तमोगुणका स्वभाव धर्ममें अधर्म ज्ञान तथा अधर्ममें धर्मज्ञानरूप विपरीतकल्पनाका है। इस प्रकार विपरीत भावग्रस्त जीवको स्वयं कर्तृत्वका अधिकार देनेसे वह अवश्य कुकर्म करके अधोगति प्राप्त करेगा। इसीलिये वर्णधर्मने शूद्रको स्वयं कर्तृत्वका अधिकार न देकर त्रिवर्णकी आज्ञानुसार उनकी सेवाका ही अधिकार दिया है। इस प्रकारसे हार्दिक सेवा द्वारा शूद्रकी निम्नगामी प्रवृत्ति रुकेगी और वह अवश्य ही उच्चवर्णमें जन्मलाभ कर सकेगा। तदनन्तर वैश्ययोनिमें रजोमिश्रित तमोगुणका प्राधान्य है। रजोगुण रागात्मक होनेसे इस योनिमें अर्थादि विषयमें आसक्ति स्वाभाविक है और साथ ही साथ तमोगुण रहनेसे उस अर्थके द्वारा अनर्थ होना भी सम्भव है। इस कारण वर्णधर्मने वैश्यको कृषि वाणिज्य आदि द्वारा अर्थोपार्जन करनेको कहा, किन्तु इस उपार्जित अर्थको विषयसेवामें न बिगाड़कर गोरक्षा, अन्य वर्णोंकी रक्षा, सत्कर्ममें दान आदि धर्मकार्यमें व्यय करनेकी आज्ञा दी है। यदि वैश्य इस प्रकारसे स्वधर्मानुकूल आचरण करेगा तो अवश्य ही उसकी उद्दाम प्रवृत्ति रुककर उत्तरोत्तर उन्नत योनिमें उसका जन्मलाभ हो सकेगा। तदनन्तर क्षत्रिय योनिमें रजोमिश्रित सत्त्वगुणका स्वाभाविक प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे क्षत्रियजातिमें क्रियाशक्तिका आधिक्य होना नैसर्गिक है, किन्तु वह क्रियाशक्ति तमोगुणकी ओर न झुककर सत्त्वगुणकी ओर झुके इसलिये वर्णधर्म्मने क्षत्रियको धर्मरक्षा, राज्यपालन, पापियोंका दण्डविधान, प्रजाके सुखके लिये सर्वस्वत्याग, अधर्मसे देश और जातिकी रक्षा आदि सात्त्विक कार्यमें उस क्रियाशक्तिका उपयोग करनेके लिये उपदेश किया है। इस प्रकारसे सत्त्वगुणमूलक क्रियाके द्वारा क्षत्रिय अवश्य ही अपनी निम्नगामी प्रवृत्तिको दबाकर उन्नत परम

सात्विक योनिको प्राप्त कर सकेंगे। उसके बाद सबसे अन्तिम योनि अर्थात् ब्राह्मण योनि है। अन्तिम योनि होनेसे इसमें सत्त्व-गुणका ही नैसर्गिक प्राधान्य है। इसलिये जितेन्द्रियता, अन्तरिन्द्रिय बहिरिन्द्रियोंका संयम, तपस्या, ज्ञानार्जन, निष्काम कर्मयोग, जगत्सेवा, उपासना आदि सात्विक सभी कर्म ब्राह्मणके करने योग्य हैं, इन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण क्रमशः आत्माकी ओर अग्रसर होते होते अन्तमें निखिल प्रवृत्ति निरोधद्वारा मल विक्षेप आवरणको नष्ट करके परमात्माको अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे। यही ब्राह्मण योनिमें जीवका अन्तिम लक्ष्य है। अतः सिद्ध हुआ कि वर्णधर्म प्रवृत्तिनिरोध द्वारा जीवको स्वराज्यकी ओर अवश्य ही अग्रसर करते करते अन्तमें स्वराज्यकी उच्च पदवी पर प्रतिष्ठित कर देता है। उसी प्रकार समष्टिसृष्टिमें भी प्रथमतः उत्तमकोटिके मनुष्य उत्पन्न होनेपर भी प्रकृतिकी स्वाभाविक निम्नगतिके कारण जब मनुष्योंका चित्त अत्यन्त पापप्रवण होकर आत्मासे एक बार ही विमुख होने लगता है, तब चार वर्णरूपी चार बन्धके द्वारा ही यह निम्नगामिता रोक दी जाती है और वर्णानुकूल कर्त्तव्य निर्देश द्वारा समस्त मनुष्योंको परमात्माकी ओर क्रमशः अग्रसर किया जाता है। अतः क्या व्यष्टिसृष्टि, क्या समष्टिसृष्टि सभीमें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म ही स्वराज्यसिद्धिका अमोघ कारण है, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहितामें लिखा है—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥

विवाहविधिमें अपने वर्णमें विवाह होना ही धर्मानुकूल तथा प्रशस्त है। जहां धर्मविवाह न होकर कामजन्य विवाह हो, वहां अनुलोम विधिके अनुसार नीचेके वर्णकी स्त्री भी ली जा सकती है।

मनुजीके इस प्रकार कहनेका हेतु अन्वेषण करने पर भी आत्मोन्नति-प्रद वर्णधर्मकी ही महिमा देखनेमें आती है। ब्रह्मकी एक शक्तिसे प्रकृति पुरुष दोनों उत्पन्न होकर समस्त संसारका विस्तार होता है। प्रकृति अर्द्धाङ्गिनीरूपसे तथा पुरुष अर्द्धाङ्गरूपसे अपनी अपनी शक्तिके प्रभाव द्वारा सृष्टिक्रियामें सहायता करते हैं। जब तक ये दोनों पृथक् पृथक् रहें, तभी तक सृष्टिका वैचित्र्य है। अर्द्धाङ्ग तथा अर्द्धाङ्गिनी होनेसे दोनोंकी शक्ति समान है और शक्तिकी समानता होनेसे ही संघर्ष ठीक ठीक होकर सृष्टिक्रियाका विस्तार भी हो सकता है और क्रियाके अवसानमें प्रकृति पुरुषमें लय होकर दोनोंका मोक्षसाधन भी हो सकता है। आदि कारणमें जो व्यापार है, विश्व-प्रपञ्चके प्रत्येक कर्ममें वही व्यापार है। इसलिये प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न नारी, पुरुषके अंशसे उत्पन्न नरकी अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है। विवाहके द्वारा दोनोंका संयोग होता है। अर्द्धाङ्गिनी अर्द्धाङ्गमें मिलकर शक्तिसंघर्ष द्वारा सृष्टिका विस्तार करती है और इस प्रकारसे अर्द्धाङ्गमें क्रमशः लीन होकर अन्तमें दोनोंकी ही मुक्ति साधन कराती है। प्रगाढ़ मेलमें प्रेमकी प्रगाढ़ता ही मुख्य कारण है। वह समान वर्णमें विवाह होनेसे जैसा हो सकता है, असमान वर्णमें ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रेम हृदयकी एक शक्ति है, उसका दूसरे हृदयमें समानशक्तिके पानेसे ही संघर्ष ठीक ठीक होगा और संघर्षके द्वारा दाम्पत्य प्रेम परिपुष्ट होगा, उससे जो सृष्टिक्रिया होगी, वह भी यथोचित होनेके कारण दाम्पत्य-प्रेमसे उत्पन्न सन्तान धार्मिक तथा आत्मतत्पर होगी और अन्तमें वही दाम्पत्य प्रेम पति पत्नी दोनोंके लिये मोक्षका कारण बन जायगा। इसी कारण समान वर्णमें विवाहको श्रीभगवान् मनुजीने प्रशस्त तथा धर्मपरिणय कहा है। और असमान वर्णमें अनुलोम विवाहको कामपरिणय कहा है। काम चित्तकी निकृष्ट

वृत्ति होनेसे सदा निम्नगामी है। इस कारण अपनेसे नीचे वर्णकी स्त्रीके साथ विवाहकी इच्छा कामावेगसे ही होती है, धर्म्मभावसे नहीं होती है। समानवर्णके स्त्रीपुरुषमें शक्तिकी समानताके कारण जो पवित्र प्रेमकी उत्पत्ति होती है, असमान वर्णमें शक्तिकी असमानता रहनेसे सो भी होने नहीं पाती। इसलिये अनुलोम विवाहमें प्रेमका विकाश न होकर कामका ही विकाश होता है, जिससे विवाहित स्त्री पुरुष दोनों ही विषयमदान्ध होकर अत्यन्त हीनमतिको प्राप्त करते हैं। उनके लिये आत्मोपलब्धिका पथ एक बार ही अन्धकारमय हो जाता है। उनकी संतान भी कामज होनेसे हीनचेता तथा हीनकर्मा होती है। इस प्रकारसे अनुलोमविवाह द्वारा वर्णधर्मके व्यत्ययसे स्वराज्यलाभ दुर्लभ हो जाता है। और प्रतिलोम विवाहके कुपरिणामकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्रतिलोम विवाहके द्वारा ही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होकर जाति, वंश तथा देशको रसातलमें पहुंचाती है। जिस प्रकार अश्व तथा गर्दभके मेलसे उत्पन्न अश्वतर सृष्टि आगे नहीं चलती, उसी प्रकार वर्णसङ्करी सृष्टि भी आगे नहीं चलती। इस कारण प्रतिलोमविवाह द्वारा स्वराज्य प्राप्ति तो दूर ही रही, अधिकन्तु जातिका जीवित रहना ही असम्भव हो जाता है। जैसा कि श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

> यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
> राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव प्रणश्यति ॥

जिस राज्यमें वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, वह राज्य तथा उसकी प्रजा सभी शीघ्र नष्ट होजाते हैं। अतः सिद्धांत हुआ कि क्या परमात्माकी ओर जातिका अटूट लक्ष्य बनाये रखना, क्या जातीय जीवनको चिरजीवी बनाये रखना, दोनोंहीके लिये वर्णधर्मकी रक्षा तथा उन्नति एकान्त आवश्यकीय है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने आर्यजातिकी इतर जातियोंसे विशेषतावर्णनमें वर्णधर्मको

अति उत्तम स्थान दिया है। वर्णधर्मके द्वारा किस प्रकारके आध्यात्मिक उन्नतिशील जाति चिरजीवी होती है, रजोवीर्यकी शुद्धि द्वारा किस प्रकारसे मनुष्य जातिमें आध्यात्मिक क्रमोन्नतिकी शृङ्खला बनी रहती है और शुद्ध रज तथा शुद्ध वीर्य किस प्रकारसे आर्यजातिके आर्यपनको चिरस्थायी रख सकता है, इसका दार्शनिक प्रमाण वर्णधर्म नामक पृथक् अध्यायमें और भी स्पष्टरूपसे दिया जायगा।

जिस प्रकार वर्णधर्मकी सहायतासे प्रवृत्तिनिरोध द्वारा जीव क्रमशः परमात्माकी ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार आश्रमधर्मकी सहायतासे निवृत्तिपोषण द्वारा जीवकी गति परमात्माकी ओर बन जाती है। इस कारण वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्म भी आर्यजातिकी एक प्रधान विशेषता है। ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्न्यास, इन चारों आश्रमोंमें प्रवृत्तिसे संग्रामके लिये शक्तिलाभ तथा क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये महर्षियोंने ऐसी विधियाँ बताई हैं, जिनके यथाशास्त्र अनुष्ठान द्वारा अवश्य ही आर्यजाति आत्माके आनन्दमय पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। शक्ति एकान्तमें प्राप्त होती है यह प्राकृतिक विधि है। माताके एकान्तगर्भमें दस महिने तक रहनेसे ही भ्रुणको पूर्णशरीर जीव होकर पृथिवीमें उत्पन्न होनेकी शक्ति प्राप्त होती है। धरित्रीके एकान्त गर्भमें प्रच्छन्न रहनेसे ही बीजमें वृक्ष उत्पन्न करनेकी शक्ति आती है। महाप्रलयके एकान्त गर्भमें चिरकाल तक रहनेसे ही प्रलयविलीन जीवोंमें पुनः प्रकट होनेकी शक्ति आती है। निद्रादेवीके एकान्त अङ्कमें विश्राम करनेसे ही दिनमें कार्य्य करनेकी शक्ति आती है। इसी कारण महर्षिगण ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारी बालकको शक्तिमान् बनानेके लिये गर्भधारिणी माताके मोहमय अङ्कसे अति दूर आचार्य्यकी एकान्त सेवामें रहनेकी आज्ञा दे गये हैं। श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्ति ज्ञानमय वेदके द्वारा, अधिदैवशक्ति सूर्यात्माके द्वारा तथा अधिभूत शक्ति

पार्थिव अग्निके द्वारा प्रकट होती है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रममें वेदाभ्यास द्वारा अध्यात्मशक्तिलाभ, सूर्योपस्थान द्वारा अधिदैवशक्ति लाभ तथा अग्निसेवा द्वारा अधिभूत शक्तिलाभ ब्रह्मचारी बालकको हुआ करता है। और त्रिसन्ध्या तथा गायत्री उपासना द्वारा वरेण्य बुद्धिप्रेरक आदि देवताका तेजोलाभ हुआ करता है। उपानच्छत्रधारण त्याग द्वारा पार्थिव शक्ति तथा सूर्य्यशक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापन होनेसे उभय शक्तिका ही संग्रह होता है और मधुमांस त्याग, अष्टविध मैथुन त्याग आदि द्वारा इन्द्रिय संयम शक्तिका लाभ होता है। प्रतिगृह भिक्षाचर्यापूर्वक गुरुसेवा द्वारा दीनता, निरहंकार और परमगुरुन सेवाधर्मका नित्यानुष्ठान होता है। भिक्षा करते समय "भवति भिक्षां देहि मातः" इस प्रकारसे प्रत्येक स्त्रीको माता कहनेका संस्कार संग्रह होनेसे 'मातृवत् परदारेषु' इस जितेन्द्रियतामूलक देवभावका अनायास ही लाभ हो जाता है। केवल अपने पिता माताके अन्नसे शरीर पुष्ट न होकर समस्त स्वदेशवासियोंके अन्नसे शरीर प्रतिपालन होनेके कारण समग्र देशके प्रति अभिनिवेश उत्पन्न होकर देशसेवापरायणताकी पवित्र बुद्धि स्वतः ही प्रकट हो जाती है, इत्यादि इत्यादि समस्त विधियोंके द्वारा ब्रह्मचर्याश्रममें गार्हस्थोपयोगी धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा, आत्माकी ओर गति तथा प्रवृत्तिके साथ संग्राम द्वारा निवृत्तिलाभके उपयुक्त शक्ति प्राप्त होती है। जिस ब्रह्मचारीका प्राक्तन संस्कार अत्युत्तम है, वह ब्रह्मचर्याश्रमसे एक वार ही सन्न्यासाश्रममें प्रविष्ट हो सकता है। किन्तु जिसका संस्कार इतना उच्चकोटिका नहीं है, उसको धर्ममूलक प्रवृत्तिकी सहायतासे क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होना पड़ता है। यद्यपि ज्ञानहीन भावशुद्धिहीन धर्महीन प्रवृत्ति घृताहुत वह्निकी नाईं उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है, तथापि प्रवृत्ति धर्ममूलक होनेसे और उसके साथ ज्ञान तथा

भावशुद्धिका नित्य सम्बन्ध रहनेसे कालान्तरमें जाकर वह निवृत्ति-प्रसविनी अवश्य ही हो जाती है। गृहस्थाश्रममें इसीका साधन होता है। गृहस्थाश्रमके प्रधान कर्त्तव्य अतिथि सेवाद्वारा नररूपमें नारायणकी नित्य पूजा होती है, जिससे हृदयकी उदारता, पुण्य-लाभ और भगवत् शक्ति लाभ यथेष्ट होता है। पञ्चमहायज्ञके क्रियानुष्ठान द्वारा विराट् शक्तिसे एकता, तथा ऋषि-देवता-पितरोंकी त्रिविध शक्ति प्राप्त होती है। परिवारादि सभीके लिये आत्मसुखत्याग करनेका अभ्यास करते करते स्वार्थसङ्कोच, त्याग, संयम आदि सभी उन्नत्त वृत्तियाँ आने लगती हैं। एकपत्नीव्रत और शास्त्रनियमानुसार स्त्रीसेवाद्वारा प्रवृत्ति संस्कार क्रमशः क्षीण होकर निवृत्ति भावका उदय होने लगता है। सन्तानके प्रति स्नेह, पितृ-मातृ-भक्ति, दाम्पत्यप्रेम आदि मधुर दिव्य गुणावली स्वतः ही उन्मेषित होने लगते हैं। विषयसुखकी क्षणभङ्गुरता तथा परिणाम तापादि दुःखका उसके साथ अच्छेद्य सम्बन्ध अनुभव करके चित्तमें धीरे धीरे विषयके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इष्टोपासना द्वारा आत्माके प्रति गति अवश्य सम्भावी हो जाती है। बहु आत्मियोंका एक परिवारसे सम्बन्ध होनेसे, कई परिवारका एकाग्रवर्त्ती होनेसे, अनेक नरनारियोंका एक ही पारिवारिक स्वार्थमें सम्बन्धयुक्त रहनेसे और उस परिवारके नरनारियोंमें यथायोग्य अधिकारके अनुसार यथायोग्य आचरण करके निःस्वार्थ भाव प्राप्त करनेसे मनुष्यके चित्तकी उदार भूमिका उदारतर विस्तार होता है। और ऐसा ही भाग्यवान् गृहस्थ स्वधर्मसेवा, स्वजाति-सेवा और स्वदेशसेवाके लिये कालान्तरमें यथार्थ उपयोगी बन सकता है। पृथिवी भरमें और किसी जातिमें भी इस प्रकार गृहस्थधर्मकी उदारता नहीं दिखाई पड़ती है। हिन्दुगृहस्थधर्मकी महिमाका यह एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इत्यादि इत्यादि विधियोंके

द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थतासे निवृत्तिका परिपोषण होनेपर वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश हो जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिका विशेष अभ्यास होता है। विषयसे शिथिल गार्हस्थ शरीर वानप्रस्थाश्रममें कठिन तपस्या द्वारा परिपक्व होकर अग्निदग्ध काञ्चनकी तरह निर्मल हो जाता है, ऐसे निष्पाप शरीर तथा अन्तःकरणमें परमात्माकी उपासना तथा निवृत्तिकी प्रतिष्ठा स्वतः ही होने लगती है, जिसके फलसे संयमशील, तपस्वी, क्षीणकल्मष, वैराग्यवान् साधक निवृत्तिके पराकाष्ठाप्रद सन्न्यासाश्रमको लाभ कर सकते हैं। इसी तुरीयाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठामें ही पूर्ण स्वराज्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है, यथा वेदमें—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"

सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक महात्मा अमृतत्व प्राप्त हो गये हैं। विषयके पूर्णत्यागमें ही आत्माकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। सन्न्यासी वैराग्यके द्वारा विषयका त्याग करके अभ्यासके परिपाकमें आत्माकी उपलब्धि करते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि चार आश्रमके द्वारा क्रमशः जीव आत्माकी ओर ही अग्रसर होता हुआ अन्तिम आश्रममें परमात्माको प्राप्त कर ले सकता है। यही कारण है कि अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषता वर्णनमें वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्मको भी एक विशेषतारूपसे वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार सतीधर्म भी आर्यजातिकी एक अनूठी विशेषता है, जो संसारमें और किसी जातिके भीतर नहीं प्राप्त होती। पातिव्रत्यधर्म संयम तथा तपस्यामूलक है, तपस्विनी पतिव्रता नारी जीवन-मरणमें एक पतिके सिवाय अन्य पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन करना नहीं जानती, उनका शरीर मन प्राण पतिदेवताके चरणकमल-

में चिरविक्रीत है, सुखमें दुःखमें सभी दशामें वह एक ही पतिकी सेवामें समस्त जीवनको व्यतीत करती है। इस प्रकार जिस स्त्रीकी धारणा तथा पवित्र भाव है उसकी सन्तान अवश्य ही परम धार्मिक तथा आर्यगुणसम्पन्न होती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। और जिस जातिमें इस प्रकार सतीधर्म सामाजिक धर्मरूपमें परिगणित है वह जाति अवश्य ही आत्मलक्ष्यपरायण होगी इसमें भी अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः आर्यलक्ष्यसिद्धि तथा स्वराज्यसिद्धिके लिये वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिकी तरह पातिव्रत्यधर्मकी भी परमावश्यकता है यह निर्णय हुआ। विना पातिव्रत्यके स्त्रीजातिमें पुंश्चली वृत्ति होना स्वाभाविक है, जिसके फलसे जातिमें अनाचार, व्यभिचारादि दोष और आत्मलक्ष्यहीन पशुभावकी वृद्धि अवश्यम्भाविनी है। साथ ही साथ वर्णसङ्कर प्रजोत्पत्ति द्वारा पूर्ववर्णानुसार जातिका नाश होना भी सिद्ध है। अतः आर्य्यजातिके आध्यात्मिक लक्ष्य सम्पादन तथा जातीय चिरजीवनके लिये पातिव्रत्य धर्मकी विशेष आवश्यकता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। सतीधर्मका महत्व, सतीधर्मका विस्तारित लक्षण और सतीधर्मका दार्शनिक तत्त्व स्वतंत्र अध्यायमें कहा गया है।

यही आर्य्यजातिका यथार्थ स्वरूप तथा अन्यजातिसे विशेषता है और इसी स्वरूपके अनुकूल उन्नतिका पथ दिखलाना ही आर्य्यजातिके लिये यथार्थ उन्नतिका आदर्श निरूपण है। आर्य्यजाति जब आत्मलक्ष्यको अटूट रक्खेगी और उसकी पूर्णसिद्धिके लिये सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा पातिव्रतधर्मको पूर्णतया परिपालन करेगी तभी पृथिवीकी पवित्र सन्तान आर्य्यनामको अक्षुण्ण रखकर उन्नतिके उच्च शिखरपर आरोहण कर सकेगी। और यदि इन पाँचों शुभ लक्ष्योंको भूल जायगी, इनके सिद्धांतको अनावश्यक समझेगी, अथवा इनमेंसे किसीका भी अनादर

करेगी तो वह निश्चय ही आर्य्य नामसे अभिहित होने योग्य नहीं रहेगी। प्रत्येक आर्य्यसन्तानको अपनी व्यक्तिगत तथा समाजगत उन्नतिके आदर्शनिरूपणमें इन पांचों लक्ष्योंको संसारसमुद्रमें ध्रुव ताराकी तरह अपने नेत्रोंके सम्मुख रखना उचित है।

शिक्षादर्श।

(४)

पूर्व प्रबन्धमें आर्यजातिकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये जो आदर्श निरूपण किया गया है, शिक्षा उसी उन्नतिकी साधक है, अतः शिक्षाका भी आदर्श उन्नतिके आदर्शानुकूल होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति या जातिके भीतर जो मौलिक सत्ता स्वभावतः विद्यमान है, उसीको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्षण तथा लक्ष्य है। यदि किसी अश्वको शिक्षा देना हो तो उसके भीतर अश्वत्वकी जो मौलिकता विद्यमान है उसीको पूर्ण परिस्फुट करनेसे ही अश्वकी शिक्षा पूरी होगी। इसी प्रकार हस्तीको कलाकौशलसम्पन्न पूर्ण हस्ती बनाना ही हस्तीकी शिक्षा है। मनुष्यको पूर्ण मानव बनाना ही मनुष्यकी शिक्षा है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्यके भीतर जब पूर्ण मनुष्यत्वका बीज विद्यमान है तो शिक्षाका यही लक्ष्य होना चाहिये जिससे मानव पूर्ण मानव हो सके। प्रत्येक जीवमें जब ब्रह्मका बीज विद्यमान है तो जीवकी शिक्षा तभी पूरी होगी जब जीव शिक्षाके द्वारा भगवद् राज्यमें अग्रसर होता हुआ उसके परिपाकमें जीवत्वको छोड़कर ब्रह्मत्वको प्राप्त कर सकेगा। ब्राह्मण यदि शिक्षाके फलसे पूर्ण ब्राह्मण बन सके तभी ब्राह्मणकी शिक्षा सार्थक है। क्षत्रिय यदि शिक्षाके फलसे आदर्श क्षत्रिय वीरकी गौरवमयी पदप्रतिष्ठाको पा सके तभी

क्षत्रियकी शिक्षा सफल है। आर्यजाति यदि शिक्षाके द्वारा आर्य-जीवनके आदर्शको चरितार्थ कर सके तभी आर्यजातिकी शिक्षा सार्थक है। आर्यमाता यदि शिक्षाके द्वारा अपनी पवित्रता रक्षा करती हुई जगन्माताकी रूप बन सके तभी आर्य्यमाताकी शिक्षा सार्थक है; क्योंकि जब प्रत्येक स्त्रीमें जगन्माताका अंश विद्यमान है, तो शिक्षाद्वारा उसी जगन्मातृभावको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका आवश्यक लक्ष्य होगा। माताको माता बनाना ही माताकी शिक्षाका लक्ष्य है, उनको पिता बनाना शिक्षाका लक्ष्य नहीं है, क्योंकि उनके भीतर मातृत्वका ही बीज है, पितृत्वका नहीं; अतः सिद्ध हुआ कि व्यक्ति तथा जातिगत मौलिकताका पूर्ण विकाशसम्पादन ही शिक्षाका लक्ष्य है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिको अति प्राचीन समयसे लेकर नवीन भारतके इस नवीन संधि समय पर्यन्त शिक्षाराज्यमें अनेक विप्लव सहन करने पड़े हैं। जब प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण मनुष्य बनाना ही शिक्षाका लक्ष्य है तो आदर्श शिक्षा वही कहलावेगी जिसके द्वारा मनुष्यके अंतर्गत समस्त उपादान पूर्ण परिस्फुट हो सके। यदि मनुष्य केवल पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरका ही नाम होता तो केवल स्थूल शरीरको पुष्ट तथा सुखी बनाना ही शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य होता; किन्तु केवल पञ्चभूतोंके संघातको ही मनुष्य नहीं कहते हैं। आत्मा तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीररूपी उपाधित्रयसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं; अतः जिस शिक्षाके द्वारा आत्मा पूर्णोन्नत हो सके और साथ ही साथ स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर पूर्णताको प्राप्त हो जायँ वही शिक्षा आदर्शशिक्षा कहलावेगी; किन्तु शिक्षाका इस प्रकार पूर्ण आदर्श निर्णय जीव आत्माके राज्यमें अपनी क्रमोन्नतिके अनुसार ही कर सकता है। जो जाति आत्माके राज्यमें अभो तक अग्रसर ही

नहीं हुई है, किन्तु भौतिक जगत्में ही जिसके समस्त पुरुषार्थका पर्यावसान है वह जाति केवल स्थूल शरीरके उस सकल प्रकार उन्नतिप्रद शिक्षाको ही आदर्श शिक्षा अवश्य समझेगी। शिल्पकलाकी उन्नति, वाणिज्योन्नति, राजनैतिक उन्नति, भौतिकविज्ञान या सायन्सकी उन्नति आदि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षणिक सुखप्रद उन्नतियोंके लिये जिस प्रकार शिक्षाकी आवश्यकता होती है उसी शिक्षामें ही वह जाति अपनेको कृतकृत्य तथा पूर्ण शिक्षित और पूर्ण सभ्य समझेगी। आर्यजातिके सिवाय अन्य सब जातियोंने अभी तक भौतिक शिक्षाको ही चरम आदर्शशिक्षा समझ रक्खी है; क्योंकि उनकी दृष्टि प्रकृतिसे अतीत नित्यानन्दमय परमात्माकी ओर अभी तक गई नहीं है। इस कारण अपरा विद्यामें ही उनकी विद्याकी पराकाष्ठा है। स्थूल शरीरके ऊपर मन बुद्धि आदिके विषयमें उन जातियोंने जो कुछ छानबीन की है वे सब विचार भी मायातीत ब्रह्मके राज्यसे सुदूर ही हैं, क्योंकि उन सब विचारोंमें उन्होंने केवल लौकिक बुद्धिकी ही प्रखरता बतलाई है, आत्मोपलब्धि या ऋतम्भरा प्रज्ञाका कुछ भी परिचय उनके द्वारा नहीं मिलता है। किन्तु अनादिसिद्ध सनातन आर्यजातिके पितापितामह पूज्यपाद महर्षियोंने स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरके यथार्थ स्वरूपको तो देख ही लिया था, इसके सिवाय उन्होंने शरीरत्रयोपाधिसे निर्मुक्त आत्माके स्वरूपके विषयमें भी पूरा अनुसन्धान तथा अनुभव लाभ किया था। इस कारण उनके बताये हुए शिक्षादर्शमें कुछ भी असम्पूर्णता नहीं रह गई है। वे स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरके उन्नतिप्रद शिल्प, सायन्स, राजनीति, धर्मनीति, दर्शनशास्त्र, योगविज्ञान आदिकी शिक्षाके लिये भी यथेष्ट उपदेश दे गये हैं और अन्तमें आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दप्रद ब्रह्मद्वारके उद्घाटनके लिये भी आर्य्यजातिके हाथमें पराविद्याकी कुञ्जी दे गये हैं। इसी लिये आर्य्यजातिके आदिग्रन्थ वेदमें

परा अपरा नामक दो विद्याएँ बताई गई हैं यथा—मुण्डक श्रुतिमें—

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

वेदके कर्मकाण्डमें वर्णित इहलोक परलोकमें सुखशान्ति तथा उन्नतिप्रद समस्त विद्या अपरा है और अक्षर परमात्माकी उपलब्धि जिससे होती है वह विद्या परा है। परा अपरा दोनों मिलकर ही शिक्षा पूर्ण है इसी कारण आर्य्यजातिने केवल शिल्प, पदार्थविद्या, सायन्स आदिकी शिक्षाको ही पूर्ण शिक्षा नहीं समझी है। उनके विचारमें भौतिक उन्नतिकी शिक्षाके साथ साथ मानसिक उन्नति, बुद्धिकी उन्नति, धर्मोन्नति और आत्माकी पूरी उन्नति जिस शिक्षाके द्वारा हो सकती है वही शिक्षा सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्शशिक्षा है, अतः सिद्ध हुआ कि शिक्षाके विषयमें आर्य्यजातिके साथ अन्य सब जातियोंके अनेक विचार तथा आदर्शभेद पाये जाते हैं। विचारकी सुविधाके लिये नीचे उन भेदोंके कुछ उल्लेख किये जाते हैं।

(क) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार पुरुषार्थोंके भेदानुसार आर्य्यशास्त्रमें अधिकार विचारसे चार प्रकारकी शिक्षाप्रणाली निर्दिष्ट की गई है। ब्राह्मणवर्णका शिक्षादर्श मोक्षप्रधान, क्षत्रियवर्णका धर्मप्रधान, वैश्यवर्णका अर्थप्रधान और शूद्रवर्णका कामप्रधान बताया गया है। अन्य जातियोंमें शिक्षाके इन चार लक्ष्योंका यथावत् परिज्ञान नहीं है और न अधिकार भेदका ही विचार है।

(ख) आर्य्यशास्त्रानुसार शिक्षा षोढ़श प्रकारके धर्मसंस्कारोंमेंसे एक प्रधान धर्मसंस्कार है। इसको संस्कारविधिक्रममें वेदारम्भ नामक अष्टम संस्कार कहा जाता है। इस प्रकारसे संस्कारोंके अन्तर्गत होनेके कारण आर्यजातीय शिक्षादर्शके साथ धर्मशिक्षाका

अच्छेद्य सम्बन्ध है। आर्य्यशास्त्रमें धर्महीन विद्याको अविद्या, धर्महीन शिक्षाको कुशिक्षा तथा सकल अनर्थोंकी जननी कहा गया है; किन्तु अन्य जातियोंमें इस प्रकार धर्ममूलक शिक्षाप्रणाली एकबार ही नहीं है। वहाँ शिक्षाके साथ धर्मका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनके सिद्धांतके अनुसार एक महापापी भी परम शिक्षित पण्डित हो सकता है जिसका वर्त्तमान युगमें यही कुपरिणाम देखनेमें आ रहा है कि धर्महीन आस्तिक्यहीन शिक्षा तथा सभ्यताके फलसे पश्चिम देशोंमें घोर अशान्ति, भीषण संग्राम, अनाचार तथा राष्ट्रविप्लव दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है। वे सब आर्य्यजातीय शिक्षादर्शसे सम्पूर्ण विपरीत हैं।

(ग) आचारके प्रथमधर्म होनेसे आर्य्यजातीय शिक्षादर्शके साथ सदाचारका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्णधर्म और आश्रम धर्मकी मर्यादा भी दूसरा प्रधान लक्ष्य है; किन्तु अन्यजातियोंमें सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्मका संस्कार तक नहीं है और न इनके अनुकूल शिक्षापद्धतिका प्रचार ही है। वहाँ श्रमविभागके अनुसार शिक्षाविभागके न होनेसे अप्राकृतिक साम्यवादका आन्दोलन और उसकी अशान्तिकर प्रतिक्रिया है।

(घ) आर्य्यजातीय शिक्षादर्शमें धर्म तथा अध्यात्मलक्ष्य मुख्य है, परलोकमें अभ्युदयका पूरा विचार है और आत्मोन्नति तथा मुक्तिकी उत्तम साधन विधि है। किन्तु इतरजातीय शिक्षादर्शमें अर्थ काम ही एक मात्र लक्ष्य है, आत्मोन्नति या मुक्तिका नाम भी नहीं है और इहलोक-भोग्य इन्द्रिय-सुखके लिये ही साधन-विधिका भरमार है।

(ङ) आर्यजातीय शिक्षादर्शमें अर्थकामके साधकरूपसे शिल्पतथा भौतिक विज्ञानकी शिक्षा आदरणीय होने पर भी जीवनका चरम लक्ष्य वह कदापि नहीं था। धर्म तथा मोक्ष ही आर्यजातिका अन्तिम लक्ष्य था। केवल स्थूल संसार-यात्रा निर्वाह तथा आधि-

भौतिक अभावकी पूर्त्तिके लिये ही शिल्पकला तथा भौतिक विज्ञान-का प्रयोजन समझा जाता था । तथापि प्राचीन-कालमें इन विद्याओं की यथेष्ठ उन्नति हुई थी जिसका कङ्काल आज भी अनेक ध्वंसा-वशिष्ट शिल्पकलाके रूपमें तथा प्राच्य प्रतीच्य अनेक प्रत्नतत्त्ववित् पण्डितोंके दिये हुए प्रमाणोंके रूपमें सर्वत्र देखनेमें आता है। किन्तु अन्यदेशीय शिक्षादर्शमें केवल अर्थ काम ही अन्तिम लक्ष्य है और उसीके लिये शिल्पकलादि भौतिक साधनचेष्टा है। उनमें धर्ममोक्षके प्रति कुछ भी स्थिर लक्ष्य नहीं है। उनके सारे पुरुषार्थका पर्यवसान अर्थ काममें ही हो जाता है। इस कारण भौतिक विज्ञान जगत्में आर्येतर जाति-योंके द्वारा असाधारण उन्नति लब्ध होने पर भी आत्माके प्रति उनकी स्थिर दृष्टि नाममात्र भी प्रकाशित नहीं हो सकी है। आर्य्यजातिकी दृष्टि आत्मामें प्रतिष्ठित है और आत्मामें ही आर्य्यजातिको परमानन्द तथा परम शान्ति है। अन्य जाति भौतिक उन्नति सम्पादनको ही सर्वरो-गौषधि समझती है और आत्माके प्रति उपेक्षा करके भी उसीके साधन-में तत्पर रहती है। किन्तु आर्य्यजाति सब कुछ खोने पर भी आत्माको खोना नहीं चाहती है और यदि आत्माके लाभके लिये सब कुछ खोना पड़े तो भी उसमें पश्चात्पद नहीं होती है। यही सब अन्य जातीय शिक्षादर्शके साथ आर्य्यजातीय शिक्षादर्शका पार्थक्य है।

अनादिकालसे लेकर कुछ वर्ष पहले तक आर्य्यजातिके इतिहासमें ऊपर कथित शिक्षादर्शका पूर्ण प्रचलन देखनेमें आता है। समस्त आर्यजातिको चार वर्णके विभागमें विभक्त करके नैसर्गिक गुणा-नुसार कर्त्तव्यनिर्देश द्वारा दूरदर्शी महर्षियोंने धर्मार्थ काममोक्षरूपी चतुर्वर्गकी ही सम्यक् साधनप्रणाली बताई थी। एक एक वर्णके लिये एक एक वर्गका साधन बतानेके कारण प्रत्येक वर्णको अपने अपने वर्णमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनेका भी पूरा मौका दिया गया था। शूद्रवर्णको कामप्रधान शिल्पकला या कारुकार्यमें पार-

दर्शिता दिखानेका उपदेश दिया गया था । वैश्य वर्णको वाणिज्यादि द्वारा प्रचुर अर्थ संग्रह करके अन्य वर्णोंको सहायता देनेके लिये आज्ञा की गई थी । क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल बलवीर्य्य सम्पादन करके प्रजापालन तथा विजातीय अत्याचारसे देशकी रक्षा करनेके लिये धर्म बताया गया था । ब्राह्मणवर्णको संयम, तपस्या तथा जितेन्द्रियताके साथ ज्ञानार्जन करके मोक्षदायक अन्तिमशांतिप्रद आत्माका पथ आविष्कार करनेके लिये तथा सकल वर्णोंके शिक्षा-गुरु बननेके लिये कहा गया था । इस प्रकारसे श्रमविभाग विधिके अनुसार पुरुषार्थ विभाग करके प्रत्येक वर्णको अपने अपने विभागमें उन्नतिकी पराकाष्ठा लाभके लिये बहुत ही विचारपूर्वक पूर्ण अवकाश दिया गया था । स्वधर्मानुकूल आचरणकी व्यवस्था ठीक ठीक रहने-से प्राचीनकालमें ऊपर कथित नियमानुसार अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष-के द्वारा चारों वर्णोंको ही पूर्णोन्नति प्राप्त हुआ करती थी । राजा राजदण्डके द्वारा तथा ब्राह्मण शास्त्रानुशासन द्वारा अर्थ कामकी धर्मरहित उद्दण्डताको सदा ही दमन करते थे, इन दोनों वर्णोंके धर्मानुकूल नियमनसे समाजशृङ्खला स्थापन तथा आधिभौतिक सकल प्रकार उन्नतिका विधान होता था । राजाका राजमद त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणोंके अंकुशके नीचे कदापि धर्मविरुद्धरूपसे नहीं बढ़ने पाता था । राजा भी अपनी राजशक्तिके प्रभावसे ब्राह्मणशक्तिकी रक्षा तथा पुष्टि किया करते थे । श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।
ब्रह्मक्षत्रन्तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥

ब्राह्मणशक्तिके विना क्षात्रशक्ति परिपुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके विना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिंगत नहीं होती है । दोनों शक्तियाँ परस्पर समवेत होकर ही इहलोक परलोकमें कल्याणदायिनी होती हैं । इस मनुवचनानुसार प्राचीनकालमें दोनों शक्तियोंका

पूर्ण सामञ्जस्य रहा करता था। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें कदापि कुछ असमञ्जस भाव होनेपर दूसरी उसको समञ्जस कर दिया करती थी; अर्थात् क्षत्रियशक्तिका अपलाप ब्रह्मशक्तिके द्वारा तथा ब्राह्मण शक्तिका अपलाप क्षात्रशक्तिके द्वारा निवारित हुआ करता था। कदाचित् अपलाप अधिक होनेपर श्रीभगवान् अवतार धारण करके अत्याचारी शक्तिको दबाकर समञ्जस तथा धर्मानुकूल कर दिया करते थे। यथा—त्रेतायुगके प्रारम्भमें क्षत्रियशक्ति जब अत्याचारिणी तथा ब्रह्मशक्तिघातिनी हो गई तब श्रीभगवान्को परशुराम-रूपमें ब्राह्मणशक्ति द्वारा क्षात्रशक्तिको दबाना पड़ा। उसी प्रकार परवर्ती कालमें जब ब्राह्मणशक्ति विकृत होकर रावणादि राक्षस-भावापन्न होगई तो श्रीभगवान्को रामचन्द्रके रूपमें क्षात्रशक्तिके द्वारा ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर करना पड़ा। द्वापर और कलिके सन्धिकालमें कालप्रभावसे दोनोंही शक्तियोंमें अपलाप होने लग गया था और द्रोणाचार्य अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण, दुर्योधन कर्ण आदि क्षत्रिय सभीकी बुद्धि असुरभावापन्न हो गई थी। इसलिये श्रीभगवान्को पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णचन्द्ररूपसे दोनों शक्तियोंको दबाकर ठीक करना पड़ा था। परन्तु कालका प्रभाव दुरत्यय है। इसलिये कुरुक्षेत्रके संग्रामके बाद कुछ वर्षोंतक भारतवर्षमें शान्ति विराजमान रहनेपर भी इस भीषण रणाङ्गणमें दोनों शक्तियाँ बहुधा भस्मीभूत हो जानेके कारण कलियुगके प्रारम्भमें दोनोंमें ही पराक्रमका अभाव हो गया और तदनन्तर बौद्धविप्लवके द्वारा दोनों ही अधिकतर हीनबल हो गईं। भारतवर्षमें किसीका भी एकछत्र आधिपत्य न होकर छोटे २ अनेक राज्य हो गये। उन राज्योंके अधिपतियोंमें अन्तर्विवाद तथा संग्रामके बढ़ जानेसे क्षत्रियशक्ति बहुतही हीनबल हो गई। इधर रक्षाकारिणी क्षत्रिय-शक्तिके दुर्बल हो जानेसे तथा कलियुगके प्रभावको भी पाकर

ब्राह्मणशक्ति भी बहुत हीनप्रभ होने लगी। ब्राह्मणोंकी तपस्या, अतीन्द्रिय दृष्टि, ज्ञानमय जीवन, संयमकी पराकाष्ठा, अलौकिक योगशक्ति सभी दिन प्रति दिन नामशेष होने लग गये। इस प्रकारसे जब धर्मप्रधान क्षात्रशक्ति तथा मोक्षप्रधान ब्राह्मणशक्ति हीनप्रभ हो गई तो अनुशासनके अभावसे अर्थशक्ति और कामशक्ति बहुत ही अनर्गल रूपसे बढ़ने लगी। आर्य्यजाति धर्म-मोक्षको गौण समझकर उसके प्रति उपेक्षा करके अर्थ-कामके प्रलोभनमें आत्म-विक्रय करने लग गई। जिस जातिमें धर्ममोक्षके बदले अर्थकाम बढ़ जाता है उस जातिकी क्या दुर्दशा होती है सो पूर्वाध्यायमें पहले ही कहा गया है। तदनुसार आर्य्यजातिके प्राचीन शौर्यवीर्य बलबुद्धि आत्मशक्ति सभी नष्ट होने लग गए और इस प्रकारसे आर्य्यजातिमें आत्मरक्षाकी शक्ति नष्ट हो जानेसे पश्चिमदेशसे यवनजातिने आकर आर्य्यजातिपर अपना राज्याधिकार जमा लिया। धर्मप्राण आर्य्यजातिके धर्मरक्षक ब्राह्मणोंमें क्षात्रशक्तिके हीनबल होनेसे धर्महीनता तो पहलेसे ही आगई थी अब विधर्मी राजकीय शक्तिके संघर्षद्वारा धर्महीनता और भी बढ़ गई। अर्थ-कामके प्रभावसे आर्यजातीय जनताकी बुद्धि बहुत ही विषय-मलिन तथा भौतिक विज्ञानपक्षपातिनी बन गई। त्यागकी महिमा, अध्यात्मविज्ञानकी उत्कृष्टता, आत्मानन्दकी माधुरी, सभीका प्रभाव आर्य्यजातिके हृदयसे धीरे धीरे लुप्त होने लगा। पश्चात् अदृष्टचक्रके परिवर्तनसे जब यवनशक्तिभी हीनबल हो गई तब भी आर्य्यजातिने अपना होश नहीं सम्हाला, उसकी प्राचीन महर्षिवर्णित स्वरूप-प्रतिष्ठा उसे पुनः प्राप्त नहीं हो सकी। इधर यवनशक्ति नष्ट हो गई और उधर अर्थ-कामके उन्मादसे आक्रान्त होकर आर्यजातीय क्षुद्र क्षुद्र राजन्यवर्ग तथा राजा प्रजा सभीके भीतर अन्तर्जातीय सङ्ग्रामका दावानल प्रबल रूपसे जलने लगा, जिससे नष्टावशिष्ट

ब्राह्मण क्षत्रिय शक्तियाँ और भी नामावशेषताको प्राप्त हो गईं। रत्नप्रसविनी भारतमाताकी रत्नरक्षाके लिये कोई प्रबल शक्ति बाकी ही न रही। इस अपूर्व सुयोगको देखकर पश्चिमदिशासे वाणिज्यप्रिय, ऐश्वर्यलोलुप, स्वार्थसिद्धिमें विशेष दक्ष वैश्यभाव-प्रधान बहुत जातियाँ भारतवर्षमें वाणिज्य करनेके लिये आने लगीं और उनमेंसे एकने भारतवासियोंके अन्तर्विवादके सुअवसरको काममें लाकर भारतपर आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकारसे आर्यजातिने अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर स्वराज्यको भी खो डाला और वह अति दीन हीन दशाको प्राप्त हो गई। सिंहको जबतक पता रहे कि यह सिंह है तब तक उसका हुंकार नहीं नष्ट होता है और न सिंहसुलभ पराक्रमका ही अभाव होता है। इस लिये आर्यजातिका स्वरूप भुलानेके लिये विदेशीय राजाओंने बहुत कुछ उपाय अवलम्बन किये। प्रथमतः अध्यात्म-विज्ञानकी अलौकिक उत्तमता-को भूलकर आर्यजाति अर्थकामप्रद भौतिक विज्ञानमें मुग्ध हो ही रही थी, इतनेमें भौतिक विज्ञानका और भी मनोमुग्धकर चमत्कार दिखाकर आर्य्यजातिको पश्चिमी जातिने बिलकुल ही फँसा लिया। आर्य्यजाति सायन्सके भूलभूलैयेमें फँसकर अध्यात्मविज्ञानप्रदाता पितापितामह महर्षियोंपर श्रद्धाहीन हो गई और अपने प्राचीन इतिहासकी महिमाको भी भूल बैठी।

पश्चिमी जातिने भारतीय शिक्षाका भार अपने हाथमें लेकर आर्य्यजातिके प्राचीन इतिहासके विषयमें शिक्षार्थियोंके हृदयमें अनेक प्रकारके सन्देह डाल दिये और कहीं कहीं आर्य्यजातीय प्राचीन चरित्रोंका अन्य स्वरूप बतलाकर उनके अन्तःकरणमें भावान्तरको उत्पन्न कर दिया। श्रीकृष्ण परस्त्रियोंके साथ नाचा करते थे, रामचन्द्र भीलोंकी तरह जंगलोंमें भ्रमण करते थे, यहांके लोग प्रस्तर-पूजक असभ्य हैं, यहांकी स्त्रियोंमें सतीधर्म नहीं है, एक एक

स्त्रीके कई एक पति होते हैं, यहांका वर्णाश्रम असभ्यतामूलक तथा आचार कुसंस्कार मात्र है इत्यादि इत्यादि अनेक बातें बचपनसे विद्यार्थियोंके हृदयमें भर दी जाने लगीं और मातृभूमिके प्रति अभिमान नष्ट करनेके लिये यहाँ तक दिखाया जाने लगा कि आर्य्यजातिका आदिवासस्थान भारतवर्ष है ही नहीं, वे लोग मध्यएशियासे यहाँ आये हुए हैं। विदेशीय भाषाके प्रचार द्वारा विदेशीय भाव अन्तःकरणपर घन घटाकी तरह आच्छन्न होगया और आर्यजातिकी देववाणी संस्कृत भाषा मृतभाषा बनाई गई। जैसा कि मेकाले साहबने * कहा है कि "अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ऐसा एक मनुष्य दल तैयार होगा जो रक्त तथा रङ्गमें हिन्दु होगा किन्तु आचार व्यवहार चरित्र चिन्ता तथा विचारमें अहिन्दु होगा" ऐसा ही पूरा पूरा परिवर्तन शिक्षाके दोषसे आर्यजातिमें होने लग गया। और जैसा कि कूटनीतिज्ञ मेकाले साहबने प्रयत्नका पथ दिखाया था वह कूटनीतिका प्रयत्न कैसा सफल हुआ है सो थोड़े ही विचारसे समझा जा सकता है। विदेशीय शिक्षाप्रणालीके भीतर धर्मका कुछ भी सम्बन्ध न रहनेसे शिक्षक-छात्रके परस्परमें अर्थके साथ विद्याका विनिमय मात्र समझा जाने लगा और धर्महीन शिक्षा केवल अर्थकाम संग्रहके साधनरूपसे ही मानी जाने लगी। इधर अर्थ-कामका प्रधान साधन वाणिज्य शिल्पकला विदेशियोंके हाथोंमें होनेसे भारतवासियोंके लिये उसकी प्रत्यक्ष योग्यताकी शिक्षा कुछ न रही, और न उसका कुछ प्रत्यक्ष फल ही उनको प्राप्त हुआ। भारतवासीकी शिक्षा केवल दासवृत्ति द्वारा दग्धोदरपूर्त्ति तथा हीनजीवन बितानेके लिये ही समझी जाने लगी। इस प्रकारसे हतभाग्य

* English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect.

आर्यजाति विपरीत शिक्षादर्शके विपरीत परिणामके प्रभावसे धर्म-भ्रष्ट, कर्मभ्रष्ट, निर्धन, निर्जीव, आत्मलक्ष्यहीन तथा सर्वथा जीवन्मृत दशाको प्राप्त हो गई।

संसार परिवर्तन नियमके अधीन है इस कारण कालचक्रके घूमते घूमते आर्यजातिके समष्टि जीवनमें भी क्रमशः अनेक प्रकारसे परिवर्तन हो गये और हो रहे हैं। भौतिक विज्ञानकी झलक, जिसने कुछ ही दिन पहलेतक भारतवासियोंको स्वरूपविस्मृत कर दिया था, अब आंखोंको निस्तेज करनेमें उतनी समर्थ नहीं हो रही है, क्योंकि धर्महीन आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञानोन्नतिकी पराकाष्ठाको पाकर भी पश्चिमदेशीयगण किस प्रकार घोर पाशविक संग्राममें लिप्त हो सकते हैं और कोरी भौतिक उन्नतिका अन्तिम भीषण परिणाम क्या है इसको भारतवासियोंने आंखोंके सामने ही यूरो-पीय महायुद्धमें अच्छी तरहसे देख लिया है। पक्षान्तरमें जिन विदेशीय जनोंके मुखसे आर्यजातिने अपने शास्त्र तथा अपने इति-हासादिकी निन्दाका पाठ पढ़ा था उन्हींके वंशधर अनेक प्रतीच्य ऐतिहासिक पण्डित आर्यजातीय इतिहास, आर्यजातीय शिल्पकला, आर्यजातीय सामाजिक व्यवस्था आदिकी पूरी पूरी प्रशंसा कर रहे हैं जिसको पढ़कर हतभाग्य आर्यजातिको अपने स्वरूपके पुनः परिचयमें विशेष सुविधा प्राप्त हुई है। * अब विदेशियोंके द्वारा स्वजातीय शास्त्र तथा पूज्यचरण महर्षियोंकी निन्दा सुनकर भारत-वासी उन्हींके साथ अनुमोदनसूचक पैशाचिक हास्य नहीं करते हैं। बल्कि स्वजातीय शास्त्रसमूहका यथार्थ तत्त्वानुसन्धान द्वारा विदेशीय अनुदारचित्त पक्षपाती जनोंके भ्रम दूर करनेमें तत्पर होजाते हैं। प्राचीन आत्मोन्नतिमय आर्यजीवनके आदर्शको नीचा

* इसका पूरा वर्णन 'नवीनदृष्टिमें प्रवीण भारत' नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

दिखानेमें प्रतिष्ठा या विद्वत्ता नहीं समझते हैं; किन्तु किस प्रकार अतिदूरदर्शितापूर्ण विज्ञानमूलक विचार द्वारा आर्यजातिके अनन्त-कालस्थायी कल्याणके लिये इस प्रकार सर्वाङ्गसंपूर्ण आदर्श निर्धारित किया गया है, समस्त जगत्के सामने इसीके रहस्य बतानेमें ही अपनी विद्वत्ता तथा आत्मप्रतिष्ठा समझते हैं। अतः 'नवीन भारतके लिये आर्यजातीय शिक्षादर्श' निर्णय करनेका यही सर्वोत्कृष्ट अवसर उपस्थित हुआ है। अब नीचे इस प्रस्तावित शिक्षादर्शका क्रमशः विन्यास किया जाता है।

शिक्षाके लक्ष्य तथा लक्षणवर्णन प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक वस्तुकी मौलिक सत्ताको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्ष्य है। अतः मनुष्यके लिये शिक्षादर्श वही होगा जिसके द्वारा मनुष्यसुलभ निखिल मौलिकता पूर्णता पर प्रतिष्ठित हो सके। अब विचार करनेकी बात है कि मनुष्य व्यक्ति किन किन बातोंसे मनुष्य कहलाती है। स्थूल सूक्ष्म कारणरूपी शरीरत्रय तथा आत्मा, इन चारोंकी समष्टि मनुष्य व्यक्ति है। इनमेंसे आत्मा नित्य तथा अविनाशी है और शरीरत्रय विनाश तथा परिणामधर्मी और आत्माके बन्धनरूप हैं। स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्मशरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण, ये ही मल, विक्षेप, आवरण, आत्माके तीन पर्दे हैं जिनसे जकड़ा हुआ आत्मा स्वरूपप्रतिष्ठाके पानेमें असमर्थ रहता है। नित्य वस्तुकी उन्नति ही उन्नति है, अनित्य वस्तुकी उन्नति निरपेक्ष उन्नति नहीं हो सकती है, परन्तु नित्यवस्तुकी उन्नति-सापेक्षताको लेकर की जा सकती है। इस कारण आत्मोन्नति-सम्पादन ही शिक्षाका यथार्थ लक्ष्य है, परिणामी शरीरत्रयका उन्नतिसाधन निरपेक्ष या आत्यन्तिक पुरुषार्थ नहीं हो सकता है किन्तु आत्माकी पूर्णोन्नतिको लक्ष्य करके उसीके सहायक या साधकरूपसे हो सकता है। अतः आर्य्यजातिके लिये शिक्षादर्श वही

होगा जिससे आत्माको पूर्णोन्नति हो सके और उसमें बाधक मल, विक्षेप, आवरणकी निवृत्ति हो। तीनों शरीरोंमें स्थूल शरीर, मन, और बुद्धि इनकी उन्नतिसे ही आवरणत्रयका नाश तथा आत्मोन्नतिमें पूर्ण सहायता हो सकती है। अतः स्थूल शरीरसे लेकर आत्मापर्य्यन्तकी पूर्ण उन्नतिके लिये शिक्षादर्शमें चार प्रकारकी शिक्षाओंका सन्निवेश किया जा सकता है, यथा—

स्थूल शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा, मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा, बुद्धि उन्नतिकारी शिक्षा और आत्मोन्नतिकर शिक्षा। अब नीचे इन चार प्रकारकी शिक्षाओंके विषयमें वर्णन किया जाता है।

शास्त्रमें लिखा है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शारीरिक उन्नतिसाधन ही प्रथम धर्मसाधन है। आर्य्यशास्त्रमें शरीरके लिये शरीरकी रक्षाका उपदेश नहीं दिया गया है, क्योंकि ऐसा होनेसे स्थूल लक्ष्य होकर मनुष्य पशुभावापन्न तथा इन्द्रियासक्त हो जाता है और आध्यात्मिक लक्ष्यको खो बैठता है। इस कारण आर्य्यशास्त्रमें आत्मोन्नतिसाधनके सहायकरूपसे शारीरिक उन्नतिसाधनका उपदेश दिया गया है। वे सब उपदेश ऋषिनिर्दिष्ट 'सदाचार' के अन्तर्भुक्त हैं, इस कारण आचारको प्रथम धर्म कहा गया है। स्थूलशरीरको पुष्ट तथा बलवान् बनानेके लिये पश्चिमी देशोंमें जिस प्रकार व्यायामादिकी विधियाँ देखनेमें आती हैं उनके द्वारा स्थूल शरीरका पोषण होनेपर भी आत्माकी उन्नति उनसे कुछ भी नहीं होती है, प्रत्युत प्राणक्षय, पशुभाववृद्धि, मस्तिष्ककी दुर्बलता तथा आत्मोन्नतिमें यथेष्ट हानि ही होती है इस कारण महर्षिप्रदर्शित आर्य्यसदाचारोंका प्रतिपालन ही शारीरिक उन्नति लाभके लिये सर्वथा उपयोगी है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। आर्य्यसन्तान कभी यह न समझे कि वैषयिक सुखभोगके लिये वह शरीरकी रक्षा या उन्नति कर रहा है, इस प्रकारकी धारणा अनार्य्यधारणा है और इस प्रकार स्थूलशरीरधारण भी

आत्माका अवनतिकर है। आर्य्यसन्तानके हृदयमें यह धारणा दृढ़-मूल होनी चाहिये कि वह शरीरकी उन्नति इसलिये कर रहा है कि शरीरकी उन्नतिसे मनकी उन्नतिमें सहायता होती है और मनकी उन्नतिसे आत्माकी साधना उत्तम रूपसे बन सकती है। जिसके परिपाकसे जीव अपने अन्तिम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मौलिक धारणाको हृदयमें रखकर स्थूलशरीरकी उन्नतिप्रद शिक्षा ग्रहण करनेसे स्थूलशरीरपर कदापि अभिनिवेष उत्पन्न नहीं होगा और यह शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा आत्मोन्नतिमें सहायक होकर शिक्षाके यथार्थ लक्षणको चरितार्थ करेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही आर्य्यशास्त्रानुमोदित शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षाका आदर्श है।

अतःपर मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने योगदर्शनभाष्यमें लिखा है—"चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च।" चित्तनदीका प्रवाह पाप पुण्य दोनोंकी ही ओर है। उसे सम्हाल-कर पुरुषार्थके साथ पुण्यकी ओर प्रवाहित न करनेसे उसकी पाप-प्रवणता निःसन्देह ही होगी। पञ्चतत्त्वोंके सूक्ष्मांशसे उत्पन्न मनमें रजोगुणका विशेष आवेश रहनेके कारण मनका चञ्चल होना—सङ्कल्प विकल्प करना—स्वाभाविक धर्म है। समस्त संसार, समस्त सृष्टि मानसिक वृत्तिचाञ्चल्यका ही फलरूप है। शास्त्रमें कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही जीवोंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मन बन्धनका तथा निर्विषय मन मोक्षका देनेवाला है। अतः मन ही जब सबका मूल है तो मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षाद्वारा सभी प्रकारकी

उन्नति हो सकती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। योगशास्त्रमें चित्तकी समस्त वृत्तियोंको क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक दो भागोंमें विभक्त किया गया है। तमोगुणवृद्धिकारी वृत्तियोंको क्लिष्ट और सत्त्व-गुण वृद्धिकारी वृत्तियोंको अक्लिष्टवृत्ति कहते हैं। इनको श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें आसुरी सम्पत्ति और दैवी सम्पत्ति करके भी वर्णन किया है, यथा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदाश्रिताः।
मोहाद्‌गृहीत्वासद्‌ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

भयशून्यता, सत्त्वशुद्धि, ज्ञानयोगमें स्थिति, दानशीलता, इन्द्रिय-दमन, यज्ञानुष्ठान, वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरोंकी निन्दा न करना, जीवदया, निर्लोभता, मृदुभाषण, लज्जाशीलता, चाञ्चल्यशून्यता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमानिता,—ये सब दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके गुण हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—आसुरी प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लक्षण हैं। संसारमें इन्हीं दो प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं, उनमेंसे दैवी प्रवृत्ति मोक्षदायिनी और आसुरी प्रवृत्ति बन्धनकारिणी होती है। आसुरी प्रवृत्ति युक्त मनुष्यगण प्रवृत्ति निवृत्तिके रहस्यको कुछ भी नहीं जानते हैं और न उनमें शौच, आचार तथा सत्य ही होता है। वे लोग सृष्टिके मूलमें कोई सत्यवस्तु या ईश्वरको नहीं समझते हैं, केवल कामसे ही सृष्टि बनी है और काम ही सब कुछ है ऐसा कहते हैं। इस प्रकार अल्पबुद्धि, नष्टात्मा पापियोंके द्वारा संसारमें बड़ा ही अनर्थ होता है। वे अदम्य काम तथा दम्भ, मान, मद, मोहके वशवर्ती होकर असद् वस्तुके संग्रहमें सदा सचेष्ट रहते हैं। मरणान्त अपार चिन्तामें मग्न होकर कामभोगको ही सब कुछ समझते हैं; अनन्त आशापाशोंमें बद्ध, कामक्रोधपरायण होकर काम-

भोगार्थ अन्यायरीतिसे अर्थोपार्जनकी चेष्टा करते हैं; आज मैंने यह पाया है, कल यह मेरी मनोरथपूर्त्ति होगी, यह मेरा धन है और भी आगे मिलेगा, इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरोंको भी मारूँगा, मैं ऐश्वर्यवान् हूं,भोगी हूँ,सिद्ध हूँ,बलवान् हूं,सुखी हूं,इस प्रकारसे अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोधको आश्रय करके आसुरी प्रकृतियुक्त मनुष्य सर्वभूतोंमें विराजमान् भगवान्से भी द्वेष करते हैं।

मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें यत्नपूर्वक मनसे असुरभावके उन्मूलनके लिये शिक्षालाभ करना होगा और साथ ही साथ दैवभावकी वृद्धिके लिये पुरुषार्थ करना होगा। सच्चरित्रता, सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, आस्तिकता, सरलता, दया, अस्तेय, अक्रोध, शीलता, धैर्य्य, क्षमा आदि अक्लिष्ट सात्त्विक वृत्तियां जिससे दिन प्रति दिन वृद्धिगत हो सके इसके लिये पूरा प्रयत्न होना चाहिये तभी मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। संसारमें यथार्थ सुख क्या है, इन्द्रियसंस्पर्शजन्य यावतीय सुख परिणाममें दुःखप्रद होनेसे किस प्रकार दुःखरूप ही है, भोगसे त्यागमें किस प्रकार अतिविमल सुख लाभ होता है, इन्द्रियोंके दास बननेकी अपेक्षा इन्द्रियोंके संयममें किस प्रकार सर्वविध उन्नतियोंका गूढ़बीज विद्यमान है, द्वेषसे प्रेममें, मोहसे दयामें, हिंसासे अहिंसामें, जिघांसासे क्षमामें, लोभसे निर्लोभतामें, तमोगुणसे सत्त्वगुणमें किस प्रकार अधिक उन्नति और अनुपम आनन्दके उपादान विद्यमान हैं, इन सब बातोंकी शिक्षा तथा निजजीवनमें सर्वथा परिपालन द्वारा ही मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। जिन आदर्श प्राचीन आर्य्यपुरुषोंके चरित्रोंमें मानसिक उन्नतिकी पराकाष्ठा पाई जाती है, ध्यानपूर्वक उनकी जीवनीचर्चा प्रतिदिन नियमितरूपसे करनी चाहिये, तभी आदर्शदर्शनसे अपने जीवनमें भी आदर्श नैतिक उन्नतिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। धर्मराज युधिष्ठिरकी सत्यवादिता, महाराज हरिश्चन्द्रका प्रतिज्ञा-

पालन, भगवान् भीष्म पितामहका ब्रह्मचर्य, महर्षि दधीचिका जगत्-कल्याणके लिये प्राणबलिदान, ध्रुव प्रह्लादका अलौकिक भक्तिभाव, मयूरध्वजकी दानशीलता, महाराणा प्रतापकी स्वदेशसेवा, चित्तौरके वीरोंकी स्वधर्म तथा स्वजातिसेवामूलक वीरता इत्यादि इत्यादि आदर्शचरित्र महापुरुषोंकी जीवनियोंका इतिहास शिक्षाकालमें अवश्य ही बालकोंको हृदयङ्गम कराना चाहिये, तभी उनका भविष्यत् जीवन भौतिक उन्नतिमें पूर्ण होकर देश, धर्म तथा जातिके लिये यज्ञहविकी तरह उत्सर्गीकृत हो सकेगा।

दुःखकी बात है कि आजकलकी शिक्षाप्रणालीमें क्या स्कूल कालेज, क्या संस्कृत पाठशाला कहीं भी यथार्थ मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा नहीं दी जाती है। प्राचीन कालमें आचार्य्यकुलमें जिस प्रकार अत्युत्तम शिक्षादर्श विद्यमान था, अर्थकामप्रधान वर्त्तमान-युगमें उसका नामशेष भी नहीं देखनेमें आता है। आचार्य्यकुलमें निखिलशास्त्रनिष्णात आचार्यदेव अपने अन्तेवासी शिष्यको केवल वेदार्थका ही पण्डित नहीं बनाते थे, किन्तु वेदमय जीवन शिष्यका जैसे बन जाय इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करते थे, शिष्यको वैखरी विद्याके पण्डित बनानेकी अपेक्षा अध्यात्मविद्याके पण्डित बनानेके अर्थ अधिक पुरुषार्थ करते थे। उसके हृदयमें दैवीसम्पत्तिकी प्रतिष्ठाके लिये मानसिक उन्नतिकी समस्त साधनाओंका उपदेश करते थे। यही कारण है कि प्राचीन कालमें आचार्यकुलसे प्रत्यागत स्नातक ब्रह्मचारी इतने विद्वान् चरित्रवान् तथा कुलभूषण बन कर मनुष्य जीवनको अति उच्चतम कोटि पर प्रतिष्ठालाभ कर सकते थे। आज प्राचीन कालके ये सब शिक्षादर्श स्वप्नप्राय हो गये हैं, आजकल सभी विद्यालयोंमें केवल अर्थोपार्जनके साधकरूपसे विद्या पढ़ी पढ़ाई जाती है। अध्यापकगण वृत्ति लेकर पाठ्यग्रन्थोंका केवल अक्षरज्ञान करा देनेमें ही अपने कर्त्तव्यकी परिसमाप्ति समझते हैं। उनके

छात्र किस चरित्रके हैं, किस प्रकारके सङ्गमें रहते हैं, पठित उपदेशोंके अनुसार अपनी जीवनचर्य्याको कहां तक नियमित करते हैं या कर सकते हैं, उनकी नैतिक जीवनोन्नति, मानसिक उन्नति या अवनति कितनी हो रही है, उसमें क्या क्या सुधार होने चाहिये इन अति आवश्यकीय विषयोंके प्रति वृत्तिभोगी अध्यापकोंका कुछ भी ध्यान नहीं रहता है और न वे इस प्रकार ध्यान रखनेको अपने अध्यापकीय कर्त्तव्यके अन्तर्गत ही समझते हैं। इसके सिवाय मातापिता आदि अभिभावकगण भी अपनी सन्तानोंकी मानसिक उन्नतिकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते हैं। उनमें प्रधानतः यही इच्छा रहती है कि उनके लड़के किसी प्रकारसे परीक्षोतीर्ण होकर प्रचुर अर्थ उपार्जन करने लग जायँ। वह अर्थोपार्जन किस रीतिसे होता है और उसमें पुत्रका आध्यात्मिक पतन कितना होरहा है इस ओर पितामाताका ध्यान विरल ही आकृष्ट होता है। अतः अध्यापक तथा अभिभावक किसीसे भी प्ररोचना न मिलनेके कारण छात्रोंकी समस्त विद्या अर्थकरी विद्यामें ही परिणत हो जाती है। क्या संस्कृत पाठ्यपुस्तक, क्या दार्शनिक ग्रन्थ, क्या अन्यदेशीय ग्रंथसमूह—किसीको भी छात्र उपदेश लाभके तौर पर या जीवन बनानेके साधनके तौर पर नहीं पढ़ते हैं, केवल तोतेकी तरह कण्ठस्थ करके परीक्षा पास करनेके लिये पढ़ा करते हैं। लड़के वेदांततीर्थ बनकर भी विषयी ही रहते हैं, योगाचार्य्य होकर भी साधनशून्य ही रहते हैं, विदुरनीति कण्ठ करके भी अति हीन नैतिक जीवन यापन करते हैं, वर्क, मेकले, शेरिडनको पढ़ कर भी राजनैतिक जीवनकी योग्यता नहीं आती, वेकन, स्पेन्सर, सोपेन्हर, आदिके चिन्तापूर्ण ग्रन्थोंके पाठसे भी नैतिक जीवन उन्नत नहीं होता, अर्थकामके पीछे पागल हो जाना ही सबका अन्तिम परिणाम हो जाता है। यही कारण है कि वर्त्तमान समयके शिक्षालयमें प्रचलित

शिक्षा-प्रणाली द्वारा मानसिक उन्नतिका कुछ भी साधन नहीं बनता है। शिक्षालयमें प्रचलित शिक्षादर्शका सुधार होना चाहिये और मानसिक उन्नतिप्रद यथार्थ शिक्षादर्शका पुनः प्रवर्त्तन होना चाहिये।

बुद्धिउन्नतिकारी शिक्षादर्शके विषयमें अवश्य यह स्मरण रखने योग्य है कि—

"या लोकद्वयसाधिनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।"

जिस बुद्धिबलसे इहलोक परलोक दोनोंमें ही कल्याण लाभ हो वही बुद्धि पूर्णोन्नत है अतः शिक्षाके आदर्शमें भी ऐसी ही विधियाँ होनी चाहिये। बुद्धिविकाशका प्रथम लक्षण शिल्पकलाको प्रतिष्ठा है। अपरा विद्याके अंतर्गत जितने विषय हैं जिनसे इहलोकमें अर्थ कामका प्रचुर आहरण हो सकता है, बुद्धि विकाशके प्रथम लक्षणमें वे सभी गिने जाते हैं। तदनन्तर बुद्धि इहलोकके स्थूल विषयोंको भेद करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म जगत्में जब प्रवेश करती है तब प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक, पितृलोक, देवलोक आदिका रहस्य निर्णय तथा तत्त्वान्वेषण करनेमें प्रवृत्त हो जाती है और तदनन्तर योगकी सहायतासे बुद्धि जब अलौकिक ऋतम्भरा प्रज्ञाके स्वरूपको प्राप्त हो जाती है तभी उस अलौकिक योगयुक्त बुद्धिद्वारा परमात्माका पता लगने लगता है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है:—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

अतीन्द्रियदर्शी योगिगण अलौकिक योगबुद्धि द्वारा परमात्माका दर्शन करते हैं। इस प्रकारसे बुद्धिविकाशके राज्यमें बुद्धिकी लोकद्वयप्रसाधिनी चतुरता कार्यकारिणी हुआ करती है। अतः बुद्ध्युन्नतिविधायक शिक्षादर्श भी इसी क्रमसे नियमित होना चाहिये। यद्यपि धनसंग्रह करना जीवनका आत्यन्तिक लक्ष्य नहीं है, तथापि शरीरयात्रा निर्वाह और देश तथा समाजके स्थूल अभाव

दूर करनेके लिये धनकी विशेष आवश्यकता रहती है। इसलिये धनागमके साधनरूपसे लौकिक जगत्में बुद्धिका विनियोग अवश्य ही होना चाहिये। पूज्यपाद महर्षियोंने इसी उद्देश्यपूर्तिके अर्थ हिन्दुसमाजमें वैश्यजातिका वाणिज्यादि स्वाभाविक कर्त्तव्य निर्देश किया था। देशविदेशमें जाकर वाणिज्य करना, वाणिज्यश्रीवृद्धिके लिये नवीन नवीन उपाय उद्भावन करना, अर्णवयान, वाष्पीय पोत, तरणी आदि समुद्र यात्राके लिये निर्माण करना, अन्यान्य स्थल यानोंको भी निर्माण करना, आधिभौतिक विज्ञानोन्नति द्वारा नाना प्रकारके शिल्पवाणिज्योन्नतिप्रद यन्त्र निर्माण करना, कृषिकार्यमें उन्नति करना इत्यादि इत्यादि स्थूल सम्पत्ति लाभके लिये सभीकी आवश्यकता है। अतः बुद्धिको लौकिक व्यापारमें उन्नत करके व्यवहारिक श्रीवृद्धि सम्पादन अवश्य ही करना चाहिये। अवश्य इतना विचार रखना चाहिये कि इस प्रकार अर्थ कामका सञ्चय धर्ममोक्षका बाधक न हो किन्तु केवल स्थूल अभाव विदूरित करके धर्ममोक्षका पूर्ण सहायक हो। इसके अनन्तर बुद्धि जब कुछ भावराज्यमें प्रवेश करके उसका आस्वादन लेना चाहती है तो काव्यकला, चित्रकला, सङ्गीतकला आदिका विकाश होता है। इन सब कलाविद्याओंके विकाशके समय बुद्धि स्थूल ऐन्द्रियिक सुखसे भावराज्यके सूक्ष्म आनन्दको अधिक मूल्यवान् जानकर उसीमें मग्न होती है। अतः इस दशामें उन सब विद्याओंकी यथेष्ट उन्नति होना स्वाभाविक है। तदनन्तर धीरे धीरे बुद्धिको यह पता लगता है कि इहलोक ही सब कुछ नहीं है, मृत्युके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता है किन्तु इससे परे और कुछ अवश्य ही होगा। इस प्रकार प्रश्नोंका उदय अपने भीतर होनेसे ही परलोकके विषयमें मनुष्यबुद्धिकी अनुसन्धित्सा होने लगती है जिसके परिपाकमें सूक्ष्मजगत्में बुद्धिका प्रवेश अवश्यम्भावी है। यही अतीन्द्रिय जगत्में

प्रवेशानुरागपरायणा बुद्धि धीरे धीरे तप तथा साधना द्वारा अति-सूक्ष्मताको अवलम्बन करती हुई अन्तमें आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त हो जाती है। इस आत्मानुसन्धानका चरम फल ही स्वरूपोपलब्धि है जिसके विषयमें आगे कहा जायगा। अतः सिद्धान्त यह निकला कि बुद्ध्युन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्धि-चालना ही परमश्रेयस्कर तथा शिक्षादर्श नामको सार्थकय देने-वाली है।

सकल उन्नतिके ही मूलमें धर्मोन्नति है। विना धर्मोन्नतिके पूर्ण सम्पादन किये न शारीरिक उन्नति हो सकती है, न मानसिक उन्नति हो सकती है और न बुद्धिकी ही उन्नति हो सकती है। मनुष्य-प्रकृतिमें देवभावसे असुरभाव अधिक बलवान् होनेके कारण मनुष्यका शरीर, मनुष्यकी इन्द्रियाँ, मन या बुद्धि सदा पापकी ओर ही जानेको उद्यत रहती है। केवल धर्म ही मनुष्यके भीतर कर्त्तव्य-निष्ठता, संयमका सुफल, इन्द्रियपरताका कुपरिणाम, विषयसुखकी तुच्छता तथा पापमय जीवनसे परलोकमें दुःख आदि दूरदर्शिता-पूर्ण दैवभावोंको उत्पन्न करके जीवचित्तमें आसुर भावको नियमित रूपसे दबाये रहता है जिससे शारीरिक, मानसिक तथा बुद्धि सम्बन्धीय सभी उन्नति मनुष्योंके लिये सुसाध्य हो जाती है। मनुष्य शारीरिक व्यायाम चाहे कितना ही क्यों न करे यदि तपोमूलक इन्द्रियनिग्रह न हो, शरीरको इन्द्रियोंके दास बननेसे रोक न सके, तो यथार्थमें शारीरिक उन्नति मनुष्योंकी कदापि न होगी। उसी प्रकार मनका निग्रह भी धर्मके विना कदापि नहीं हो सकता। धर्म ही मनुष्यको सुकर्म कुकर्मका परिणाम दिखाता है और बताता है कि पुण्य परिपाकसे स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकार अलौकिक दिव्यसुख प्राप्त होता है और पापके फलसे प्रेत शरीरप्राप्ति तथा नरकादि लोकोंमें किस प्रकार भीषण दुःख भोगना पड़ता है। धर्म

ही मनुष्यको बताता है कि उत्तम, मध्यम, अधम प्रत्येक क्रियाकी किस किस प्रकार प्रतिक्रिया हुआ करती है; किस प्रकारसे सत्पात्रमें धनदान करने पर मनुष्य आगामी जन्ममें प्रचुर धनलाभ करता है और धनका अपव्यवहार, असदुपायसे धनार्जन या यक्षकी तरह धन सञ्चय करने पर आगामी जन्ममें महा दरिद्र हो जाता है; किस प्रकारसे प्राणियोंकी वृथा हिंसा करने पर अल्पायु तथा रोगी होता है और भूतदयाके द्वारा दीर्घायुलाभ तथा पुण्य सञ्चय कर सकता है; किस प्रकारसे चक्षुरादि इन्द्रियोंका शास्त्रानुकूल उपयोग करनेपर दिव्यचक्षुलाभ, मानसिकशक्तिलाभ आदि कर सकता है और दुरुपयोगसे मानसिकशक्तिहीनता, दृष्टिशक्तिहीनता, बधिरता आदि अवश्य प्राप्त होती है; किस प्रकारसे तपस्या द्वारा अपूर्वशक्तिलाभ तथा असंयम द्वारा सकल प्रकारकी हानि होती है इत्यादि इत्यादि विचारोंके द्वारा यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि विना धर्मोन्नतिके कोई भी उन्नति चिरकालस्थायी तथा यथार्थमें उन्नतिपदवाच्य नहीं हो सकती है। इसी प्रकार लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्ध्युन्नतिके मूलमें भी धर्मोन्नति गूढ़ रूपसे निहित है। मनुष्य धर्मसंस्रवके विना भी केवल लौकिक चातुरीके द्वारा लौकिक जगत्में थोड़े दिनके लिये चमत्कार दिखा सकता है किन्तु इस प्रकार चमत्कार भावी घोर अन्धकारका ही सूचक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है; क्योंकि धर्महीन बुद्धिकौशल केवल दूसरेको प्रतारित करके लौकिक अर्थकामसिद्धिमें ही पर्यवसानको प्राप्त हो जाता है। उसमें उन्नत बुद्धिमान् वही कहलाता है जिसने नरहत्या, परधनलुण्ठन या परपीड़नके लिये जितना सीधा तथा सहजसाध्य उपाय निकाला हो। कुछ दिनसे पश्चिम देशमें भी इस प्रकार धर्महीन लौकिक राजनीति आदि सम्बन्धीय बुद्धिचातुरी चली हुई है और उसका अवश्यम्भावी परिणाम अशान्ति, नरहत्या, दुःखदारिद्र्य,

राजनैतिक विप्लव तथा जातीय महासंग्राम प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः सिद्ध हुआ कि धर्मके मूलमें न रहनेसे इहलोकप्रसाधिनी बुद्धि अपूर्ण, अनर्थकर तथा अशान्तिप्रसविनी ही होती है और परलोकप्रसाधिनी बुद्धिके विषयमें तो कहना ही क्या है! इस बुद्धिका विकाश तो धर्मबुद्धिके विना कदापि हो ही नहीं सकता है; क्योंकि धर्मके विना न परलोकमें ही विश्वास होता है और न आत्माके अस्तित्वमें ही विश्वास होता है और जहाँ विश्वास नहीं है वहाँ सिद्धि भी कदापि नहीं हो सकती है, जैसा कि शिवसंहितामें लिखा है—

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।

'होगा' यह विश्वास ही सिद्धिलाभका प्रथम लक्षण है। इस कारण क्या शारीरिक उन्नति, क्या मानसिक उन्नति, क्या बुद्धितत्त्वकी लोकद्वयप्रसाधिनी उन्नति सभीके लिये धर्मोन्नति ही एकान्त मूल कारण है इसमें बिन्दुमात्र संशय नहीं है। अतः शिक्षादर्शके भीतर धर्मशिक्षाका अन्तर्निवेश अवश्य ही होना चाहिये। प्रथमतः कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, नित्यनैमित्तिककाम्य-कर्मरहस्य, निर्गुण उपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि-देव-पितृ उपासना, आत्मानात्मविचार आदि धर्मके सर्वसाधारण सर्वलोकहितकर साधारण अङ्गोंकी शिक्षा अवश्य ही होनी चाहिये। तदनन्तर वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्य्यधर्म, अनार्यधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, आपद्धर्म, असाधारणधर्म आदि विशेष धर्मके विविध विभागोंकी शिक्षा पूर्णरूपसे देनी चाहिये। साथ ही साथ धर्मशिक्षाप्राप्त स्त्री पुरुष केवल धर्मविषयक अक्षर ज्ञानमें ही सन्तुष्ट न होकर अपनी जीवनचर्या तथा दिनचर्यामें जिससे उन सब धर्माङ्गोंका अनुष्ठान करें इस विषयमें पूर्ण ध्यानयुक्त तथा पूर्ण उद्यमशील होना चाहिये, तभी सकल उन्नतिके मूलमें वास्तविक धर्मोन्नति प्राप्त हो सकेगी।

पूर्वकथित विषयको निम्नलिखित रूपसे भी समझ सकते हैं कि मनुष्य एक पूर्णावयव जीव है। उसकी पूर्णता उसके पञ्चकोषकी पूर्णताके साथ ही साथ होती है। प्रथम उद्भिज्ज जीवमें केवल अन्नमय कोषका विकाश होता है। स्वेदज श्रेणीके जीवमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश होता है। तीसरे श्रेणीके अर्थात् अण्डज जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश होता है। चतुर्थ श्रेणीके अर्थात् जरायुज जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंका विकाश होता है और पञ्चम श्रेणीके अर्थात् मनुष्य जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पञ्चकोषोंकी अभिव्यक्ति होकर जीव-क्रमोन्नतिकी पूर्णता होती है। वस्तुतः मनुष्य शरीरमें पांचों कोषोंकी पूर्णता होनेसे ही मनुष्य पूर्णावयव जीव समझा जाता है। सुतरां मनुष्यकी पूर्णता तभी समझी जायगी जब मनुष्यमें पाँचों कोषोंकी पूर्णताके लक्षण प्रकाशित हो सकें। मनुष्य-योनिमें पहुंचते ही यद्यपि पांचों कोषोंका विकाश हो जाता है तथापि उनकी पूर्णता नहीं होती है। अस्तु, शिक्षाके द्वारा उसमें पांचों कोषोंकी पूर्णता सम्पादन कर देना ही उत्तम तथा पूर्ण शिक्षाका लक्षण कहलावेगा। एकमात्र धर्मको अपने सम्मुख रख कर शिक्षा प्रणालीको प्रकाशित करनेसे ही यह सफलता हो सकती है। इस विज्ञानका बहुत कुछ वर्णन आर्य्यजातिके मीमांसा शास्त्रमें किया गया है। इस विज्ञानकी पर्यालोचना करनेसे भली भाँति प्रकट होगा कि इस समय पृथिवीके अन्यदेशवासियोंमें जो नाना प्रकारकी पदार्थविद्यारूपी सायन्स शिक्षाका प्रचार हो रहा है उनका भी यथायोग्य समावेश इस शिक्षाप्रणालीके यथायोग्य स्थानमें हो सकता है और साथ ही साथ मनुष्य पञ्चकोषोंकी पूर्णता प्राप्त करके पूर्ण मनुष्यत्व लाभ कर सकता है। स्वास्थ्यकी

रक्षा, वीर्य्यकी रक्षा, सदाचारका पालन आदि द्वारा अन्नमय कोष क्रमशः पूर्णताकी ओर अग्रसर हो सकता है। यदि किसी जातिका प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार सदाचारादिका पालन करे तो वह जाति भी सदाचारिणी होगी इसमें सन्देह नहीं। जितने प्रकारके बल हैं उन बलोंके संग्रहसे एक मनुष्य अथवा मनुष्यजाति अपने प्राणमय कोषकी पूर्णता सम्पादनमें समर्थ होते हैं। जिस प्रकार धनबल, जनबल आदि द्वारा एक मनुष्य शक्तिशाली कहाता है, उसी प्रकार एक मनुष्य जाति ऐश्वर्य्यबल तथा सेनाबल आदि द्वारा शक्तिशालिनी कहाती है। यही प्राणमय कोषकी पूर्णताका साधारण लक्षण है किन्तु यह व्यक्तिगत या जातिगत बल भी धर्ममूलक अवश्य होना चाहिये। नहीं तो यही बल अनर्थ तथा अधःपतनका कारण हो जायगा जैसा कि आज दिन अनेक मनुष्य तथा मनुष्यजातियोंमें देखनेमें आ रहा है। आज दिन यूरोपमें धर्मलक्ष्यहीन बलसञ्चयका ही कारण है कि इस समय वह महादेश ईर्ष्याद्वेषमूलक युद्धकी दावाग्निमें भस्म होनेको प्रस्तुत हो रहा है। इस समयके अन्य सभ्य देशोंकी शिल्पोन्नति, वाणिज्योन्नति, पदार्थविद्यारूपी सायन्सकी उन्नति, सामाजिक उन्नति तथा नाना प्रकारकी ऐश्वर्योन्नति जो कुछ दिखाई दे रही है वे सब अन्नमय और प्राणमय कोष सम्बन्धीय उन्नति ही हैं इसमें सन्देह नहीं है। उन जातियोंकी दृष्टि अभी तक अन्य कोषोंकी उन्नतिकी ओर पड़ी ही नहीं है यह मानना ही पड़ेगा। वस्तुतः उनकी यह उन्नति यदि धर्ममूलक होती तो आज यह मृत्युलोक स्वर्गलोक-तुल्य हो जाता। दर्शन शास्त्रीय उत्तम शिक्षाके साथ ही साथ मनोमय कोषकी उन्नतिका पथ प्रशस्त होता है और तत्पश्चात् विज्ञानमयकोषकी उन्नति करता हुआ मनुष्य आनन्दमय कोषकी पूर्णता सम्पादन करके पूर्णावयव मनुष्य बन जाता है। उस समय वह पूर्णावयव मनुष्य या मनुष्यजाति वसुधाको ही अपना कुटुम्ब

समझ कर अपनेको भी कृतकृत्य करता है और समग्र जगत्को कृतकृत्य करता है। इस प्रकारसे धर्मको साथ लेकर यदि शिक्षा-प्रणाली नियोजित की जाय, तभी शिक्षाका यह आदर्श फलीभूत हो सकती है।

धर्मोन्नतिकी चरम सीमा आत्मोन्नति है और इस उन्नतिमें ही सकल उन्नतिकी पराकाष्ठा तथा पर्यवसान है, यथा—याज्ञवल्क्य संहितामें "अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"—योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है; किन्तु आत्माकी उन्नति यह शब्द बहुत ही गौरवग्रस्त है क्योंकि आत्मा तो सदा ही स्वतः उन्नत, ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश और स्वतः पूर्ण है। अवनत वस्तुकी उन्नति सम्भव हो सकती है, जो वस्तु स्वयं ही उन्नत है उसकी उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये 'आत्मोन्नति' शब्दके द्वारा यही समझना शास्त्रानुकूल होगा कि आत्माको अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित देखना ही पूर्ण आत्मोन्नति-साधन है। आत्माको अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित देखनेके विषयमें प्रकृति ही अन्तरायरूपिणी है। प्रकृति ही निज परिणामोत्पन्न त्रिविध शरीर द्वारा मलविक्षेपआवरणरूपी तीनों अन्तरायोंकी सृष्टि करके साधनके दृष्टिपथसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्रच्छन्न रखती है। अतः आत्माके ऊपरसे मलविक्षेपआवरणको दूर करना ही यथार्थ आत्मोन्नतिसाधन है। स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्म शरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण है। वेदविहित कर्मानुष्ठान द्वारा स्थूल शरीरका मल नाश होता है, उपासनाके द्वारा सूक्ष्म शरीरका विक्षेप नाश होता है और ज्ञानके द्वारा कारणशरीरका अविद्यावरण दूरीभूत होनेपर तभी आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। अतः कर्म-उपासना-ज्ञानके नियमित अनुष्ठान द्वारा ही पूर्ण आत्मोन्नति हो सकती है। आत्मा

सत् चित् आनन्दरूप हैं। उनकी सत् सत्ता विराट् विश्वके भीतर एकरस अद्वितीय परिणामहीन मौलिक सत्तारूपसे सदा विद्यमान है। यह सत्सत्ता देशकालवस्तुसे अपरिच्छिन्न है किन्तु जीवकी सत्सत्ता देशकालवस्तुके द्वारा सदा परिच्छिन्न है। साधक निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा धीरे धीरे अपनी सत्सत्ताको बढ़ाता हुआ अन्तमें विश्वव्यापिनी विराट् सत्सत्ताके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकं' भावसे अपनी एकता कर सकता है। इस प्रकारसे साधकको परमात्माकी सत्सत्ताकी उपलब्धि होती है। उपासनाके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके आनन्दमय परमात्मामें जब साधक प्रतिष्ठालाभ करता है तब उसको परमात्माको आनन्द-सत्ताकी उपलब्धि होती है और ज्ञानकी सहायतासे आत्मानात्म-विचार करके राजयोगसिद्ध योगी जब निर्विकल्प समाधि पदवी-पर प्रतिष्ठा लाभ करते हैं तभी उनको निर्गुण ब्रह्मकी चित्सत्ताकी उपलब्धि होती है। अनात्माका आवरण जन्मजन्मान्तरगत अध्या-सके कारण बहुत ही प्रगाढ़ है इसलिये एकाएक उसका उन्मो-चन होना कदापि सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण वेदानुमोदित सप्तदर्शनशास्त्रोंने अपनी अपनी ज्ञानभूमियोंके अनु-सार आवरण–मोचनार्थ उपाय बताकर अपना दर्शन नाम कृतार्थ किया है। प्रथमतः नास्तिक्यभूमिमें देहसे आत्माकी पृथक्ता ही मनुष्यको मालूम नहीं होती है। इसी कारण चार्वाक-लोका-यतिक आदि नास्तिकोंके मतानुसार शरीर ही आत्मा है और देहनाशसे ही आत्माका नाश है। इस नास्तिक भूमिसे मुमुक्षुकी बुद्धि जब कुछ आगे बढ़ती है तब न्याय वैशेषिक दर्शनोंकी ज्ञानभूमि द्वारा उसको यह अनुभवमें आजाता है कि आत्मा स्थूलदेह नहीं है, उससे अतिरिक्त है और इच्छा द्वेष सुख दुःख प्रयत्न आदि आत्माके धर्म हैं। इस प्रकारसे प्रथम दो ज्ञान-

भूमियोंकी सहायतासे ज्ञानपथानुगामी मुमुक्षुका आत्मा स्थूलदेहके अभिनिवेशसे मुक्त हो जाता है; किन्तु न्यायवैशेषिक ज्ञानभूमिमें आत्मा स्थूलशरीरके अभिनिवेशसे मुक्त होनेपर भी सूक्ष्मशरीरके अभिनिवेशसे मुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न आदि अन्तःकरणधर्मके साथ इन दो भूमियोंमें आत्माको मिलाये देखनेका अधिकार रहता है। तदनन्तर आत्मा और भी उन्नत होकर जब योग सांख्यकी ज्ञानभूमियोंमें पहुंचता है तब इच्छाद्वेषादिको अपना धर्म न समझकर प्रकृतिका धर्म समझता है, अपनेको निःसङ्ग नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावमें समझता है, केवल बन्धनका उपचार और इसी औपचारिक बन्धन-दशामें लौहित्योपचारयुक्त स्फटिकमणिकी तरह अपनेमें सुखदुःखादिका मिथ्या आभासमात्र समझता है। इस प्रकारका मिथ्या आभास या उपचार चित्तवृत्ति निरोध अथवा विवेक द्वारा विदूरित करके अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें अवस्थान करना योग तथा सांख्यज्ञान भूमियोंके अनुसार आत्माकी मुक्ति है। इस प्रकारसे योग सांख्य भूमियोंमें प्रतिपिण्डावच्छिन्न पुरुषकी स्वरूप-प्रतिष्ठा होनेपर भी आत्माकी सर्वव्यापक सत्ताकी उपलब्धि इनमें नहीं होती है। इसलिये अन्तिम तीन भूमियोंके तीनों दर्शनोंके द्वारा कार्यब्रह्मके साथ साधनबलसे कारणब्रह्मकी क्रमशः एकत्वोपलब्धि होती है। तदनुसार कर्ममीमांसादर्शन भूमिमें 'जगत् ही ब्रह्म है' यह उपलब्धि होती है, दैवीमीमांसादर्शनभूमिमें 'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् ब्रह्म ही जगत् है यह उपलब्धि होती है और ब्रह्ममीमांसादर्शन भूमिमें प्रपञ्चका पूर्णविलय होकर जीवब्रह्मकी एकत्वोपलब्धि होती है। उस समय सिद्ध योगी आत्माके मायातीत यथार्थ ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि कर कृतकृतार्थ होते हैं। अविद्या विद्या दोनोंसे अतीत परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार करके उनकी समस्त विद्या परिसमाप्ति-

को प्राप्त हो जाती है। इसी आत्मस्वरूपोपलब्धिमें आत्मोन्नतिकी पराकाष्ठा है और आर्य्यशास्त्रसम्मत शिक्षादर्शकी पूर्णाचरितार्थता है। शारीरिक उन्नति, मानसिक उन्नति, बुद्ध्युन्नति, नैतिक उन्नति, धर्मोन्नति, लौकिक उन्नति, अलौकिक उन्नति, सभी उन्नति इस अन्तिम उन्नतिके लिये साधन तथा सहायकमात्र हैं। अतः विशेष विचारपूर्वक नवीन भारतमें आर्य्यसन्तानोंका शिक्षादर्श इस प्रकारसे निर्द्धारित करना चाहिये जिससे प्रवीण पितापितामह पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार आर्य्यसन्तानगण यथार्थ शिक्षाको लाभ करके अपना जीवन तथा सामाजिक जीवनको सफल कर सकें, यही आर्य्यशास्त्रसम्मत शिक्षादर्शका विचार है।

आर्य्यपुरुषोंके लिये शिक्षादर्शका निर्णय करके अब आर्य्यनारियोंके लिये शिक्षादर्शका निर्णय किया जाता है। स्त्री जातिको मूर्खा न रखकर उन्हें सुशिक्षा देनी चाहिये इस विषयमें 'नवीन भारत' में बहुत कुछ आन्दोलन हो रहा है। "कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः" इत्यादि वचनोंके द्वारा स्त्रीशिक्षाके विषयमें हिन्दुशास्त्रमें प्रोत्साहन तो मिलते हैं किन्तु किस प्रकारकी शिक्षा स्त्रीजातिके लिये यथार्थमें शिक्षालक्ष्यको सार्थक कर सकती है, इस विषयमें बहुत विचार करके तब स्त्री जातिके लिये शिक्षादर्श निर्णय करना चाहिये। अन्यथा सुफलके बदले कुफल ही होगा इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। दुःखकी बात है कि नवीनभारतमें स्त्रीजातिकी शिक्षाके लिये जितने प्रकारके उपाय किये जाते हैं उनमेंसे अधिकांश उपाय ही असम्पूर्ण, दोषयुक्त तथा शिक्षादर्शके बिगाड़नेवाले हैं। अतः इस विषयमें विशेष विचार तथा सावधानताके साथ कर्त्तव्यपथमें अग्रसर होना चाहिये। अब नीचे स्त्रीजातिके शिक्षादर्शके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

पहले ही कहा गया है कि शिक्षाका लक्ष्य अन्तर्निहित मौलिकताका उद्बोधन मात्र है। इसलिये स्त्रीजातिकी शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये जिससे वह भविष्यत्में पतिव्रता सती, आदर्शगृहिणी और अच्छी माता बन सके।

पूज्यपाद महर्षिगण आर्य्यपुरुषोंकी शिक्षाप्रणालीके विषयमें यही मौलिक उपदेश दे गये हैं कि वर्णाश्रमधर्म्मकी बीजरक्षाको शिक्षाप्रणाली सहायक हो कि जिससे आर्यजाति कालके प्रवाहमें बह कर अन्य जातियोंकी तरह नष्ट न हो जाय और चिरजीवी हो सके। आर्यपुरुषोंकी शिक्षा उनकी सामाजिक परिस्थितिके अनुसार विभिन्न रीति पर दी जाय, सब वर्ण और सब अधिकारके मनुष्यों-को एक ही मार्गमें चलाकर सामाजिक विश्टङ्खलता न उत्पन्न की जाय। उनकी दृढ़ आज्ञा थी कि शिक्षाप्रणाली धर्ममूलक हो और उसका अन्तिम लक्ष्य वसुधाको अपना मानकर, रागद्वेषसे मुक्त होकर मनुष्य भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर सके। आर्यमहिलाओंकी शिक्षा-प्रणालीके विषयमें सब महर्षियोंका सर्व्ववादी सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार बीज और पृथिवीमें आकाश पातालका सा प्रभेद है, उसी प्रकार पुरुषके अधिकार तथा नारीके अधिकारमें आकाश पातालका सा अन्तर है। जिस प्रकार उद्भिज्ज सृष्टि उत्पन्न करने-के लिये बीजकी प्रधानता रहने पर भी भूमिकी पवित्रता तथा उत्तम कर्षण होनेकी परम आवश्यकता है, उसी प्रकार नारीधर्मके अनुसार आर्यमहिलाको यथायोग्य शिक्षा देनेकी विशेष आव-श्यकता है। आर्यमहिलाको स्वधर्मानुकूल उत्तम शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। और जिससे वे अपने अपने पतिके स्वधर्म तथा स्व-कर्त्तव्य साधनमें सहयोगिनी और सहकारिणी बन सके इसका पूरा विचार रखना उचित है। परन्तु उनको पुरुषभाव उत्पन्नकारी शिक्षासे सर्वथा बचाना उचित है। नहीं तो यूरोपकी वर्त्तमान

दुरवस्थाका अभिनय भारतवर्षमें भी होना अवश्यम्भावी है। इस विषयमें और भी विस्तृत वर्णन तथा शिक्षणीय विषयोंका निर्देश 'नारीधर्म' नामक प्रबन्धमें किया जायगा।

यही प्रवीण पूज्यपाद महर्षियोंके मतानुसार आर्यनरनारियोंका शिक्षादर्श है। इसके अनुसार शिक्षादर्शके नियोजित तथा नियमित करनेसे आर्यजाति शिक्षालक्ष्यको अवश्य ही चरितार्थ कर सकेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आर्य्यजीवन ।

—:x:—

(५)

'आर्य्य' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा उसके अनुसार आर्य्यजीवनका लक्ष्यनिर्णय पूज्यपाद महर्षियोंने क्यों ऐसे विचित्ररूपसे किया है, इसके यथार्थ रहस्यको न जाननेके कारण पश्चिमी जगत् तथा तद्देशीय शिक्षासे विस्मृतस्वरूप 'नवीन भारतमें' अनेक प्रकारकी कल्पनाओंकी नित्य अवतारणा होती है। बहुतसे पश्चिमदेशीय पण्डितम्मन्य मनुष्य आर्य्यजातिको खेती करनेवाली जङ्गली असभ्य जाति ही अब तक कहा करते हैं। बहुतसे उन्हें वर्ण-आश्रम-आचार आदि कुसंस्कार-पूर्ण, पौत्तलिकता आदि मूर्खताओंसे पूर्ण अर्द्धसभ्य मनुष्यजाति कहते हैं। कोई कोई आर्य्यजातिको प्रत्यक्षइन्द्रियगोचर सुखमय संसारके प्रति उपेक्षा करनेवाली तथा काल्पनिक परलोक, आत्माका लोक आदि मिथ्या मृगजलके लिये अमूल्य जीवनको खोनेवाली दुर्भाग्यदुर्दशाग्रस्त अतिमूर्खोंकी जाति कहते हैं। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि ऊपर कथित मूर्खताराशि आर्य्यजातिकी बुद्धिपर घनघटाकी तरह

पहले बहुत ही आच्छादित थी, अब पश्चिमी सुसभ्यताके मलय प्रवाहने मूर्खतामेघको आर्यजातिके अन्तःकरणपरसे बहुतसा हटा दिया है, इसलिये पश्चिमी सभ्यताकी कृपासे अब आर्यजाति प्राचीन असभ्यताको थोड़ा बहुत दूर कर देनेमें समर्थ हो रही है। इस प्रकारकी अनेक कल्पनाएँ आर्यजातिके विषयमें चलती हैं और जिन आर्यसन्तानों पर पश्चिमी शिक्षा तथा पश्चिमी आदर्शका प्रभाव है उन्हें इन सब कल्पनाओंको सत्य माननेमें भी कोई सङ्कोच नहीं होता है। दूसरी ओर ऐसे भी एकदल पक्षपातरहित उदार पश्चिमी विद्वान् हैं जिन्होंने आर्यसभ्यताका थोड़ा बहुत रहस्य जान करके उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है और तदनुसार पश्चिमी शिक्षा प्राप्त होने पर भी आर्यसभ्यतापर श्रद्धासम्पन्न एक दल एतद्देशीय आर्यविद्वान भी दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनों दलोंमें मतवादसम्बन्धीय संघर्ष भी प्रायः देखनेमें आते हैं। अतः 'प्रवीण दृष्टि' के अनुसार 'आर्य्यजीवन' का यथार्थ स्वरूप तथा तथ्य निर्णय करके ऊपर कथित संघर्षोंका निवारण करना ही प्रकृत प्रबन्धका लक्ष्य होगा।

"अर्त्तुं सदाचरितुं योग्यः आर्यः" ऐसे लक्षणके द्वारा वैदिक सदाचारपरायण जातिको हिन्दुशास्त्रमें आर्य्यजाति कहा गया है। "उभयोपेताऽऽर्यजातिः" इस लक्षणके द्वारा वर्णधर्म तथा आश्रम-धर्मसे युक्त जातिको मीमांसा शास्त्रमें आर्य्यजाति कहा है। "आर्य्यः ईश्वरपुत्रः" ऐसा कह कर यास्क मुनिने निरुक्त शास्त्रमें आर्य्यजातिको आध्यात्मिक सम्पत्तिसम्पन्न अति उन्नत जाति कहा है। क्योंकि पुत्र जिस प्रकार पिताका आत्मज होनेसे स्वभावतः ही पितृभक्त तथा पितृगुणसम्पन्न होता है, उसी प्रकार आर्य्यजाति भी परमात्माकी सन्तान होनेसे उन्नत आध्यात्मिकगुण-युक्त तथा आत्मरतियुक्त होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अब आर्य्यजातिका ऐसा लक्षण क्यों किया गया है सो ही विवेच्य है। 'उन्नतिका आदर्शनिरूपण' नामक प्रबन्धमें पहले ही कहा गया है कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके राज्यमें गुणविकाशके नैसर्गिक तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देशकालमें भिन्न भिन्न प्रकृतिकी जातियां उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिके जिन जिन विभागोंमें रजोगुण-तमोगुणका विकाश स्वभावतः अधिक है और सत्त्वगुणका विकाश नाममात्र है वहाँ आत्मलक्ष्यहीन अर्थकामपरायण जाति स्वभावतः ही उत्पन्न होगी। इसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागमें तीनों गुणोंका पूर्ण विकाश है वहाँपर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्गसाधनपरायण आत्मलक्ष्ययुक्त जाति स्वभावतः ही उत्पन्न होगी इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। समस्त भूमण्डलमें भारतवर्षकी प्रकृति ही पूर्ण है और इतर देशोंकी प्रकृति अपूर्ण है, इस विषयमें पूर्ण विचार हो चुका है। अतः भारतमाताकी आदि सन्तान आर्य्यजाति ईश्वरपुत्र क्यों कहलाती है और आर्य्यजातिमें परमात्मा ही अन्तिम लक्ष्य क्यों है तथा अन्यान्य जातियोंमें आत्मा लक्ष्य न होकर अर्थकाम लक्ष्य क्यों है, इस विषयमें अधिक आलोचनाका कोई भी प्रयोजन नहीं रहा। गवेषणापरायण पक्षपातरहित उदारचरित्र पुरुष थोड़े ही विचारसे इस तथ्यका पूर्ण रहस्य जान सकेंगे। सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा पातिव्रत्य धर्म द्वारा किस किस प्रकारसे जातिका आत्मलक्ष्य अटूट रह सकता है इसका वृत्तान्त पहले ही कहा गया है। अतः 'आर्य' जातिके विषयमें ऊपर कथित सभी लक्षण आर्यप्रकृतिके अनुकूल तथा नैसर्गिक हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अर्थकामके साथ प्रमाद तथा अनुदारताका स्वाभाविक सम्बन्ध रहनेसे अर्थकामपरायण इतर जातियां आर्यजातिके जातीय जीवनके अलौकिक लक्ष्यको न समझकर

उसकी निन्दा तथा उसपर अयथा कटाक्ष कर सकती हैं, किन्तु आत्मरतियुक्त आर्यजाति उन सब अयथा आलोचनाओंको बालचापल्य तथा अज्ञानका विजृम्भन मात्र समझकर उनपर उपेक्षा ही करती है और अपना स्वभावसुलभ उदारताकी वशवर्तिनी होकर इतर जातियोंकी अधिकारानुसार उन्नति ही चाहती है।

प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्ति सङ्कल्पके अनुसार हुआ करती है, किन्तु लक्ष्यके तारतम्यानुसार संकल्पका तारतम्य होता है। आर्यजीवन का जो लक्ष्य पहले बताया गया है आर्यजातिकी समस्त चेष्टा उसी लक्ष्यके अनुसार ही अवश्य नियमित होगी। इसी कारण अर्थ-कामपरायण जातियोंकी सभ्यताके साथ आर्यजातीय सभ्यताका इतना अन्तर देखनेमें आता है जिसका गूढ़ हेतु न समझकर मनुष्य बहुधा भ्रममें पतित होते हैं। अब नीचे लक्ष्यभेदानुसार चेष्टाभेदका तात्पर्य बताकर क्रमशः इन बातोंका समाधान किया जायगा।

(१) अर्थकाम लक्ष्य न होकर धर्ममोक्ष तथा उसके द्वारा साध्य आत्मा लक्ष्य क्यों होना चाहिये इसका विस्तृत विवरण "उन्नतिका आदर्श निरूपण" शीर्षक प्रबन्धमें पहले ही बताया गया है। भारतीय प्रकृतिमें प्रकाशलक्षण सत्त्वगुणका स्वाभाविक विकाश होनेसे भारतीय आदिनिवासी आर्य महर्षियोंने ज्ञानदृष्टि द्वारा यह अनुभव कर लिया था कि नित्य आत्माको छोड़कर अनित्य भौतिक वस्तुको लक्ष्य बनाना मूर्खता तथा अज्ञान-मात्र है। क्योंकि विनाशी, परिणामी, अनित्य, परिवर्त्तनशील भूतसङ्घातके द्वारा कदापि चिरशान्तिप्रद आत्यन्तिक शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण आर्यजीवनमें आत्मा ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम उसका साधनमात्र है। इसी कारण आर्य्यजातिके सिद्धान्तानुसार कामप्रधान शूद्रजाति, अर्थप्रधान

वैश्यजाति और धर्मप्रधान क्षत्रियजाति इन तीनोंकी सामाजिक जीवनके अङ्गरूपसे परम आवश्यकता रहने पर भी मोक्षप्रधान ब्राह्मण्यधर्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा सबका अन्तिम लक्ष्य है। इसी कारण प्राचीन आर्यजीवनमें शूद्रवर्णका कलाकौशल, वैश्यवर्णकी धनसम्पत्ति तथा वाणिज्यश्री, क्षत्रियवर्णकी युद्धविद्या तथा अपूर्व वीरता आदि सभी कुछ पूर्ण विकाशको प्राप्त होनेपर भी अन्तिम लक्ष्य ये सब नहीं थे किन्तु महर्षि याज्ञवल्क्यके सिद्धान्तानुसार—

'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'।

अर्थात् अन्तमें योग द्वारा आत्माका साक्षात्कार ही अन्तिम लक्ष्य था। बल्कि ऐसा कहना ही युक्तियुक्त होगा कि आर्य्यजाति अन्तिम लक्ष्यसिद्धिमें कोई बाधा प्राप्त न हो इसी विचारसे ही प्रथम त्रैवर्णिक भौतिक उन्नतिमें प्रोत्साहन दिया करती थी। स्थूलशरीर आत्मसाधनाका उत्तम उपकरण है इस कारण उसकी रक्षा प्रथम कर्त्तव्य है, निवाससुगमता आदिके लिये कलाकौशलकी आवश्यकता है, नहीं तो स्थूलशरीरको कष्ट होगा और उससे आत्मसाधनमें बाधा होगी, इसी विचारसे आर्यजाति शूद्रवर्णमें कलाकौशल तथा सेवाधर्मकी सहायता करती थी। उदरपूर्त्तिके विना शरीरकी रक्षा नहीं होती है, अर्थकामके विना परिवार-प्रतिपालन तथा अभावग्रस्त देशवासियोंकी अभावपूर्त्ति नहीं हो सकती है और इन सभोंके अभावसे स्थिरचित्त हो साधनमें रति नहीं हो सकती, इसीलिये आर्य्यजाति वैश्यजीवनकी सर्वतोमुखिनी उन्नतिमें विशेष सहायता करती थी। स्थूल सम्पत्ति, शरीर सम्पत्ति सभी कुछ होनेपर भी विजातीय आक्रमण तथा अत्याचारसे उसकी रक्षा किये विना तथा स्वतन्त्रताके विना आत्मरक्षा और आत्मसाधना नहीं हो सकती, इसलिये आर्यजाति क्षत्रियभावप्रतिष्ठाकी और क्षत्रियवीरताकी महिमा गाया करती थी। अतः विचार द्वारा

यही सिद्धान्त निकलता है कि आर्यजीवनका लक्ष्य आत्मानुसन्धान तथा आत्मसाक्षात्कार ही था, और सब विषय उसके साधनरूपसे पूर्णता पर पहुँचा जाया करते थे। यही कारण है कि प्राचीन समयमें आर्यजातिके भीतर शिल्पकला, वाणिज्य, भौतिक विज्ञान, युद्धविद्या, स्थापत्यविद्या, चिकित्साविद्या आदि सभी विद्याओंकी विशेष उन्नति तथा अध्यात्मविद्याकी पराकाष्ठा प्राप्त हुई थी * जिसको पक्षपातरहित अनेक पश्चिमी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं। किन्तु इस प्रकार सर्वतोमुखिनी लौकिक अलौकिक प्रतिभाका विकाश उसी प्रकृतिमें हो सकता है जिसमें त्रिगुणका नैसर्गिक पूर्णविकाश हो। नहीं तो गुणविकाशके तारतम्यानुसार प्रतिभाके विकाशमें तारतम्य अवश्य ही रहेगा, जो कि पृथिवीके भिन्न भिन्न इतिहासोंकी पर्यालोचना करनेसे प्रत्येक मनुष्य ही जान सकता है।

तमोगुणका स्वरूप अज्ञान तथा अन्धकारमय है। प्रकृति अपनी तमोमयी अविद्याभावके द्वारा ही जीवको संसारचक्रमें घटीयन्त्रवत् घुमाती है। देहको आत्मा समझकर, आत्माके यथार्थ स्वरूपको भूलकर देहके लिये ही सब कुछ करना तथा देहेन्द्रियोंकी भोगवासनामें लिप्त रहना तमोगुणका स्वभाव है। इस कारण जिस प्रकृतिमें तमोगुणका स्वाभाविक विकाश है वहाँकी जाति अर्थकाममें ही मग्न रहती है और उनकी समस्त चेष्टाओं, समस्त उन्नतियोंका अन्तिम पर्यवसान अर्थकाममें ही होता है। उन्नतिके प्रथम स्तरमें स्थूलशरीरको ही सर्वस्व समझना स्वाभाविक है, क्योंकि स्थूल शरीर ही प्रत्यक्ष है। इसलिये जिन जातियोंमें सभ्यताका प्रथम

---

* आर्यजातिकी सर्वाङ्गीण पूर्णताका वृत्तान्त "नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत" नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

स्तर है वे स्थूलशरीरके ही सुखके लिये अपने मस्तिष्कको व्यापृत रखती हैं और इसी स्तरमें शिल्पकला, भौतिक विज्ञान या सायन्स आदिका विकाश होता है। भौतिक विज्ञानके चमत्कारको देख कर स्थूलदर्शी मनुष्य मुग्ध हो सकता है किन्तु थोड़ा विचार कर देखनेसे ही पता लगता है कि स्थूलशरीरकी सुखेच्छाको तथा इन्द्रिय सुखभोगको सुखसाध्य बनानेके सिवाय भौतिक विज्ञानका और कोई भी विशेष लक्ष्य नहीं है। तदनन्तर उन्नतिके द्वितीय स्तरमें जातिकी दृष्टि स्थूल इन्द्रियोंसे कुछ हट कर सूक्ष्म इन्द्रियोंकी ओर जाती है। उसीके अनुसार द्वितीय स्तरकी सभ्यतामें मनोराज्यमें जातिका कुछ कुछ अधिकार जमने लगता है। मनोविज्ञान (Psychology) की उन्नति ही इस समय भौतिक विज्ञानके स्थानको अधिकार करने लगती है और स्थूल शिल्पकलाके सिवाय भावजगत्‌की बहुतसी बातें इस समय जातीय उन्नतिके लक्षणरूपसे परिगणित होने लगती हैं। सङ्गीतविद्याकी उन्नति, काव्यकलाकी उन्नति, चित्रकलाकी उन्नति, चिन्ताशक्तिकी उन्नति, मानसिक बल तथा मनोविज्ञानकी स्फूर्त्ति इस स्तरकी सभ्यताका लक्षण हैं। इस दशामें तमोगुणके साथ साथ रजोगुणकी विशेष स्फूर्त्ति रहती है और इस लिये लौकिक जीवन, जातिके इस स्तरमें रहने पर भी पशुभावसे कुछ उन्नत अनुरागात्मक मनुष्यभाव इसमें विकाशको प्राप्त होने लगता है। उन्नतिके तृतीय स्तरमें बुद्धिका विकाश होने लगता है। इसमें प्रथमतः बुद्धि जब लौकिक जगत्‌में अपने चमत्कारको दिखाने लगती है तो लौकिक उन्नतिकी पराकाष्ठा बुद्धिजीवी जातिको प्राप्त होने लगती है। सभ्यताके इस तृतीय स्तरमें बुद्धिजीवी जाति बुद्धिबलसे पदार्थविद्या, रासायनिक विद्या, चिकित्सा शास्त्र, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, आधिभौतिक दर्शनशास्त्र आदि बुद्धि-

विलाससुलभ सभी विभागोंमें विशेष उन्नति कर दिखाती है। किन्तु बुद्धिके लौकिक विलासमें रजोगुणका आधिक्य रहनेसे इन सभी विद्याओंका लक्ष्य द्वैतप्रपञ्चमय प्रत्यक्ष जगत्में विचरण करना ही होता है। प्रकृतिका प्रथम तत्त्व बुद्धिरूपी महत्तत्त्व है। उसमें ज्ञानमय, आनन्दमय अलौकिक आत्माकी झलक है। इसलिये सभ्यताके चतुर्थ स्तरमें सत्त्वगुणका कुछ विकाश होते ही बुद्धि केवल लौकिक जगत्में विचरण करना पसन्द न करके अतीन्द्रिय जगत्में तथा दैवजगत्में स्वतः ही विचरण करना प्रारम्भ कर देती है। इस स्थूल इन्द्रियग्राह्य मर्त्यलोकके सिवाय और कोई लोक है कि नहीं, मृत्युके बाद जीवकी गति कहाँ कहाँ होती है, दैवजगत्, परलोक, प्रेतलोक, स्वर्ग नरकादिका अस्तित्व है कि नहीं, देव, गन्धर्व, ऋषि, पितृ आदि कैसे कैसे होते हैं, प्रकृतिसे अतिरिक्त आत्मसत्ता नामक कोई सत्ता है कि नहीं, समस्त अनित्य सुखदुःखमय चञ्चल स्थितिके मूलमें कोई नित्य सदानन्दमय निश्चल सत्ता अवश्य ही होनी चाहिये इत्यादि इत्यादि अलौकिक तत्त्वसम्बन्धीय सभी विषयोंमें अनुसन्धित्सा इस स्तरकी सभ्यतासे युक्त बुद्धिजीवी मानवका स्वाभाविक धर्म है। आर्यजातिके सिवाय पृथिवीकी और सभी जातियाँ अभी तक सभ्यताके प्रथम तीन स्तरोंमेंसे किसी न किसी स्तरमें घूम रही है और चतुर्थ स्तरका अनुमान कदाचित् उनके अन्तःकरणमें हुआ करता है। यही कारण है कि आर्यजीवनके साथ विजातीय जीवनोंका जीवनयज्ञमें इतना महान् प्रभेद है।

(२) आर्यजीवनके आदर्शमें मङ्गलमय शान्तिकी प्रधानता है। आर्यजीवनमें आत्मा लक्ष्य होनेसे कुछ मधुर गुणोंका स्वतः ही विकाश होता है, जिसका रहस्य न जानकर अर्थकामपरायण जातियाँ विविध प्रकारके आक्षेप कर सकती हैं। संसारमें समस्त विप्लव, अशान्ति तथा संग्रामके मूलमें अर्थकाम ही है। अर्थ

तथा कामकी पिपासा कभी मिटती नहीं अपितु संग्रह तथा भोग द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है। इस कारण अर्थ-कामपरायण जाति हृदयमें कदापि यथार्थ शान्ति लाभ नहीं कर सकती है। उसके हृदयकी अदम्य आशा उसे निसदिन चिन्ताके चक्रमें ही डाल रखती है, उसको आशानुरूप अर्थकामवृत्तिकी चरितार्थताके लिये प्रतारणा, शठता, मिथ्याचार, व्यभिचार आदि सभी कुछ करना पड़ता है। इसके फलसे प्रवल रागद्वेषकी वृद्धि तथा परस्परमें विवाद और अन्तमें देशव्यापी संग्राम होना स्वाभाविक ही है। अन्य पक्षमें जिस जातिने अर्थकामको परिणामदुःखद समझकर उसके प्रति आसक्ति छोड़ केवल जीवन-यात्रा निर्वाहमात्रके लिये अर्थके संग्रहका प्रयोजन समझ लिया है और आत्मामें यथार्थ आनन्द तथा सकल आनन्दका निदान देखकर उसीको अपना आत्यन्तिक लक्ष्य बनाया है, उसके चित्तमें क्रमशः आत्मानुभवके साथ साथ निरतिशय शान्ति आती जायगी। क्योंकि जहां त्रिगुणका विकार है वहीं अशान्ति है और जहाँ त्रिगुण-की समता है वहीं ब्रह्मका राज्य है। श्रीभगवान्ने भी कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिसका मन साम्यमें स्थित है उसने यहीं समस्त सृष्टिको जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इस कारण अन्तः-करणकी समतामयी स्थिति ही ब्राह्मी स्थिति है। इस प्रकारकी ब्राह्मी स्थिति जिस जातिका लक्ष्य तथा आनन्दनिकेतन है वह जाति कभी अर्थकामके तुच्छ सुखको सर्वस्व समझकर उसमें उन्मत्त हो, अपने जीवनको वृथा नष्ट तथा अशान्तिमय नहीं बना सकती है। वह उतना ही अर्थकामका संग्रह करेगी जितना जीवनधारणार्थ प्रयोजन है और बाकी अंशको सञ्चय न करके बांट देगी। प्राचीन

आर्य्यजातिका जीवन तथा महर्षिप्रदर्शित आदर्श ऐसा ही था। और इसी कारण आर्य्यभूमि वास्तवमें ही शान्तिभूमि तथा मोक्षभूमि थी। यदि आज भी संसारकी समस्त जातियां यथार्थ सुख कहां है इसको समझ जायँ, आत्मानन्दरूपी स्पर्शमणिके संस्पर्शसे अपने अपने जीवनको सुवर्णमय बना लेवें तो समस्त संसारव्यापी घोर अशान्ति, संग्राम तथा विद्रोहका दावानल एकबार ही निवृत्त हो जायगा और तब अर्थकामजन्य विलासितासे उत्पन्न तुच्छ सभ्यताको सभ्यता न समझकर आत्मोन्नतिमूलक सरल सभ्यताको ही यथार्थ सभ्यता वे मान सकेंगी। किन्तु निखिल जातिके भाग्यगगनमें इस प्रकारके शुभ नक्षत्रका उदय कब होगा सो अन्तर्यामी भगवान् ही जानते हैं। किन्तु अब अनेक विजातीय जनोंके हृदयमें ऊपर प्रदर्शित सत्यसभ्यताकी क्षीण रश्मि चमकने लगी है और वे निष्पक्ष हृदयसे सत्यासत्यके निर्णयमें तत्पर होने लगे हैं। किसी जापानी वक्ताने यूरोपमें वक्तृता देते समय यूरोपियोंको सम्बोधन करके ठीक ही कहा था कि * "दो हजार वर्ष जब तक हमलोग समस्त संसारके साथ शान्तिका बर्त्ताव रखते थे और सूक्ष्म कलाविद्यामें प्रवीण थे तब तो हमारी गणना असभ्य जातियोंमें थी और जबसे हम दूसरी जातियोंके साथ संग्राम करने लगे और हजारों मनुष्योंकी हत्या की, तब आप हमें सभ्यजाति कहने लगे!!" प्रोफेसर हक्सले साहबने पाश्चात्य सभ्यताकी समालोचना

---

* For two thousand years we kept peace with the rest of the world and were known to it by the marvels of our delicate ethoreal art and the finely wrought productions of our ingenious handicrafts and we were accounted barbarians. But from the day on which we made war on other nations and killed many thousands of our adversaries, you at once admit our claim to rank among civilized nations.

करते हुए कहा है—"सर्वोच्च कोटिकी आधुनिक सभ्यताके भीतर भी यथार्थ उन्नतिका आदर्श अथवा चिरजीवनका लक्षण मैंने कुछ भी नहीं पाया; मुझे इस बातके बतानेमें कोई भी सङ्कोच नहीं है कि यदि वर्त्तमान सभ्यता तथा ज्ञानलाभका यही परिणाम है कि प्रकृतिपर बलात्कार तथा अर्थकामवृद्धि द्वारा अभाववृद्धि, लालसा-वृद्धि और विलासिताकी ही वृद्धि हो एवं उसके फलसे साधारण जनतामें शारीरिक तथा नैतिक अवनतिकी पराकाष्ठा प्राप्त हो जाय, तो मैं ऐसे एक धूमकेतुका उदय प्रार्थना करूँगा जिसके द्वारा अवश्यम्भावी रूपसे आधुनिक सभ्यताका समूल विनाश साधन हो सके" * । डाक्टर ए. आर. वालेस साहबने कहा है कि † "पश्चिमी सभ्यता गोला बारूदकी वर्षा, मनुष्यहत्या,

* Even the best of modern civilizations appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability. I do not hesitate to express the opinion that if there is no hope of a large improvement of the condition of the greater part of the human family ; if it is true that the increase of knowledge, the winning of a greater dominion over nature which is its consequence and the wealth which follows upon that dominion, are to make no difference in the extent and the intensity of want with its concomitant physical and moral degradation amongst the masses of the people, I should hail the advent of some kindly comet which would sweep the whole affair away as a desirable consummation.

"(Government : Anarchy or Regimentation" Collected Essays, Vol. 1.)

† The result of the European mission in Africa so far has been the sale of vast quantities of rum and gunpowder, much bloodshed owing to the objection of the natives to the seizure of their lands and cattle : great demoralisation of

जीवहत्या, अन्य देश तथा अन्य जातियों पर निष्ठुर आधिपत्य-विस्तार, नैतिक अवनतिको पराकाष्ठा तथा अन्यजातिको कष्ट देकर दासत्वशृंखलामें बांधनेपर पर्यवसित है।" मेरी करेलीने कहा है * —"सभ्यता अति महान् शब्द है। अपना अभिमान तथा अहंकारके चरितार्थ करनेके लिये और दूसरेके सामने दम्भ बतानेके लिये यह शब्द बड़ा ही अच्छा तथा मीठा है। हम लोग सभ्यताका अहंकार बताते हैं—मानों हम लोग यथार्थमें सभ्य ही हैं, जैसा हमारा यथार्थ खिश्चियन बननेका अहंकार है। किन्तु यह सब केवल दम्भमात्र ही है, हम लोग वास्तवमें अभी तक असभ्य ही हैं। हमारा जीवन पूर्ण असभ्यतामय है। हमारे भीतर जो जातीय पक्षपात, अन्यजातिसे द्वेष-द्रोहादि वृत्ति, धन- लोभ, ईर्ष्या तथा कठोर परकीय दलनप्रवृत्ति है, ये ही हमारी प्रबल असभ्यताके सूचक हैं।" विदेशीय विद्वानोंके मुखसे इन्हीं सब प्रमाणोंके

black and white and the condemnation of the conquered tribes to a modified form of slavery.

The Wonderful Century, P. 372).

* Civilization is a great word. It reads well—it is used everywhere—it bears itself proudly in the language. It is a big mouthful of arrogance and self-sufficiency. The very sound of it flatters our vanity and testifies to the good opinion we have of ourselves. We boast of civilization as if we are really civilized, just as we talk of Christianity, as if we were really Christians. Yet it is all the veriest game to make believe, for we are mere savages still: savages in "the lust of the eye and pride of life,"—savages in our national prejudices and animosities, our jealousies, our greed and malice and savages in our relentless efforts to overreach or pull down each other in social and business relations.

(Nash's Magazine.)

द्वारा आर्य्यजातीय प्राचीन सभ्यताकी सर्वोत्तमता सर्वथा सिद्ध हो जाती है और वर्त्तमान आर्यजीवनको यथार्थतः आर्यजीवन बनानेके लिये यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त होता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

(३) आर्यजीवन सरलतामय है, इसमें कपट, छल, चातुरी, विलासिता तथा अस्वाभाविक बाह्याडम्बरका नाममात्र भी नहीं है। Plain living, high thinking अर्थात् सादा रहना, उच्च चिन्ता करना इसका स्वाभाविक सिद्धान्त (motto) है। इस प्रकार सरलता तथा सादापन आर्यजातिको परिश्रम करके उपार्ज्जन नहीं करना पड़ता है। आर्यजीवनकी लक्ष्यसिद्धिके साथ साथ ऐसी बातें स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं। प्रत्येक आडम्बरकी उत्पत्ति अभिनिवेश द्वारा हुआ करता है। जिसका जिस पर अभिनिवेश है वही उसका आडम्बर बताया करता है और उसी आडम्बरको बनाये रखनेके लिये नाना प्रकारकी चातुरी, छल, कपट आदिका उसे आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। जिसका स्थूल शरीरपर अभिनिवेश है वह सदा ही प्रयत्न करेगा कि उसका स्थूल शरीर मनोरम बना रहे, स्त्री पुरुष उसे देखते ही मुग्ध हो जायँ और इसीके लिये विलासिता, स्थूल चटक मटक छैलापनका सामान वह व्यग्र होकर सदा ही संग्रह करेगा और इसी विलासिताको प्रकट करनेके लिये उसका नाना प्रकारके अस्वाभाविक आडम्बर, छल कपट आदिका भी स्वतः ही अवलम्बन करना पड़ेगा। उसी प्रकार जिसका अभिनिवेश सूक्ष्म शरीरपर है, वह मन बुद्धि आदिका आडम्बर बताया करता है। नाना प्रकारकी कल्पनाओंका विलास, राग-द्वेषका विलास, काव्यजगत्का अतिरञ्जित विलास, मनोविलास, बुद्धि कौशल, अहंकार, चातुरी, दम्भ, विद्याका आडम्बर ये सब सूक्ष्म शरीरपर अभिनिवेश द्वारा मन-बुद्धिके विलासरूपसे प्रकट होते हैं। किन्तु जहाँ पर स्थूल सूक्ष्म किसी भी शरीर

पर अभिनिवेश लक्ष्य नहीं है, केवल आत्मा ही लक्ष्य है वहां ऐसे अप्राकृतिक आडम्बर कदापि नहीं होंगे। क्योंकि उस अवस्थामें स्थूलसूक्ष्म शरीरपर दृष्टि ही कम होनेसे और जो कुछ दृष्टि हो सो भी आत्माके साधनरूपमें होनेसे, स्थूल सूक्ष्म शरीरका विलास या रूप बनाना सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि आडम्बर या विलास प्रयोजनसे अतिरिक्त अस्वाभाविक विकृतिका सूचक है, जहाँ पर विकृति लक्ष्य नहीं है किन्तु प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करना लक्ष्य है वहाँ प्रयोजनानुसार स्थूल सूक्ष्म शरीरकी रक्षा तथा सञ्चालन ही हो सकता है, अस्वाभाविक तथा प्रयोजनसे अतिरिक्त वृथा बाह्याडम्बर नहीं हो सकता है। आर्यजीवनमें स्थूल शरीरका बाह्य विलास लक्ष्य नहीं है किन्तु सदाचार, परिच्छिन्नता तथा आहारशुद्धिके अवलम्बनसे स्थूल शरीरकी यथोचित रक्षा, पुष्टि तथा उसे सत्त्वगुणमय साधनोपकरण बनाना लक्ष्य है। आर्यजीवनमें मानसिक प्रगल्भता, मनोवृत्तिका तीव्र संवेग, संकल्प विकल्पका उत्ताल तरंगविस्तार तथा ऋजुभाव रहित मलिनता कुटिलता कपटता प्रकाश करके अपने तथा पराये जीवनको उद्व्यस्त करना लक्ष्य नहीं है, किन्तु आसुरी वृत्तियोंके दमन तथा दैवी वृत्तियोंके उद्बोधन द्वारा मनको शुद्ध सात्त्विक निर्मल बनाकर शतदल कमलकी तरह श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें उपहार देने योग्य बनाना लक्ष्य है। आर्यजीवनमें बुद्धिको लौकिक चातुरी तथा दम्भाहंकारका यन्त्र बनाकर समस्त संसारमें खलबली मचाना लक्ष्य नहीं है, किन्तु लौकिक चातुरीको अलौकिक आत्मसाधनका उपकरण और अलौकिक बुद्धि-विनियोगको ब्रह्म पदवीपर प्रतिष्ठा पाने योग्य बनाना लक्ष्य है। और इस प्रकारसे शरीर, मन, बुद्धि आदिका उपयोग जिस जातिमें होगा उस जातिका (Plain living, high thinking) सरल जीवन उच्च चिन्ता अव-

श्य ही स्वाभाविक सिद्धान्तरूप (motto) होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही आर्य्यजीवनके सरलतामय होनेका कारण है।

आर्यजीवनके सरलतामय होनेका अन्य कारण महाप्रकृतिके साथ आर्यजीवनकी सदा सम्मिलनचेष्टा है। "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" तीन गुणोंकी समतावस्थाको प्रकृति कहते हैं। सृष्टि गुणत्रयकी वैषम्यावस्थामें होती है, इस लिये सृष्टि प्रकृति नहीं है, किन्तु विकृति है। इसविकृतिको जीव मनुष्ययोनिमें आकर और भी बढ़ा लेता है। क्योंकि मनुष्ययोनिमें अहंकारवृद्धि तथा अपने केन्द्रपर स्वामिभावका अभिनिवेश अधिक हो जानेसे जीव व्यापक प्रकृतिसे बहुत ही अलग हो जाता है और अपनी व्यष्टि सत्ताको समष्टि सत्तासे एक बार ही पृथक् कर लेता है। इस अवस्थामें विश्वजननी प्रकृतिमातासे अतिदूर हो जानेके कारण मनुष्यमें विकृतिभावकी पराकाष्ठा होती जाती है। वह अपने तीनों शरीरोंको ब्रह्माण्ड शरीरसे सम्पूर्ण पृथक् मानकर उसी विलासकला विस्तारमें रातदिन लगा रहता है। यही उसके जीवनमें असरलता, अस्वाभाविकता, विलासिता तथा छल कपट आदिका हेतु है। मनुष्येतर पश्वादि योनियोंमें जीव जब तक रहता है तब तक उसके जीवनमें इतनी अस्वाभाविकता नहीं रहती। क्योंकि मूढ़ योनिमें बुद्धि तथा अहंकार-विकाशकी अति न्यूनताके कारण पश्वादि जीव स्वशरीरके प्रभु नहीं बन सकते हैं। वे विश्वजननीके अङ्कशिशुकी तरह उन्हींके समष्टि नियमानुसार समष्टि धारामें वह चलते हैं। विश्वजननी अपने गोदमें उन्हें रखती हुई, क्रमोर्द्ध्व-गतिके नियमानुसार मनुष्ययोनि तक मनुष्येतर जीवोंको धीरे २ पहुंचा देती है। उनके जीवनमें पापपुण्यकी जिम्मेवरी कुछ भी नहीं होती है। उनका खान पान भय निद्रा सृष्टिविस्तारादि सभी प्राकृतिक नियमानुसार हुआ करते हैं। वे कभी स्वेच्छासे प्राकृतिकनियमविरुद्ध

कार्य नहीं करते हैं। विश्वजननीके आज्ञानुसार ही उनके सब कार्य्य होते रहते हैं। वे कभी अस्वाभाविक वेशभूषा या रहन सहन आदिके द्वारा विश्वजननीके मुक्त आलिङ्गनसे दूर रहनेकी चेष्टा नहीं करते हैं। वे मुक्तकलेवर होकर माताकी षड्ऋतुमयी विविध विलास-कलाको उपभोग करते हैं। और तभी उनका स्थूलशरीर वज्रकी तरह दृढ़, नीरोग, अपूर्व स्वास्थ्ययुक्त तथा मनबुद्धि सभी स्वभाव-सरल और चातुरीरहित हुआ करते हैं। किन्तु मनुष्ययोनिमें आकर ठीक इसके विपरीत होता है। मनुष्य निजशरीरका प्रभु बनकर यथेच्छाचरण, यथेच्छ आहार निद्रा भय मैथुनादिका आचरण करता है, व्यष्टि सत्ताके मदमें उन्मत्त होकर विश्वमाताके मधुर नियमपर पदप्रहार करता है, उनके नियमको उल्लङ्घन करके अनियमित, अस्वाभाविक आचरण द्वारा असरल, कपटी, कुटिल, रोग-शोकतापभयग्रस्त तथा महान् दुर्दशाग्रस्त हो जाता है। यही साधारण मानवजीवनकी असरल, विलासितामय गतिका निदान है। आर्य्यजीवनका आदर्श इससे बहुत भिन्न है। आर्य्यजीवन व्यष्टि सत्ताके विलासमय अस्वाभाविक विकारको पसन्द नहीं करता है, किन्तु विश्वजननीके स्वाभाविक प्रवाहमें शरीर मन प्राण आत्माको चिरकालके लिये प्रवाहित करनेके अर्थ अनुक्षण प्रयत्न करता है। आर्य्यजीवनकी समस्त साधनाका यही मूलमन्त्र है। समस्त चेष्टाओंका यही चरम लक्ष्य है, समस्त जीवनयज्ञकी इसीमें पूर्णाहुति है। आर्य्यजीवन व्यष्टि विकृतिसे समष्टि प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जानेके लिये पुरुषार्थ करता है। इस पुरुषार्थकी परिसमाप्ति वहीं है जहाँपर परम साम्य और परब्रह्म विराजमान है, क्योंकि आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार निर्दोष ब्रह्मका राज्य ही साम्यका राज्य है। अतः जहांपर गुणविकार नहीं, रजोगुणचपलता नहीं, तमोगुणसुलभ अज्ञान तथा प्रमाद नहीं, वहां

सरलता, ऋजुता, निष्कपटता, बाह्याडम्बर तथा विलासिताका अभाव और उच्चचिन्ताका सद्भाव स्वभावतः ही प्रकट होगा इसमें सन्देह क्या है । आर्यजीवनकी सरलता पूततोया जाह्नवीकी सरल-धाराकी तरह है, आर्यजीवनकी गम्भीरता अतल जलधिके सदृश है, आर्यजीवनकी उदारता विशाल हिमगिरिके तुल्य है, आर्य-हृदयकी उच्चचिन्ता गगनचुम्बी उच्चताको भी परास्त करती है, आर्यशरीरका स्वभावसौंदर्य, आर्यनेत्रकी स्वाभाविकी माधुरी, आर्य-कण्ठका मधुर स्वर, मयूर-मृग-कोकिलके स्वभावविलाससे भी सुन्दरतर है । इस प्रकारसे व्यष्टि प्रकृतिके समस्त विकारोंको महा-प्रकृतिकी सरल समधारामें विलीन करते हुए अनन्तकोटि विश्व-संसारमें सरलरूपसे विराजमान परमात्माके परम पदमें प्रतिष्ठा-लाभ करना ही आर्यजीवनका चरम लक्ष्य है । त्रिगुणतरङ्गमय प्रपञ्चमय जगत्में त्रिगुणका टेढ़ापन स्वाभाविक है । किन्तु श्रीभगवान् सभी भावोंके भीतर एकभावसे रहनेके कारण इतने सरल हैं । प्रकृतिके टेढ़ेपनसे अलग होकर सरल भगवान्की ओर जीव जितना अग्रसर होगा, उतनी ही उसमें शारीरिक, मानसिक सभी प्रकारकी सरलता प्रकट होगी इसमें बिन्दुमात्र सन्देह नहीं है । यही कारण है कि 'सरल जीवन उच्च चिन्ता' आर्यजीवनका स्वभावसुलभ धर्म है, जिस धर्मको केवलइस देशवासी ही नहीं किन्तु गुणग्राही विदेशी विद्वान्गण भी मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं ।

(४) आर्यजीवनमें भौतिक विज्ञान (Material Science) की उन्नति चरम उन्नति नहीं समझी जा सकती है । यद्यपि प्राचीन कालमें अर्थकामसम्बन्धीय समस्त अभावको दूर करनेके लिये भौतिक विज्ञानकी भी विशेष उन्नति आर्यजातिने की थी, जिसका पूरा वृत्तान्त ग्रन्थान्तरमें दिया जा चुका * है, तथापि निम्नलिखित

* नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है ।

कारणोंसे, आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्यजातियोंकी तरह भौतिक विज्ञानोन्नतिको ही उन्नतिकी पराकाष्ठा नहीं समझ सकती।

(क) भौतिक विज्ञानोन्नतिका लक्ष्य अर्थकाम है, धर्ममोक्ष नहीं है, जो कि पूर्ववर्णित हेतुओंके अनुसार आर्यजातिको एकान्त अभीष्ट नहीं हो सकता है।

(ख) भौतिक विज्ञानोन्नति अप्राकृतिक समस्त कलाकौशलको प्रकट करके मनुष्यजीवनको एकबार ही अस्वाभाविक बना देती है। वह प्रथमतः कुछ दिनों तक अच्छी लगने पर भी पीछेसे मनुष्य शरीर, मनुष्य मनको दुःख-शोक-रोगग्रस्त तथा कुछसे कुछ बना देती है। उसके द्वारा मनुष्य जीवनमें स्वाभाविक भावका आनन्द एकबार ही जाता रहता है।

(ग) भौतिक विज्ञानोन्नति भौतिक होनेके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें दम्भ अहंकारको खूब ही उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्य अहंभावग्रस्त होकर प्रायः यही समझने लगता है कि संसारमें प्राकृतिक विज्ञानके सिवाय और कोई पदार्थ ही नहीं है। समस्त संसारकी सृष्टि स्थिति या नाश रासायनिक संयोग वियोग द्वारा प्राकृतिक रूपसे ही होता है, इसके ऊपर किसी अलौकिक परमात्मा आदि वस्तुके माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञानके मदमें आकर लोग प्रायः नास्तिक हो जाते हैं और अर्थकामपरायण परलोकभयवर्जित नास्तिक बनकर अपने तथा सामाजिक जीवनको अधःपातमें ले जाते हैं।

(घ) भौतिक विज्ञान-उन्नतिके द्वारा अर्थकामकी पुष्टि होकर प्रबल राग द्वेष तथा उसके परिणामरूप अन्तर्विवाद, जातीय कलह, जातीय संग्राम आदि तो अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु इन सब विपत्तियोंके निवारणके लिये भौतिक विज्ञानके पास कोई भी साधन नहीं है। अन्यपक्षमें आसुरी अस्त्र शस्त्र बनाकर भौतिक विज्ञान

उल्लिखित संग्राम, नरहत्या तथा देशनाशक विप्लवोंको और भी वृद्धिगत कर देता है। थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि भौतिक विज्ञान-उन्नतिके द्वारा युद्धकार्यमें प्राचीन कालकी तरह यथार्थ वीरताकी परीक्षाके लिये कोई भी यन्त्र नहीं बना है, किन्तु किस प्रकारसे छल कपटके द्वारा अतिदूरसे या प्रच्छन्न होकर स्वल्प-कालमें अनेक मनुष्य मारे जा सकते हैं इसीके अनेक यन्त्र बने हैं। आकाशयान (Aeroplane), पनडुबी (Sub-marine), बड़ी बड़ी तोपें (Maxim gun) आदि सभी यन्त्र भीषण नरहत्या-के ही यन्त्र (Engines of destruction) हैं। इनके द्वारा संग्राममें वीरताकी कोई भी परीक्षा नहीं होती है, केवल नरहत्याकारी भौतिक मस्तिष्क शक्तिकी परीक्षा होती है। अतः इस प्रकार उन्नतिके द्वारा संसारमें वास्तविक शान्ति कदापि नहीं प्रतिष्ठित हो सकती है किन्तु केवल विद्रोह, अशान्ति, मदोन्माद, राग द्वेष और प्रबल हत्या-काण्ड ही बढ़ता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल समस्त संसारमें दीख रहा है। और इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि समस्त सभ्यताभिमानी जातियाँ असभ्य बन जायँगी।

(ङ) भौतिक विज्ञानके द्वारा क्रमशः स्थूल सूक्ष्म दोनों ही जगत्में प्रबल असामञ्जस्य (discord, disbalance) उत्पन्न होता है जिसके फलसे स्थूल संसारका स्वास्थ्य, नैरोग्य तथा मानसिक शान्ति नष्ट होकर दुर्भिक्ष, हाहाकार, महामारी तथा प्रबल अशा-न्तिसे संसार परिपूर्ण हो जाता है। चूंकि यह विचार कुछ सूक्ष्म तथा गम्भीर है इस कारण नीचे विस्तारके साथ इस पर विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ तभीतक अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है जब तक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे

उसकी समतामें हानि हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्य शरीर-में प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्य-शरीर नीरोग रहता है। परन्तु ब्रह्मचर्य्यनाश, अधिक परिश्रम, काम मोह क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है जिस कारण वात पित्त कफ और अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर वह शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है जिसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डशरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, शस्य-सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी तथा देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्माण्डशरीरव्यापी प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे बिगड़ जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें भी विकार होगा, पञ्च-तत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर, ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुजला सुफला वसुन्धरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरोगता-पर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्राकृतिक गतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया

जाय—जल जिस गतिके अनुसार नदी समुद्र आदि रूपमें चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होने पर संसारका स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होनेपर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःखदारिद्र्य बढ़ जायगा। इसके सिवाय ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतर-से यदि खींचकर अन्यान्य कार्य्यमें लगा दिया जाय तोभी प्राणशक्ति-हीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनशक्ति घट जायगी जिससे इसमें शस्योत्पादिकाशक्ति, उत्तम सन्तानोत्पा-दिकाशक्ति, ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्धातुमें विकार तथा वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड़ कर देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख, दारिद्र्य और अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकताविहीन भौतिक विज्ञानोन्नति (godless scientific improvement) के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राणशक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्य्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वों पर बलात्कर करके उनको मनमाने कार्य्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है, जैसा कि नद नदियोंके प्रवाहको नहर आदि रूपसे इधर उधर करना, उनमेंसे बिजली खींच लेना इत्यादि भौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमें संग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी,

दारिद्रय और अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है, उसके मूलको अन्वेषण करनेसे अवश्य ही पता लगेगा कि, आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोगद्वारा प्रकृति-राज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरके प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटना हुई है। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

विराट्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्।
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार, धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है, जिससे दुर्भिक्ष, अपग्रहोंका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। प्राचीन कालमें भौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति विशेषरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताके कारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी, जिससे प्रकृतिपर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार उस समय भी था, जिससे विराट् धातुमें विकार अनार्य अस्त्रप्रयोग आदिके द्वारा उत्पन्न होकर दुर्भिक्ष, अपग्रहोत्पात आदि दुर्घटनाओंकी उत्पत्ति करता था। इन सब आसुरी शक्तियोंके प्रकोपको दूर करनेके लिये ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। विचार कर देखनेसे स्पष्ट होता है कि, महर्षियोंके द्वारा प्रतिष्ठित गृहदेवता, ग्रामदेवता, वनदेवता आदिके मन्दिर तथा

तीर्थादि, इसी प्रकारसे समस्त देशमें दैवीशक्तिके पोषण द्वारा प्रकृतिके शक्ति-सामञ्जस्य विधानके लिये भी हैं। अर्थात् इन सब दैवीशक्तिके केन्द्रस्थानोंके द्वारा आध्यात्मिक आदि अन्य प्रकारके उपकार अनेक होने पर भी समष्टि-जगत्में शान्तिरक्षा भी इनका अन्यतम उद्देश्य है। इस प्रकारसे दैवीशक्ति जितनी ही प्रकट की जाती है उतना ही आसुरी शक्तिका प्रकोप ह्रास होता है और भौतिक विज्ञान, आसुरी अस्त्रोंका प्रयोग, प्राकृतिक प्राणशक्तिका नाश आदि द्वारा जो संग्राम, दुर्भिक्ष आदि विराट् शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, वे सब दूर हो जाते हैं। गृह, ग्राम तथा देशमें उपासनादि द्वारा श्रीभगवान्की अथवा अन्य देवताकी दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा द्वारा भी उपरोक्त प्रकारसे आसुरी शक्तिका दमन होता है। भौतिक विज्ञानकी प्रक्रिया द्वारा विकृत पञ्चतत्त्वोंकी विषमता दूर होकर देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिका नाश होता है और अन्य कार्यमें व्ययित ब्रह्माण्डगत प्राण शक्तिकी पुष्टि होती है, जिससे आवश्यकतानुसार भौतिक विज्ञानका प्रचलन रहने पर भी इसके द्वारा प्रकृतिराज्यमें किसी प्रकारकी हानि अनुभूत नहीं होती है। यही कारण है कि, आर्य्यजीवनमें भौतिक विज्ञान ही एकमात्र लक्ष्य न होकर अर्थकामप्रद भौतिक विज्ञानके साथ धर्ममोक्षप्रद आध्यात्मिक विज्ञान (spiritual science) को मिलाना और दोनोंका सामञ्जस्य रखना ही परम लक्ष्य है। अथर्ववेदमें इसी सिद्धान्तका प्रकाशक एक मन्त्र आता है यथा—

"न घ्रंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।"

इसका अर्थ निम्नलिखित है—(यत्र) जहांपर (सोमः) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदाही (भद्र) कल्याण होता है। (घ्रंस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दुःखदायी

उत्ताप नहीं देता है, (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती, (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है, (स्तभताम्) हे सोम! तुम आसुरी शक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्त्तिव्यापिनी दैवी शक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरीशक्तिका दमन प्रमाणित होता है। यही आर्यजीवनमें उभय शक्तिका सामञ्जसविधायक परमोपकारी सिद्धान्त है।

(५) आर्य्यजीवन कर्म-उपासना-ज्ञानमय है। प्रकृति त्रिगुण-मयी तथा प्रतिक्षणपरिणामिनी है। इतना तक कि दिवारात्रिके भीतर भी समष्टि प्रकृति तथा व्यष्टि प्रकृतिमें तीन गुणोंके परिव-र्त्तन होते रहते हैं। इस परिवर्त्तन नियमके अनुसार यदि व्यष्टि प्रकृति यथोचित व्यापारमें रत रहे तो, समष्टिप्रकृतिके प्रवाहमें स्वतः ही वह बहा करेगी और समष्टि प्रकृति उसे अपनेमें मिला-कर अन्तमें प्रकृतिराज्यसे परे तथा प्रकृतिके पति परमात्मामें पहुंचा देगी। इसी कारण व्यष्टि प्रकृतिको समष्टि प्रकृतिमें मिला-नेके लिये ज्ञानदृष्टि-सम्पन्न पूज्यपाद महर्षियोंने गुणपरिणामके नैसर्गिक नियमानुसार कर्म-उपासना-ज्ञानका विधान किया है। जिस समय प्रकृति पर तमोगुणका प्रबल आवेश हो जाय उस समय निद्रा ही प्रकृतिके अनुकूल व्यापार है, क्योंकि उतने तमो-गुणमें कोई भी क्रिया नहीं बन सकती। उससे ऊपर जब तमोगुण रजोगुणोन्मुखी हो तब कर्मका समय है। इस प्रकृतिके लिये मह-र्षियोंने वेदविहित कर्मोंका विधान किया है। तदनन्तर प्रकृतिके और थोड़ा आगे बढ़ने पर जब तमोगुण दब जाय तथा रजोगुण सत्त्वोन्मुखी हो जाय तब मनुष्यका अन्तःकरण सत्त्वगुणोदयमें स्वतः भगवान्की ओर जाता है। इसी लिये इस प्रकृतिमें उपास-

नाका विधान है। तदनन्तर रजोगुण और तमोगुणका पूर्ण अभाव तथा सत्त्वगुणके विशेष विकाशके समय ज्ञान ही एकमात्र अवलम्बनीय होता है। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकृतिमें ही २४ घण्टेके भीतर नैसर्गिकरूपसे ऊपर लिखित नियमानुसार त्रिगुणपरिणाम होता रहता है। इसलिये सत्यदर्शी पूज्यचरण महर्षियोंने व्यष्टि-समष्टि प्रकृतिके सामञ्जस्यविधानार्थ आर्य्यजीवनको कर्म-उपासना-ज्ञानमय बनानेका उपदेश दिया है। इसी कालज्ञानके विचारसे ही दिन व रातमें चार सन्धियाँ शास्त्रोंमें मानी गई हैं। वेही चार सन्ध्या कहाती हैं और उनमें सात्त्विक, राजसिक तामसिक भेदसे कर्म और उपासना करनेकी भी विधि रक्खी गई है। यही कारण है कि दिनके भी तीन विभाग मानकर देवता और पितरोंकी पूजाके काल बताये गये हैं। इसमें समष्टि प्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिकी समता सिद्ध होकर परोक्षरूपसे ब्रह्मसागरमें मिलना सुलभ हो ही जाता है, इसके सिवाय साक्षात्रूपसे आत्मज्योतिः-प्रकाशनार्थ इसमें सभी कुछ अवकाश रक्खा गया है। यथा—

(क) यावतीय मनुष्यप्रकृति साधारणतः तीन नैसर्गिक भागोंमें विभक्त है, यथा स्थूलवृत्तिमयी, (Physical), मनोवृत्तिमयी (Emotional) और बुद्धिवृत्तिमयी (Intellectual) इन तीनों वृत्तियोंके द्वारा ही जीवजगत् सदा चञ्चल रहा करता है और इनके शान्त होनेसे ही समाधि द्वारा ब्राह्मी स्थिति लाभ हुआ करती है। मनुष्ययोनिके प्रथम उन्नति स्तर (evolution) में मन बुद्धिका साधारण विकाश रहनेसे वहां स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिका ही प्रभाव अधिक रहता है। तदनन्तर क्रमशः मनोवृत्ति और विशेष उन्नत अवस्थामें बुद्धिवृत्तिका बल अधिक हो जाता है। किन्तु तीनों वृत्तियोंका स्वल्प विस्तर प्रभाव मनुष्ययोनिके सभी जीवोंमें रहता है। अब ब्राह्मी स्थिति लाभके लिये वही एकमात्र

अवलम्बनीय उपाय होगा, जिससे तीनों वृत्तियाँ सामञ्जस्यके साथ क्रमशः शान्त हो जायँ। कर्मके साथ स्थूलजगत्का सम्बन्ध अधिक रहनेसे स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिके साथ कर्मका नैसर्गिक सम्बन्ध है और वह वेदविहित कर्मके द्वारा ही उन्नतिशील हो सकती है। उपासनाके साथ अन्तःकरणका सम्बन्ध विशेष रहनेसे मनोवृत्तिका निरोध उपासनाके द्वारा ही सम्भव है और ज्ञानके साथ बुद्धिवृत्तिका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे बुद्धिवृत्तिकी सूक्ष्मगति ऋतम्भरा प्रज्ञावस्था ज्ञानद्वारा ही लभ्य है। तीनोंके सामञ्जस्यानुसार अवलम्बन द्वारा ब्राह्मी स्थिति हुआ करती है, इस कारण आर्य्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये कर्म, उपासना, ज्ञानकी नैसर्गिक आवश्यकता है।

(ख) आस्तिक जगत्में साधारणतः मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—कामपरायण, अर्द्धनिष्काम, पूर्णनिष्काम। इन तीनोंकी आध्यात्मिक क्रमोन्नतिके लिये आर्य्यशास्त्रमें तीन उपाय बताये गये हैं। यथा भागवतमें—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

मनुष्योंके श्रेयोविधानके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन योग कहे गये हैं। संसारासक्तिशून्य कामनारहित व्यक्तियोंके लिये ज्ञानयोग तथा सकाम व्यक्तियोंके लिये कर्मयोग आध्यात्मिक उन्नतिप्रद है और जो भगवत्कथामें रुचि रखते हैं तथा न अधिक विषयासक्त ही हैं या अत्यन्त विरक्त ही हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये

उपासनायोग सिद्धिप्रद है। चूंकि संसारके सभी लोग इन तीनों प्रकृतियोंमें बंटे हुए हैं, इसी कारण सत्यदर्शी महर्षियोंने आर्य-जीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये सामञ्जस्यानुसार कर्मोपासना-ज्ञानका विधान किया है।

(ग) आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु जिस प्रकार मेघके द्वारा दृष्टि आच्छन्न होनेपर सूर्य देखनेमें नहीं आते, उसी प्रकार स्थूलशरीरका मल, सूक्ष्मशरीरका विक्षेप और कारणशरीरका आवरण आत्मदर्शन पथमें इन तीनों बाधाओंके रहनेसे परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते। कर्मके द्वारा मल नाश, उपासनाके द्वारा विक्षेपनाश और ज्ञानके द्वारा आवरणनाश होता है, तब यथार्थतः आत्मसत्ताका अनुभव होता है। इसी कारण आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये महर्षियोंने उसे कर्म-उपासना-ज्ञानमय बनाया है और इस लिये वेदके भी तीन काण्ड हैं।

(घ) कार्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही विकाशमात्र है। इस लिये कारणब्रह्ममें जो भाव है सो कार्यब्रह्ममें भी होता है। अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव, अधिदैव अर्थात् ईश्वरभाव, अधिभूत अर्थात् विराट् भाव कारणब्रह्मके ये तीन भाव हैं। इसलिये कार्यब्रह्मके प्रत्येक अङ्गमें भी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हुआ करते हैं। जीवमें तीन भाव अपूर्ण हैं, ब्रह्ममें ये तीन भाव पूर्ण हैं। इसलिये अपूर्ण जीव पूर्णब्रह्मके भावको तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत इन त्रिविध शुद्धियोंका सम्पादन कर सकें। कर्मके द्वारा अधिभूतशुद्धि, उपासनाके द्वारा अधिदैव शुद्धि और ज्ञानके द्वारा अध्यात्म शुद्धि होती है। जीवमें स्थूलशरीर अधिभूत है, मन अधिदैव है और बुद्धि अध्यात्म है। कर्मके द्वारा स्थूलशरीरकी शुद्धिसे अधिभूत शुद्धि होती है, उपासना द्वारा मनोनिरोधसे अधिदैवशुद्धि होती है और ज्ञान द्वारा बुद्धिकी शुद्धिसे अध्यात्म शुद्धि होती है। वेदविहित

नित्य नैमित्तिक कर्मोंका ईश्वरार्पण बुद्धिसे नियमित अनुष्ठान करते करते आधिभौतिक शुद्धिके साथ साथ चित्तशुद्धि भी होती है और इस प्रकारसे शुद्ध चित्त द्वारा उपासना तथा ज्ञानका साधन सम्यक्‌रूपसे हो सकता है, जिसके फलरूपसे आत्मसाक्षात्कार सुलभ हो जाता है। यही आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये ऋषिप्रदर्शित कर्म-उपासना-ज्ञानकी साधना तथा उनका प्रयोजन है।

(ङ) श्रीभगवान् सत्-चित्-आनन्दरूप हैं। उनकी अद्वितीय सत्‌सत्तापर ही द्वैतभावमय निखिल प्रपञ्चका विलास है। उनकी चित् सत्ता लौकिक, अलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, तटस्थ, स्वरूप सकल प्रकारके ज्ञानका निदान है। उनकी अद्वितीय मौलिक आनन्द सत्ता ही द्वैत जगत्‌में दुःखमिश्रित सकल प्रकार सुख तथा अद्वैतावस्थाके निर्मल सुखकी जननी है। जब ब्रह्म सत् चित् आनन्द-रूप हैं और जीव ब्रह्मका अंशरूप है तो जीवमें भी तीन सत्तायें आँशिक-रूपसे विद्यमान हैं। इसलिये जीव ब्रह्म तभी बन सकता है जब जीव उपलब्धि द्वारा अपनी सत्‌सत्ताके साथ व्यापक सत्‌सत्ताकी अभिन्नताको समझे, अपनी चित्‌सत्ताके साथ व्यापक चित्‌सत्ताकी एकता-को समझे और अपनी आनन्दसत्ताको पूर्ण करके व्यापक आनन्द सत्तामें लवलीन हो जाय। निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा अपनी क्षुद्र सत्‌सत्ता क्रमशः विस्तृत होकर व्यापक सत्‌सत्तामें जा मिलती है, उपासनायोगके अनुष्ठान द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध होकर परमात्माकी आनन्दसत्ताका अखण्ड अनुभव होता है और ज्ञानयोगके अनुष्ठान द्वारा परमात्माकी चित्‌सत्ताकी उपलब्धि होती है, इसी प्रकारसे कर्म–उपासना–ज्ञान द्वारा जीव अपने क्षुद्र जीवत्वको छोड़ शिवत्वको प्राप्त कर सकता है। यही आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये कर्म-उपासना-ज्ञानकी परमोपयोगिता है। इस प्रकारसे प्रकृतिके स्वाभाविक विधानानुसार आर्यजीवन कर्म-उपासना-ज्ञानमय

बनता है और कर्म, उपासना, ज्ञानके यथाधिकार अनुष्ठान द्वारा व्यष्टि सत्ताको समष्टिसत्तामें विलीन करके अन्तमें शिवत्व पदवी पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

(६) पूर्णमें छोटे बड़े सभीका समावेश होनेसे आर्यजीवनमें प्रथम धर्म सदाचारसे लेकर अन्तिम धर्म आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त सभी स्तरके धर्म समाविष्ट हैं। आर्य्यजीवन धर्मके किसी अङ्गके प्रति उपेक्षा प्रदर्शन नहीं करता है, किन्तु अपनी स्थितिको पूर्णता-पर पहुंचानेके लिये उन्नतिक्रमानुसार सभीका आश्रय ग्रहण करता है। विना प्रथम धर्मके पालनके द्वितीय अधिकारके धर्ममें प्रवेश नहीं हो सकता है, इस कारण धर्ममूलक स्थूलशरीरचेष्टारूप सदाचार पालन अर्थात् पान, भोजन, शयन, उत्थान, स्नान, पूजन आदि सभीमें सत्त्ववृद्धिकर व्यवहारको अवलम्बन करके आर्य-जीवन आध्यात्मिक उन्नतिपथमें पदार्पण करता है। विना रजो-वीर्य्यकी शुद्धिके आधिभौतिक शुद्धि और उसके परिणामरूप आधि-दैविक तथा आध्यात्मिक शुद्धि नहीं हो सकती है, इस कारण आर्य्यधर्ममें रजोशुद्धिकारण पातिव्रत्य धर्म और वीर्य्यशुद्धिकारण वर्णधर्मका श्रेष्ठ समावेश किया गया है। वैषयिक प्रवृत्ति आत्म-साक्षात्कारकी बाधक है, इस लिये भी आर्य्यजीवनमें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्मके अनुष्ठानकी आज्ञा है। मनोनिवृत्ति आत्मसाक्षात्कारका राजद्वार है, इस लिये निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म पालनकी आज्ञा आर्य्यजीवनमें सर्वोपरि है। इस प्रकारसे प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म, निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म तथ वर्णाश्रमानुकूल विहित कर्मोपासना-ज्ञानसाधन द्वारा आर्यजीवन अनायास ही आत्माके महनीय राज्यकी ओर द्रुतपद अग्रसर होने लगता है। कर्मके नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि भेद, उपासनाके सगुण, निर्गुण आदि भेद, ज्ञानके तटस्थ, स्वरूपादि भेद—सभीका अवलम्बन प्रकृति, प्रवृत्ति तथा

अधिकार विचारानुसार आध्यात्मिक उन्नतिपथमें स्वतः ही हो जाता है और इस प्रकारसे निरवच्छिन्न वेगके साथ परमात्माकी ओर प्रधावित आर्यजीवन अन्तमें—

'अयन्तु परमो धर्मो यद्‌योगेनात्मदर्शनम्।'

इस महर्षि याज्ञवल्क्य-वचनानुसार परमात्माका साक्षात्कार करके शाश्वती ब्राह्मी स्थितिमें चिरप्रतिष्ठित हो जाता है। यही आर्यजीवनमें प्रथम धर्मसे लेकर अन्तिम धर्म तक सामञ्जस्यानुसार सभीके समाविष्ट होनेका रहस्य है।

(७) आर्यजीवन धर्ममय है। महर्षि कणाद-कथित—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

जिन क्रियाओंके द्वारा इहलोक परलोकमें उन्नति और अन्तमें मोक्षप्राप्ति हो वे सभी धर्मके अन्तर्गत हैं, धर्मके इस उदार व्यापक लक्षणको आर्य जाति ही ठीक ठीक समझती है।

"धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः"

जो शक्ति समस्त विश्वको तथा समस्त जीवोंको धारण करे, नाशसे या पतनसे बचावे वही धर्म है, महर्षि वेदव्यास-कथित धर्मके इस सार्वभौम लक्षणको आर्यजाति ही यथार्थतः जानती है। धर्म आर्यजीवनका चिरसहचर है, सूतिका गृहसे श्मशान पर्यन्त धर्म ही एकान्त आश्रय है। परलोकमें धर्म ही एकमात्र सहायक है, मायासे परे परमपदमें पहुंचनेके लिये धर्म ही प्रियबन्धु है, और उत्तालतरङ्गविशिष्ट भवाब्धिमें गन्तव्य पथ बतानेके लिये धर्म ही ध्रुवतारा है। प्रियसहचर धर्मको आर्यजाति स्नान, भोजन, शयन, जागरणमें भी नहीं छोड़ती। क्योंकि धर्मके व्यापक धारण-लक्षणके अनुसार स्नान, शयन, भोजनादि सभीमें धर्माधर्मका सम्बन्ध अवश्य होता है। जिन वस्तुओंके भोजनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, रजोगुण-तमोगुणका नाश हो, उन वस्तुओंका भोजन

धर्म है, उससे विपरीत रजोगुण तमोगुण वर्द्धक वस्तुओंका सेवन अधर्म है, क्योंकि उससे मनुष्यकी अधोगति होती है। भोज्यवस्तुको श्रीभगवान्को समर्पण करके प्रसादबुद्धिसे भोजन करना धर्म है, और उसे लोभके साथ केवल रसनेन्द्रियकी तृप्तिके लिये खाना अधर्म है। शरीरकी शुद्धि होनेसे मनःशुद्धि होती है और शुद्धान्तःकरण द्वारा भगवदुपासना अच्छी बनती है, इस भावसे स्नान करना धर्म है, किन्तु आराम या विलासिता वृद्धिके लिये स्नान करना अधर्म है। जिस प्रकार वेशभूषा द्वारा सत्वगुणकी वृद्धि हो, सरलता या सादापन बढ़े ऐसा वेशभूषण धारण करना धर्म है, विलासबुद्धि, रूप बनाना या राजसिक अहंकार दिखानेके लिये वेशभूषण धारण अधर्म है। इत्यादि इत्यादि विचारोंके द्वारा यही सिद्धान्त होता है कि शारीरिक मानसिक सभी व्यापारोंके साथ व्यापकरूपसे धर्माधर्म सम्बन्ध लगा हुआ है। इसको समझकर पान भोजन स्नान आदि सभी कर्मोंको धर्ममय बनाना आर्य-जीवनका स्वभाव है।

तदनन्तर व्यावहारिक जीवनकी जो कुछ उन्नति है आर्यजाति उन सभोंको धर्मके साथ मिलाकर ही प्राप्त करती है। क्योंकि धर्मसे ही यथार्थरूपसे चिरस्थायी अर्थकामकी प्राप्ति हो सकती है, आर्यजाति-का यही सिद्धान्त है। धर्महीन अर्थकामके द्वारा किस प्रकारसे परम अनर्थ तथा परलोकमें अनन्त दुःख प्राप्त होते हैं, यह आर्य्यजातिको पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपासे पूर्णरूपसे परिज्ञात है। अर्थको अधार्मिक उपाय द्वारा अर्जन करनेसे अथवा अर्जित अर्थको अधार्मिक रीतिसे खर्च करने पर इहजन्म या परजन्ममें दारिद्र्य-दुःख मिलता है, कामसेवा इन्द्रियसुखलालसाके द्वारा प्रेरित होकर करनेसे इह तथा परजन्ममें अनन्त दुःखका उदय होता है, किसी इन्द्रिय शक्तिका अपव्यवहार करनेसे वह इन्द्रिय इह या परजन्ममें

शक्तिहीन होकर प्रकट होती है—चक्षुरिन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले चक्षुहीन होते हैं, कर्णेन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले बधिर होते हैं, वागिन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले वाक्‌शक्तिहीन होते हैं, दूसरेके प्राणको कष्ट देने पर अपनी प्राणहानि, शरीरमें विविध व्याधि अथवा अल्पायु होती है, इत्यादि इत्यादि क्रिया-प्रतिक्रियाकी सभी बातें आर्यजातिको विशेष रूपसे ज्ञात हैं। इस कारण आर्यजाति व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक कार्यको धर्मके साथ मिलाकर करती है। आर्यजातिका ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रममें धर्मचर्याका हेतुभूत तथा सहायक होता है। आर्यजातिका गृहस्थाश्रम इन्द्रियसंयम भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा अतिथिसत्कारादि गार्हस्थ्यकर्त्तव्यके सम्यक् परिपालन द्वारा वानप्रस्थ तथा सन्न्यासाश्रमके उपयोगी होता है आर्यजीवनके एक मुहूर्त्तका धर्मपालन, कर्त्तव्यपालन परमुहूर्त्तको मधुमय बनानेके लिये कारणरूप होता है, यही आर्यजीवनमें धर्म्ममय ऐहलौकिक अभ्युदय-साधनका लक्षण है। अन्यजातिके लिये राजनीति स्वार्थसेवासुलभ अर्थकामप्रद नीतिमात्र है, किन्तु आर्यजातिके सिद्धान्तानुसार राजनीति राजधर्म है। उसमें अष्टलोकपालके अंशसे उत्पन्न राजाके प्रजावत्सलतामय, न्यायानुसार राज्यपालनमय परमावश्यकीय धर्मका समावेश है और प्रतिपालित प्रजाके राजभक्तिमय धर्मका भी समावेश है तथा इन दोनोंका धर्मानुसार परम सामञ्जस्य है। इस प्रकारसे ऐहलौकिक यावतीय अभ्युदयके लिये धर्म ही आर्यजीवनका एकमात्र अवलम्बन है।

धर्म आर्यजीवनके पारलौकिक अभ्युदयका मूलमन्त्र है। परलोक पर विश्वाससे तथा धार्मिक कर्मोंके फलसे स्वर्गादि उत्तरोत्तर उन्नत लोकोंमें अनुपमसुखभोगार्थ गमन तथा अधार्मिक कर्मोंके फलसे उत्तरोत्तर अधोलोक या नरकादिमें दुःखभोगार्थ गमन आस्तिक आर्यजातिके लिये सर्वमान्य सिद्धान्त है। आर्यशास्त्रका यह अटल

सिद्धान्त है कि भूलोकके ऊपर भुवः, स्वः, महः, जन आदि उत्तरोत्तर अधिक आनन्दप्रद लोकसमूह स्थित हैं, जिनमें वेदविहित सकाम यज्ञादि धर्मानुष्ठान द्वारा जीवोंकी गति होती है और कर्मक्षय-पर्यन्त तत्तल्लोकोंमें जीव परम आनन्द उपभोग करते हैं। इस प्रकारसे सकाम धर्मानुष्ठानके फलसे इन्द्र, वरुण, कुवेर आदि देवयोनिप्राप्ति और उन योनियोंमें देवभोग्य अनुपम आनन्दराशिके भी विषयमें आर्यशास्त्रमें बहुत वर्णन मिलते हैं। यथा वृहदारण्यकोपनिषद्में—

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवनामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एक प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः।

यहाँ मनुष्योंमें जो धनवान् और समृद्धिशाली होना है तथा दूसरों पर आधिपत्य पाकर सम्पूर्ण पार्थिव भोगसे युक्त होना है वही मनुष्योंका उत्तम आनन्द है; मनुष्योंसे सौगुण अधिक आनन्द पितरोंके हैं, जिन्होंने पितृलोकको प्राप्त किया है; इससे शतगुण आनन्द गन्धर्वलोकका है और गन्धर्वलोकसे शतगुण आनन्द कर्मदेवोंका है, जिन्होंने कर्मद्वारा देवत्वलाभ किया है; कर्मदेवके आनन्दसे शत-

गुण अधिक आनन्द आजानदेवताओंका है, जो श्रोत्रिय निष्काम तथा निष्पाप होते हैं; अजानदेवलोकसे शतगुण अधिक आनन्द प्रजापतिलोकका है और इससे भी शतगुण आनन्द ब्रह्मलोकमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे उन्नतिलाभ करते करते नाना ऊर्द्ध्वलोक तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पदवी तक प्राप्त करना और उन सब पदवियोंमें अनुपम आनन्दलाभ करना धर्मकी ही परलोकमें अभ्युदयकारिणी शक्तिका विविध विलासमात्र है। आर्य्यजातिका जीवन धर्ममय है, इस कारण धर्मशक्तिके द्वारा ही आर्य्यजाति यावतीय पारलौकिक अभ्युदयको प्राप्त करके सकाम धर्मानुष्ठानके अन्तिम सुखास्वादनमें भी समर्थ हो जाती है। तदनन्तर निष्काम कर्मोपासना-ज्ञानमय धर्मानुष्ठान द्वारा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरगत मलविक्षेपावरणको विदूरित करके नित्यानन्दमय ब्रह्मोपलब्धिमय निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठित होना, धर्मके महर्षि कणाद-कथित अभ्युदयनिःश्रेयसकर लक्षणकी अन्तिम चरितार्थता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि आर्यजीवन धर्ममय है और धर्मके ही बलसे आर्य्यजीवनमें ऐहलौकिक पारलौकिक सर्वविध अभ्युदयप्राप्ति तथा अन्तमें परमानन्दमय निःश्रेयससिद्धि होती है।

(८) आर्य्यजीवन देशसेवामय है। नवशिक्षित लोगोंमेंसे कोई कोई ऐसा सन्देह करते हैं कि आर्यजातिमें देशसेवाका संस्कार नहीं था। परन्तु जो लोग आर्यशास्त्रके रहस्यसे परिचित हैं वे भलीभाँति जानते हैं कि आर्यजातिमें देशसेवा-संस्कार बहुत ही महत्त्व तथा वैज्ञानिक रहस्यसे पूर्ण है। आर्य्यजातिने अपने शास्त्रमें देशको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा शरीर देश, जन्मभूमि देश और समस्त विश्व देश। शरीरदेशके विषयमें शास्त्रमें ऐसा कहा है यथा—

अधुना देशविज्ञानं वर्णयामि सुसाधनम्।
प्रकृतेर्मण्डलं यत्तद् ब्रह्माण्डं तत् समष्टितः।

तदेव पिण्डरूपेण प्रोच्यते व्यष्टिनामतः ॥

तात्पर्य यह है कि प्रथम अवस्थामें साधक अपने शरीरको ही देश मानता है और शरीरकी सहायतासे आत्मोन्नतिमें तत्पर होकर योग्यता लाभ करता है। दूसरी अवस्थामें मनुष्य अपनी जन्मभूमि-को देश समझ कर उसकी सेवासे निःस्वार्थ पुरुषार्थकी शिक्षा द्वारा पुण्य सञ्चय करता है। इस अधिकारके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

'विभूतित्वात् सेव्याः पितृकालमहाकालाः' 'मातृदेहजन्मभूमयश्च' 'तथात्वात् पुण्यशक्तिमुक्तयश्च'

श्रीभगवान्‌की विभूति होनेसे पिता, काल और महाकाल तथा भगवत्‌शक्तिकी विभूति होनेसे माता, देह और जन्मभूमि सेव्य हैं। इनकी सेवा द्वारा यथाक्रम पुण्य, शक्ति और मुक्ति होती है। इस मध्यम अवस्थामें देशभक्त साधक देशकी सेवा द्वारा आधिभौतिक मुक्ति लाभ करता है, यही इस वचनका तात्पर्य है। इसी कारण शास्त्रमें लिखा है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। और सर्वोत्तम परमहंस वृत्तिके लिये समस्त विश्व ही स्वदेश है। इसीके विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

"बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्"

और भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

आर्य्यजाति अन्य जातियोंकी तरह मोह, राग या परकीय द्वेषमूलक अभिमानके द्वारा ग्रस्त होकर स्वदेशकी सेवा नहीं करती है। क्योंकि आर्यजातिको ज्ञात है कि ये सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट तथा बन्धनकारिणी हैं। राग, मोहादि द्वारा देशसेवा करनेसे उस सेवाका यह परिणाम निकलता है कि यदि कार्यमें सफलता हुई तो अहंकार और कर्त्तृ स्वाभिमान बढ़ जायगा। यथा गीताजीमें—

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

समष्टिजीवके कर्मानुसार ही फलाफल होता है, किन्तु आसक्ति-युक्त कर्त्ता यही समझता है कि मानो उसने ही देशका उद्धार कर दिया। इस प्रकार अहंकारजन्य कर्त्तृत्वाभिमान जीवका बन्धनकारक तथा अधोगतिप्रद होता है। पक्षान्तरमें यदि प्रारब्धवशात् कार्य्यमें विफलता हुई तो मोह, या अनुरागमें धक्का लगनेसे सकाम देशसेवक नैराश्यके समुद्रमें डूब जायगा और कदाचित् नैराश्यके तीव्र आघातसे भग्नहृदय होकर सेवाव्रतको त्याग भी दे सकता है। इसके सिवाय तृतीय पथ, जिसमें कि परकीय द्वेषपर स्वकीय प्रेमकी प्रतिष्ठा है अर्थात् अपने देशकी उन्नतिके लिये दूसरे देशपर अत्याचार करना है, वह तो परम द्वेषमूलक होनेसे महातमोगुणमय, संग्राममय, अशान्तिकर, आध्यात्मिक-अवनतिकर तथा सर्वथा परित्याज्य है क्योंकि स्थितिका लक्षण प्रेममूलक सत्त्वगुणमें है द्वेषमूलक तमोगुणमें नहीं है। तमोगुण नाशककर्त्ता है, इस लिये जो जाति अन्य जाति पर अत्याचार तथा द्वेषके वर्त्ताव द्वारा अपनी श्रीवृद्धि चाहती है, वह कदापि चिरकालस्थायिनी, शान्तिमयी श्रीको नहीं प्राप्त कर सकती है। उसके स्वार्थपरतामय, अनुदार नीच आचरणोंसे अन्तर्जातीय संग्राम तथा विप्लव होता है, कदापि यथार्थ उन्नति नहीं होती है। इस कारण पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य जीवनमें मोह-राग-अभिमानहीन गीतोक्त कर्मयोगके सिद्धान्तानुसार स्वदेशसेवाका उपदेश किया है। उनका उपदेश यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

कर्ममें ही अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं है। फलाकाङ्क्षासे

कभी कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलेगा इस विचारसे कर्मका त्याग भी नहीं करना चाहिये। आसक्तिशून्य तथा सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न होकर कर्म करना चाहिये, इस प्रकार समभाव ही योग कहलाता है। आर्यजातिके आदर्श लक्षणोंमें पर-धर्मी विद्वेष या परजाति-विद्वेष है ही नहीं। इन दोनोंको आर्यजाति निन्दनीय तथा जातीय कलङ्करूप समझती है। जिस जातिके धर्ममें यह उदार सिद्धान्त है कि—

धर्मं जो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव॥

अर्थात् जो धर्म अन्य धर्मको बाधा देवे वह कुधर्म है और सब धर्मोंसे अविरुद्ध धर्म ही सद्धर्म है, उस जातिमें परधर्मी-विद्वेष हो ही नहीं सकता। और जिस जातिके उदार लक्ष्यमें 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ऐसी आज्ञा है, उस जातिके आदर्श-चरित्रमें परजाति-विद्वेषका कलङ्क रह ही नहीं सकता। आर्य-शास्त्रमें कहीं कहीं जो अनार्यदेशमें जाने अथवा वहाँ वास करने आदिके विरुद्ध वचन पाये जाते हैं अथवा समुद्रयात्रा या विदेश-यात्रा आदिकी निन्दा पायी जाती है, उसका कारण परधर्मी-विद्वेष या परजाति-विद्वेष नहीं है। किन्तु उसका कारण आर्यजातिमें आध्यात्मिक भावकी पुष्टिका संरक्षण ही है। आर्यजातिकी जो मनुष्यश्रेणी केवल आध्यात्मिक लक्ष्यको ही मुख्य समझती हो, अथवा जो ब्राह्मणमण्डली केवल मोक्षधर्मकी ही पक्षपातिनी हो उन्हींको लक्ष्य करके ये सब आज्ञाएँ आर्यशास्त्रमें दी गई हैं। आर्यजीवन अध्यात्मलक्ष्यमय है, इस लिये आर्यजातिकी स्वदेश-सेवामें भी अध्यात्म लक्ष्य ही प्रधान रहता है। आर्यजाति भगवत्पूजारूपसे स्वदेश तथा स्वजातिकी सेवा करती है। उसके सिद्धान्तानुसार समस्त संसार श्रीभगवान्का विराट रूप

तथा स्वदेश उस विराट् पुरुषका हृदय है। इस लिये आर्यजातिकी स्वदेशसेवा विराट् भगवान्‌की पूजा है। मोक्षप्रिय आर्यजाति निष्कामभावसे ही इस विराट् पुरुषकी पूजा करती है और सफलता या विफलताको पूजाफल रूपसे श्रीभगवान्‌में ही समर्पण करती है। इस लिये स्वदेशसेवामें उसके मोह, आसक्ति, अभिमान, अहंकार आदि क्लिष्ट वृत्तियोंके द्वारा आक्रान्त होनेका कोई भी अवसर नहीं रहता है। वह स्वदेशसेवा द्वारा विराट् भगवान्‌की ओर ही अग्रसर होती है। स्वदेशसेवामें उसकी मृत्यु, मृत्यु नहीं कहलाती है, किन्तु अमृतत्व प्राप्तिकी सोपान-स्वरूप बन जाती है। स्वदेशसेवामें प्राण समर्पणकरके आर्यजाति प्राणहीन नहीं होती है, किन्तु विश्वप्राण भगवान्‌में ही जा मिलती है। अतः इस प्रकार अलभ्य लाभके लिये प्राणदान देनेमें आर्य्यजातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं रहता है। अन्यजातिके लोग मोहादिवृत्तियोंके वशीभूत होकर स्वदेशवासियोंको भ्राता कहकर उनके सुखके लिये आत्मसुखत्याग करनेमें पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु आर्य्यजातिको इस प्रकार वृत्तिके वशीभूत होनेका प्रयोजन नहीं रहता है। उसका धर्ममय, अध्यात्मलक्ष्यमय जीवन ही आत्मैक-त्वज्ञानसे जीवमात्रके प्रति, विशेषतः स्वदेशवासियोंके प्रति भ्रातृ-भाव उत्पादित करता है। वास्तवमें अपने देशवासियोंको 'भाई' कहनेका अधिकार आर्यजातिको ही है। क्योंकि आर्य्यजाति ही आर्यशास्त्रानुभवसे जानती है कि—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति"

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

प्रत्येक जीवमें जीवात्मारूपसे अद्वितीय परमात्माका ही अंश विद्यमान है, अतः परमात्माके अंश होनेसे सभी आत्मा भ्रातृ-भावसे युक्त हैं। समस्त जीवोंमें विशेषतः स्वदेशवासियोंमें यह

भ्रातृभाव स्वाभाविक तथा अध्यात्मकारणजन्य है। इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार आर्य्यजाति स्वदेश सेवामें विराट् भगवान्‌की पूजा और नरपूजामें नारायणकी पूजा करती है। और फल-निरपेक्ष होकर इस प्रकारसे अनुष्ठित महती पूजा आर्यजातिके लिये यथार्थतः स्वाराज्यप्राप्तिकी कारण स्वरूप बन जाती है।

आर्य्यजातिके इस स्वदेशसेवाव्रतमें आर्य्यधर्मकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जीवभाव स्वार्थमय है, इस लिये दूसरेके लौकिक सुखके लिये प्राण देकर अपना लौकिक सुख खोनेवाला मनुष्य इस संसारमें बहुत ही कम मिलता है। किन्तु यदि जीवको इस प्रकारका विश्वास हो जाय कि इस दुःखमिश्रित सुखमय मनुष्यलोकसे ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जहाँ दुःखलेशहीन अनुपम सुख मिलते हैं और जहाँ पर इस लोकमें स्वधर्म तथा स्वदेशके लिये प्राणदानके फलसे मनुष्य जा सकते हैं, तो परलोकपर विश्वासशील आस्तिक मनुष्यके लिये परार्थके लिये प्राणसमर्पण, परम वाञ्छनीय तथा प्रीतिकर वस्तु हो जाती है। क्योंकि इस प्रकारसे प्राणदान तथा ऐहलौकिक सामान्य सुखत्याग अधिक सुखलाभका ही कारण हो गया। पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि उन्नत देवादि लोकोंमें मनुष्यलोकसे शत शत गुण अधिक आनन्द है। स्वर्गलोकके विषयमें शास्त्रमें प्रमाण है—

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥"

"स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥"

"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।"

स्वर्गसुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है या उसके बाद भी दुःख नहीं होता है, वहाँ इच्छानुसार सभी भोग्य वस्तु प्राप्त होती है। स्वर्गलोक भयशून्य है, वहाँ मृत्युका अधिकार नहीं है और जराका भी भय नहीं है, क्षुत् पिपासा तथा दुःखशोकसे मुक्त होकर वहाँ लोग आनन्दके साथ दिव्य भोगोंको भोगते हैं। इस प्रकार स्वर्ग तथा अन्यान्य ऊर्द्धलोकोंमें गति कैसे होती है, इस विषयमें गीता तथा मनुसंहितामें लिखा है—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"

"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥"

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥"

धर्म तथा देशसेवाके लिये मृत्यु और युद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार स्वरूप है। परिव्राजक योगी और सम्मुख-संग्राममें देश तथा धर्मके लिये निहत पुरुष सूर्य्यमण्डल भेद करके आनन्दमय उन्नत लोकोंको प्राप्त होते हैं। अतः इस प्रकार अनुपम सुखप्रद देशसेवाके लिये किसकी रुचि नहीं होगी? यही आर्य्यजीवनको स्वदेशसेवामय बनानेके लिये धर्मकी ओरसे पवित्र प्रोत्साहन है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु स्वदेशसेवादि उत्तम कर्मोंके फलसे बहुवर्ष तक उन्नत लोकोंमें सुख भोगानन्तर पुनः जब मनुष्यलोकमें जीवका जन्म होता है, तो सुकृतिपरिपाकरूप अति उत्तम सुखमय उन्नत कुलमें वे सब जनमते हैं। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

"ये रमणीयचरणा अभ्याशो ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"

रमणीय आचरणकारिगण उन्नत रमणीय योनियोंको प्राप्त होते हैं। अतः धर्मसे परलोक पर विश्वास और उससे देशसेवादि

उत्तम कार्यों में प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आर्य्यजातिको यह आस्तिकता स्वदेशसेवाके लिये शक्ति-प्रदानमें भी विशेष सहायक बनती है। क्रियामात्र ही विरुद्ध शक्तिके साथ संघर्ष द्वारा उत्पन्न होनेसे प्रत्येक क्रियानुष्ठानमें ही स्वल्पविस्तर शक्तिक्षय हुआ करता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि वृत्तिके वेगसे तो शक्तिक्षय और प्राणक्षय होता ही है, अधिकन्तु प्रत्येक श्वास-प्रश्वाससे भी शक्तिहानि अवश्य ही होती है। रात्रिन्दिवक्षयप्राप्त यह शक्तिभण्डार यदि नियमित भरा न जाय तो अधिक शक्तिहीनतामें स्वदेशसेवाव्रत अवश्य ही कुण्ठित हो जायगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इस कारण आर्य्यजातिके शक्तिभण्डारको सदा परिपूर्ण रखनेके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने आर्य्यजातिको सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्से उपासना द्वारा शक्तिग्रहण करनेकी आज्ञा दी है। उपासना आर्य्यधर्मका अति उत्तम अङ्ग है। उपासनाके द्वारा भक्त भगवान्का समीपस्थ होता है और जिस प्रकार अग्निके समीप बैठनेसे अपने शरीरमें भी उत्ताप आजाता है, उसी प्रकार अनन्त शक्तिके आधार श्रीभगवान्के समीपस्थ होनेसे उपासक भी विश्वप्राण भगवान्की प्राणशक्तिसे पुष्ट होकर धन्य हो जाता है। उसकी दिन दिन क्षीण शक्तिभण्डार परिपूर्ण हो जाता है। अपनी प्रकृतिप्रवृत्तिके अनुसार अभिमत उपासनाके द्वारा शिवभक्त शैवी शक्तिसे, विष्णुभक्त वैष्णवीशक्तिसे, देवीभक्त महाशक्तिसे, सूर्य्यभक्त सूर्य्यकी प्राणशक्तिसे—इत्यादि इत्यादि बहुभावानुसार भगवदुपासना द्वारा असीम भगवत्शक्तिसे भक्त परिपुष्ट होकर स्वदेश तथा स्वधर्मके लिये अतिमहान् सेवाव्रतपालनमें समर्थ हो जाता है। यही आर्य-जीवनके देशसेवामय बननेका रहस्य है।

अत्यन्त खेदका विषय है कि आर्यजीवनके ऊपर-कथित अत्युत्तम आदर्शसमूह कालकी कुटिल गतिसे अब विनष्टप्राय हो रहे हैं। आर्यजाति धर्ममोक्ष लक्ष्यको छोड़कर जितनी ही अर्थ-कामपरायण होती जाती है, उतने ही उसके देवदुर्लभ गुणसमूह प्रच्छन्न होते जाते हैं और परार्थपरता, देश तथा धर्मके लिये जीवनदान आदि मधुर वृत्तिसमूह नष्ट होकर उसके स्थानमें स्वार्थ-परता, वैषयिक जीवनसंग्राम, विषयलोलुपता आदि नीच वृत्तियाँ बढ़ती चली जाती हैं। अर्थ-काम-समूहके बलवती होनेसे विला-सिता बढ़कर अभाववृद्धि बहुत कुछ हो गई है, किन्तु उसकी पूर्तिका यथेष्ट उपाय न मिलनेसे अशान्ति तथा हाहाकार बहुत मच गया है। विषयस्पृहाके बढ़ जानेसे शरीरके प्रति अभिमान बढ़ गया है, इस लिये देश या धर्मके लिये प्राणदान देनेमें लोग कुण्ठित हो रहे हैं। समष्टि तथा समाजकी कल्याणचिन्ता दूरीभूत होकर स्वार्थपरता तथा नीचतामय इन्द्रियसुखभोगेच्छा बढ़ रही है। इस प्रकारसे सत्त्वगुण तथा रजोगुणपर आवरण आजानेसे आर्यजीवनमें तमोगुणका ही घोर अभिनिवेश हो गया है, जिसका उत्तम अवसर देखकर विदेशीय राजसिक जातिने आर्यजाति पर राजसिक अधि-कार विस्तार कर लिया है। विजातीय धर्मभावहीन विषयभावमय कुसङ्गसे रहा सहा आर्यभाव भी राहु-ग्रस्त चन्द्रकी तरह अति-मलिन हो रहा है। इस लिये आदर्श नेताके अधीन होकर आर्यजाति जब तक अपनी जातिगत अलौकिक मर्यादाकी पुनः प्रतिष्ठा न करेगी, तब तक इस जातिका पुनरभ्युत्थान असम्भव है। धर्मशक्तिके पुनरुद्‌बोधन द्वारा सात्त्विक शक्ति अर्थात् ब्राह्मणशक्तिकी प्रतिष्ठा करनी होगी, क्षात्रशक्तिको पुनरुद्‌बोधन द्वारा सत्त्वोन्मुख रजो-गुणकी प्रतिष्ठा करनी होगी, जिससे विजातीय अत्याचारसे अर्थ-कामकी सुरक्षा तथा ब्रह्मशक्तिको सहायता प्राप्त होगी। शिल्पकला

तथा वाणिज्यश्रीको वर्द्धित करके स्थूल शरीर सम्बन्धीय समस्त अभावको विदूरित करना होगा, तभी रजोगुणसत्त्वगुणकी सहायतासे तमोगुणको नाश करके आर्यजाति अपने पूर्व स्वरूपमें पुनः प्रतिष्ठाको पा सकेगी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ।

वर्णधर्म ।

—:*:—

(६)

आर्यजीवनकी मौलिकता रक्षामें वर्णधर्म ही प्रधान वस्तु है यह बात पहले ही कही गई है । किन्तु नवीन भारतमें शिक्षाके अभावसे जितने शास्त्रीय तथा सामाजिक विषयों पर शंका होती है, उनमेंसे सबसे अधिक शंकास्पद विषय वर्णधर्म ही है ।

वर्णधर्म क्या वस्तु है ? जातीय जीवनकी सब प्रकारकी उन्नति के साथ वर्णव्यवस्थाका किसी प्रकारका सम्बन्ध है या नहीं ? वर्णव्यवस्था प्राचीन है या किसीकी कपोलकल्पना या नवीन है ? इसको प्राचीन समझकर रखना चाहिये या नवीन मानकर तथा देशके अर्थहानिजनक समझकर उड़ा देना चाहिये ? इत्यादि अनेक प्रकारकी शङ्काओंकी अवतारणा आजकल की जाती है । इसलिये वर्णधर्मका विस्तारित वैज्ञानिक रहस्य वर्णन करके उन सब शंकाओं का निराकरण किया जाता है ।

किसी वस्तुके रहने या न रहनेके विषयमें विचार तथा मतामत प्रकाशित करनेके पहले, विचारवान् पुरुषको देखना अवश्य योग्य है कि उस वस्तुके अस्तित्वके साथ प्रकृतिका कुछ मौलिक सम्बन्ध है या नहीं ? क्योंकि जिस वस्तुका मौलिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, उसका प्रकृतिसे यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध रहता है; अर्थात् जब

तक प्रकृति रहेगी तबतक वह वस्तु भी रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। दूसरा विचार इसमें और यह होना चाहिये कि उसके रहने या न रहनेसे क्या लाभ अथवा हानि है ? क्योंकि जिस वस्तुका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ रहता है, उसके रहनेसे अवश्य लाभ है और न रहनेसे अवश्य ही हानि है, इस लिये नीचे युक्ति और प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध किया जायगा कि वर्णव्यवस्था प्राकृतिक है और इसके रहने या न रहनेसे क्या लाभ अथवा हानि है। जो लोग वर्णव्यवस्थाको नवीन कल्पना समझकर, इसके उड़ा देनेसे ही देश और जातिकी उन्नति होगी, ऐसा सोचते हैं वे भ्रान्त हैं। वे सब अज्ञानमूलक प्रलाप, प्रकृतिके स्वरूपको न देखनेके ही फल हैं। त्रिगुणमयी अनादि अनन्त प्रकृतिके राज्यमें गुणोंके तारतम्य अर्थात् छोटाई, बड़ाईके अनुसार, उद्भिज्जसे लेकर मनुष्यादि देवतापर्य्यन्त प्राणी, प्राकृतिक रूपसे किस प्रकार अनन्त विभागोंमें बंटे हुए हैं इसको प्रकृतिके प्रत्येक विभाग पर ठीक ठीक संयम करके देखनेकी शक्ति यदि उन लोगोंमें होती तो वर्णधर्मके विषयमें उनको इस प्रकार सन्देह नहीं होता। यदि प्रकृतिमें केवल सत्त्वगुण, केवल रजोगुण अथवा केवल तमोगुण होता, तो सम्पूर्ण जीव एक ही वर्णके होते; यदि दो गुण होते तो तीन ही वर्ण होते, परन्तु प्रकृतिमें तीनों गुणका विकास साथ ही साथ रहता है, अर्थात् जीवकी सृष्टि और उन्नतिके साथ, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण इन तीनोंका ही सम्बन्ध रहता है, इन्हीं तीनों गुणोंके अनुसार ही चारों वर्णकी व्यवस्था है। सृष्टिकी धारा दो प्रकारकी है। एक तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर, दूसरी सत्त्वगुण से तमोगुणकी ओर। इसको व्यष्टि और समष्टि सृष्टि अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्डसृष्टि भी कहते हैं। पहली धारामें जीव उन्नति करता हुआ तमोगुणके राज्यसे धीरे धीरे ऊपरको चलता है। तदनुसार

तमोगुणका राज्य, तमोगुण तथा रजोगुणका मिला हुआ राज्य, रजोगुण तथा सत्त्वगुणका मिला हुआ राज्य और सत्त्वगुणका राज्य इस प्रकार प्रकृतिके चार विभाग होते हैं और इन्हीं चार विभागोंमें बंटे हुए जीव चार वर्णके कहलाते हैं। यथा—तमोगुण विभागके शूद्रवर्ण, तमोगुण रजोगुण विभागके वैश्यवर्ण, रजोगुण सत्त्वगुण विभागके क्षत्रियवर्ण और सत्त्वगुण विभागके जीव ब्राह्मण कहलाते हैं। यही जीवकी उन्नतिका क्रम है। प्रकृतिमें तीन गुण हैं, इस लिये यह प्राकृतिक क्रम है। क्योंकि ये प्राकृतिक हैं, अर्थात् प्रकृति (Nature) के बनाये हुए हैं अन्य किसीके नहीं, इसी लिये जबतक प्रकृति रहेगी, उसके तीनों गुण अवश्य रहेंगे और गुणोंके अनुसार जीवोंकी सृष्टि होती रहेगी, तबतक वर्णव्यवस्था भी अवश्य ही रहेगी। उसी प्रकार समष्टि सृष्टिमें जो धारा सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर चलती है, उसमें भी नीचे आनेके क्रममें सत्त्वगुण, सत्त्वगुण रजोगुण, रजोगुण तमोगुण तथा तमोगुण, इन चारों विभागोंके अनुसार प्राकृतिक रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र, ये चार वर्ण होंगे। जबतक प्रकृति है और कालचक्रमें समष्टि सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड घूमता है, तबतक इस वर्णव्यवस्थाको कोई नहीं उठा सकता। यही तीनों गुणोंके अनुसार चातुर्वर्ण्यधर्म्मकी व्यवस्थाका मूल है। अब इस तत्त्वको, व्यष्टि तथा समष्टिसृष्टिके रहस्यको वर्णन करते हुए नीचे बताया जाता है।

व्यष्टिसृष्टि, जीवसृष्टिको कहते हैं। जीवप्रवाह अनादि होने पर भी, जीवभावके विकासका एक समय है, जिसमें प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध स्थूल जगतमें प्रकट होता है। जिस समय प्रकृति तथा पुरुषका यह सम्बन्ध प्रकट होता है, उस समय प्रथम जीवका कारण शरीर उत्पन्न होता है। कारण शरीर, अविद्या और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य, इन दोनोंके मेलसे उत्पन्न होता है।

यह सब प्रकृतिके नीचेके राज्यमें होता है। इस प्रकार जीवके कारण शरीरके उत्पन्न होनेके बाद, पञ्च कर्म्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि और उनके अन्तर्गत चित्त और अहंकार, इन सब सूक्ष्मतत्त्वोंसे उत्पन्न सत्रह पदार्थोंसे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होकर कारण शरीरके ऊपर स्थित होता है। इसके अनन्तर प्रकृतिके स्थूल महाभूत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पांचों स्थूल द्रव्यों से सूक्ष्म शरीरके अनुसार ही, उसका भोगायतनरूप स्थूल शरीर उत्पन्न होकर, सूक्ष्म शरीरके ऊपर स्थित होता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर और आत्मा मिलकर, जीव कहलाता है। प्रकृतिके तीन विभाग हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इस लिये इन तीनोंके सम्बन्धसे ही जीवका शरीर उत्पन्न होता है प्रकृति त्रिगुणमयी है, यही कारण है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों विभागोंमें तीनों गुण वर्त्तमान हैं। इस प्रकार तीन शरीरधारी जीव प्रकृतिके वेगसे तमोगुणसे ऊपरकी ओर चलते हैं। जीवकी इस ऊपर जानेवाली अवस्थाको ही चार भागोंमें विभक्त किया गया है। और येही चार वर्ण हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर, इन तीनोंको लेकरही प्रकृति पूरी होती है और तमोगुणसे ऊपरकी ओर इन तीनोंको ही धीरे धीरे उन्नति होती है, इस लिये वर्णधर्म्म स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरोंसे ही सम्बन्ध रखता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंको पूर्णतासे हो प्रकृतिको पूर्णता है, इनमेंसे एकके भी कम होनेसे वह अपूर्ण स्थितिमें रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लोग स्थूल शरीरको छोड़कर केवल सूक्ष्म और कारण शरीरके साथ ही वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध मान लेते हैं, वे भ्रान्त हैं और प्रकृतिके विज्ञानको नहीं जानते हैं; क्योंकि जब तीन गुणोंके अनुसार तमोगुणसे सत्त्वगुण तक प्रकृतिकी उन्नतिको ही

चार भागोंमें विभक्त करके वर्णोंकी व्यवस्था की गई है तो इसमें स्थूल शरीरका त्याग कैसे हो सकता है। पञ्च महाभूत वे हैं, जिनसे स्थूल शरीर बनता है। यह प्रकृतिका ही अंग है और उसकी उन्नति सूक्ष्म तथा कारण शरीरके साथ ही हुआ करती है। यही प्राकृतिक उन्नतिकी व्यवस्था है; इस लिये तीनों शरीरके साथ ही वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध है। अब इस प्रकार तीन शरीरधारी जीव प्राकृतिक संस्कारको आश्रय करके तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर कैसे बढ़ता है सो नीचे बताया जाता है।

जीवभाव प्रकट होने पर पहली योनि उद्भिज अर्थात् वृक्षादिकी है। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे। इत्यादि।

जीवको मनुष्य बननेके पहले चौरासी लाख योनियाँ भोगनी पड़ती हैं, जिनमें स्थावर बीस लाख, अण्डज अर्थात् पक्षी तथा जलचर आदि उन्नीस लाख, कृमि आदि स्वेदज ग्यारह लाख, पश्वादि वानर पर्य्यन्त चौंतीस लाख। इस संख्याके विषयमें मतभेद भी पाया जाता है; तथापि उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज, ऐसी चार प्रकारकी योनि लिखी है। जीवका सूक्ष्म और कारण शरीर इन सब योनियोंमें तरह तरहके स्थूल शरीरको बदलता हुआ क्रमशः ऊपरको चलता है। ऐसी अवस्थामें जीवकी जो उन्नति होती है उसमें जीवका अपना कर्म्म कारण नहीं है परन्तु प्रकृति अर्थात् समष्टि कर्म्म ही कारण है। जिस प्रकार नदीमें किसी वस्तु को डालनेसे प्रवाहकी ओर ही उसकी गति होती है तथा स्वयं कुछ नहीं करती, उसी प्रकार मनुष्यको छोड़कर सम्पूर्ण जीव प्रकृति-नदीके स्रोतमें स्वयं कुछ न करते हुए बहा करते हैं। माताकी

गोदमें छोटे बच्चेकी तरह, स्वभावतः ऊपरको जानेवाली प्रकृति माताके गोदमें सोये हुए ये सब जीव क्रमसे ऊपरकी ओर चलते हैं। उनके ऊपर चलनेका संस्कार समष्टि प्रकृतिका होता है, स्वयं उनका नहीं होता। इस लिये उन्हें पाप तथा पुण्यका भागी नहीं होना पड़ता। उनके सब काम प्रकृतिके अधीन हैं, इसी लिये उनके किये हुए कर्म्मोंका फल उनको न होकर, समष्टि प्रकृतिको होता है। सिंह नित्य हिंसा करने पर भी पापका भागी नहीं होता। अन्य उदाहरणोंको भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। अब विचार करनेकी बात है कि जीव जब उद्भिज्ज योनिसे ऊपरकी ओर चलता है, तब उसके भी चार भाग होकर चार वर्ण होने चाहिये क्योंकि तीन गुण और चार वर्ण सर्वत्र वर्त्तमान हैं। इस लिये यद्यपि मनुष्येतर जीवोंमें अज्ञान और तमोगुण अधिक है, तोभी अपनी अपनी अवस्थाके अनुसार तीनों गुण उनमें विद्यमान हैं, इस लिये चारों वर्णोंका होना भो अवश्य सम्भव है। इस व्यवस्थाके अनुसार उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज और पशु भी प्रत्येक ब्राह्मणादि चार वर्णके होंगे। वृक्षोंमें जिसकी पूर्णता स्थूल, सूक्ष्म, कारण, इन तीनों शरीरोंमें हुई है वही ब्राह्मण है। गीताजीमें विभूतियोंका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने आज्ञा की है कि:—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।

वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ हूँ। वृक्षगत सम्पूर्ण शक्तियाँ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा अश्वत्थ वृक्ष ब्राह्मण है। अश्वत्थके बीजकी शक्ति, उसकी प्रतिष्ठा करनेका फल, उसकी छायाकी शीतलता तथा पवित्रता आदि गुणोंको देखनेसे, उसको ब्राह्मण वृक्ष मानना सर्वथा अयुक्त न होगा। उसी तरह वट तथा बिल्व आदि पवित्र वृक्षोंको भी ब्राह्मण वृक्ष कह सकते हैं। क्षत्रिय वृक्षमें साल सागवान आदि वृक्षोंकी गणना हो सकती है। इनमें कठिनता, लम्बाई, सांसारिक

व्यवहारोंमें पूर्ण उपयोग तथा इतर छोटे वृक्षोंको छाया द्वारा रक्षण करना इत्यादि गुण, उनके क्षत्रियत्वको सिद्ध करते हैं। फल पुष्प देनेवाले सम्पूर्ण वृक्ष पोषण द्वारा अपना वैश्यत्व सिद्ध करते हैं। बांस आदि वृक्ष तथा औषधोपयोगी बनस्पतियाँ आदि लोकसेवा द्वारा अपने शूद्रत्वको बताते हैं। इस प्रकार तमोगुणप्रधान होने पर भी प्रकृतिमें तीनों गुण रहनेके कारण गुणोंके अनुसार वृक्षोंमें भी चार वर्ण देखे जाते हैं। स्वेदज अर्थात् कृमि कीट आदिकोंमें भी इसी प्रकार चार वर्ण हैं। जिन कीटोंके शरीर सात्त्विक पदार्थोंके परमाणुसे बनते हैं, यथा पुष्पादिकोंसे उत्पन्न होनेवाले कीट, ये ब्राह्मण कीट हैं। प्राणियोंके रुधिरसे सम्बन्ध रखनेवाले और फोड़ा तथा फुन्सीमें होनेवाले सब क्षत्रिय कीट हैं। जो रुधिरसे तथा रोगसे उत्पन्न कीट परस्पर आक्रमण कर युद्ध करते हैं वे भी क्षत्रिय हैं। जिन कीटोंके द्वारा वाणिज्य होता है, वे वैश्यकीट हैं। जो कीट तामसिक पदार्थोंसे बनते हैं, वे शूद्र कीट हैं। जैसे विष्ठा आदिसे उत्पन्न होनेवाले कीट।

वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार अण्डज योनिमें मनोमय कोषका विकास होता है, इस लिये जिन अण्डज जीवोंमें मनोमय कोषका विकासरूप रागद्वेषादि पाये जाते हैं, वे ही अण्डजोंमें ब्राह्मण हैं। जैसे चक्रवाक, कपोत आदि। इन पक्षियोंका परस्पर प्रेम जगत्प्रसिद्ध है। बाज आदि शिकारी पक्षियोंकी क्षत्रियोंमें गणना होती है, जिनमें अन्य पक्षियोंसे युद्ध करना तथा शिकार करके अपने मालिकके लिये लाना आदि क्षात्र धर्म्म विद्यमान हैं। जिन पक्षियोंके पंख आदिकोंसे व्यापार होता है, जैसे कि मयूर आदि और अण्डज कीट, यथा—रेशमके कीड़े, जिनसे बहुमूल्य वस्त्र बनते हैं, वे वैश्यवर्णके हैं। और शकुनशास्त्रमें जिन पक्षियोंका वर्णन है, जैसे कि काक, गृध्र, उल्लू आदि, ये सब शूद्रवर्णके हैं क्योंकि इनकी प्रकृति

तमोगुणी होनेसे शकुनरूपसे प्रकृतिका इङ्गित इन पक्षियों द्वारा प्रकट हुआ करता है।

उक्त प्रकारसे अण्डजोंमें चार वर्णोंकी व्यवस्था देखी जाती है इसी तरह जरायुजके अन्तर्गत पशुओंमें भी ऐसे ही चार वर्ण मिलते हैं। यथा-तैत्तिरीयसंहितामें:--

प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृजत.........ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्ते मुख्याः,.........बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत.........राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां तस्मात्ते वीर्यवन्तो.........मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त.........वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां.........सोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त.........शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्।

प्रजापतिने सृष्टिकी इच्छा करके मुखसे तीन प्रकारकी सृष्टि की, ये तीनों ब्राह्मण सृष्टियाँ थीं। यथा--देवताओंमें अग्नि, मनुष्योंमें ब्राह्मण और पशुओंमें छाग, इस लिये यह सृष्टि मुख्य है। बाहुसे जितनी सृष्टि की, वे सब क्षत्रिय हुए। यथा--देवताओंमें इन्द्र, मनुष्योंमें क्षत्रिय और पशुओंमें मेष। मध्यसे जितनी सृष्टि की, वे सब वैश्य हुए। यथा-देवताओंमें विश्वेदेवा, मनुष्योंमें वैश्य और पशुओंमें गौ। पदसे बहुत सृष्टि की, वे सब शूद्र हुए। उनमें बहुतसे देव, मनुष्य और पशुओंमें अश्व थे। इस प्रकार वेदमें देवतासे लेकर मनुष्योंके नीचेके जीवपर्य्यन्त चार वर्णोंका विभाग किया गया है। जीव उद्भिज्जसे लेकर पशु-योनि पर्य्यन्त समस्त योनियोंमें वर्णके अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको उन्नत करता हुआ, अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है।

मनुष्योनिमें आनेसे जीवकी गति और प्रकारकी हो जाती है।

मनुष्यके नीचेके जितने जीव हैं, उनमें बुद्धिका विकास तथा देहके प्रति अभिमान और अहंकार आदि कम होनेसे, वे सब प्रकृतिके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते। उनके आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि सभी प्रकृतिके आज्ञानुसार हुआ करते हैं; परन्तु मनुष्ययोनिमें आनेसे जीवकी बुद्धिका विकास होता है और देहाभिमान तथा अहंकार बढ़ जाता है, इसलिये मनुष्ययोनिमें आकर जीव प्रकृतिके नियमके विरुद्ध आचरण करता है। मनुष्यके आहार, निद्रा, मैथुन सभी अप्राकृतिक हुआ करते हैं। प्रकृतिका प्रवाह ऊपरकी ओर लेजानेवाला है, इसलिये उद्भिज्जसे लेकर उच्च पशु पर्य्यन्त जीवकी गति प्रकृतिके अनुकूल होनेसे क्रमोन्नति अवश्य ही होती है; परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर स्वाधीन तथा अहंकारी होनेसे, जीव जब प्रकृतिके विरुद्ध चलने लगता है, तब उसकी उन्नति रुककर अवनति होनेकी सम्भावना हो जाती है। जिस शक्तिके द्वारा यह अवनति रुककर उन्नति होती रहे और अन्तमें पूर्णोन्नति होनेसे जीव ब्रह्म बन जाय, उस शक्तिका नाम धर्म्म है। जिस प्रकार धर्म्मकी प्राकृतिक शक्तिसे मनुष्यके नीचेका जीव प्रकृतिके ऊपर जानेवाले प्रवाहका आश्रय करके पशुयोनिकी अन्तिम सीमा पर्य्यन्त जाता है, वही धर्म्मकी शक्ति अब मनुष्ययोनिमें जीवकी अवनतिको रोककर, उसको ऊपर चढ़ाती है। यहाँ धर्म्मका कार्य्य वर्णधर्म्म तथा आश्रमधर्म्मरूपसे होता है; अर्थात् मनुष्ययोनिके प्रारम्भसे पूर्ण मनुष्य होने पर्य्यन्त चार वर्ण और चार आश्रमके धर्मोंको ठीक ठीक पालन करता हुआ मनुष्य धीरे धीरे पूर्णताकी ओर अग्रसर हुआ करता है। प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे तीन अंग होनेसे और जीवके भी उसीके अनुसार तीन शरीर होनेसे, मनुष्योंकी उन्नति तीनों शरीरोंकी उन्नतिके द्वारा ही हुआ करती है। यही उन्नतिका जो ऊपर जानेवाला क्रम है, उसको वर्णधर्म्म कहते हैं। शूद्र,

वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चारों वर्णोंके जो जो कर्त्तव्य शास्त्रोंमें बताये हैं, वे सब मनुष्यकी उन्नतिके क्रमके अनुसार ही हैं; अर्थात् जो जो कर्म्म जिन वर्णोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरके द्वारा किया जा सकता है, उस वर्णके लिये वही कर्म्म बताया गया है। अपने अपने वर्णके अनुसार कार्य्य करनेसे जीवकी उन्नति होती है क्योंकि वे सब कर्म्म ऋषियोंने तीनों शरीरोंके विचारसे अधिकारके अनुसार ही रक्खे हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है किः—

क्लेशमूलः कर्म्माऽऽशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।

कर्म्माशय ही अविद्यादि पञ्च क्लेशका कारण है। जो कर्म्म वर्त्तमान तथा भविष्यत् जन्ममें प्राप्त होते हैं, उन कर्म्मोंके मूलमें रहनेसे, जाति, आयु और भोग उन कर्म्मोंके फलरूपसे प्राप्त होते हैं। कर्म्मसंस्कारको शास्त्रमें तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथाः— प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। जन्मजन्मान्तरसे होते आरहे हैं और जिनका अब तक उपभोग नहीं हुआ है, उनको सञ्चित कर्म्म कहते हैं। वर्त्तमान जन्ममें जो कर्म्म होता है, उसको क्रियमाण कर्म्म कहते हैं और सञ्चित और क्रियमाण दोनों कर्म्मोंमेंसे जो सबसे बलवान् है, इसलिये वह पहले ही भोग होनेवाला कर्म्म आगे होकर स्थूल शरीरको बनाता है, उसको प्रारब्ध कर्म्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म्मसे ही मनुष्योंको जाति, आयु और भोग मिलता है; अर्थात् जिसका जैसा प्रारब्ध कर्म्म है, वह वैसाही स्थूल शरीर प्राप्त करके, उसीके अनुकूल वर्णमें उत्पन्न होता है। उसकी आयु भी उतनी ही होती है, जितनेमें प्रारब्ध कर्म्मका भोग पूर्ण होसके और भोग भी प्रारब्धके अनुसार ही होता है। कर्म्मके मूलमें वासना रहनेसे एक कर्म्मके द्वारा दूसरा कर्म्मसंस्कार उत्पन्न होता

है और वह किया जानेवाला कर्म्म अपने अपने अधिकार और वर्ण-के अनुकूल हो तो उसके द्वारा अच्छे अच्छे नवीन कर्म्म अर्थात् क्रियमाण संस्कार बनते जाते हैं, जिससे मनुष्य क्रमशः उच्च वर्णको प्राप्त करता है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है, कि :—

चातुर्व्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।

गुण और कर्म्मके अनुसार मैंने चारों वर्णोंकी सृष्टि की है। इसमें गुणशब्दसे प्रकृतिके तीन गुण लेना चाहिये जिससे जाति बनती है। तमोगुण, रजस्तमोगुण, रजस्सत्त्वगुण और सत्त्वगुण, इन्हीं चारों गुणविभागोंके अनुसार कर्म्मका विभाग होता है; अर्थात् जिसमें जिस गुणका प्राधान्य है, वह उसी प्रकार कर्म्म करने लगता है। उसी गुण और कर्म्मके अनुसार ही उसकी जाति होती है। यह गुण और कर्म्म, प्रारब्ध और क्रियमाण दोनोंको लेकर ही होता है, क्योंकि पूर्वजन्मोंमें जिस प्रकार कर्म्म कर चुका है, उसीके अनुसार प्रकृति बनती है, उसी प्रकृति अथवा गुणके अनुसार ही मनुष्योंको आगामी जन्ममें स्थूल शरीर मिलता है और उसी गुण-कर्म्मानुसार ही प्रारब्ध संस्कारके अनुकूल जीव इस जन्ममें कर्म्म करने लगता है। प्रत्येक कर्म्मके मूलमें वासना है, इस लिये कर्म्मके ऊपर कर्म्म बनता जाता है और जीव कर्म्म करने में स्वतन्त्र भी है इसलिये पूर्व कर्म्मके ऊपर उन्नति भी कर सकता है। इस प्रकार कर्म्मोंकी उन्नति करते हुए जीव क्रमशः उच्च वर्णों-को प्राप्त करते हैं। यथाः—गीतामें कहा है कि :—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप!।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्ज्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम्॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्याऽपि स्वभावजम् ॥

स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके कर्म विभक्त किये गये हैं। ब्राह्मणोंके स्वाभामिक कर्म शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यभावको लिये हुए हैं। क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमेंसे न भागना, दान और ईश्वरभावको लिये हुए हैं। वैश्योंके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य हैं। सेवा करना शूद्रोंका स्वाभाविक कर्म है। इसी प्रकार मनुसंहितामें भी लिखा है। यथाः—

सर्व्वस्याऽस्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्म्माण्यकल्पयत् ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

सृष्टिकी रक्षाके अर्थ अपने मुख, बाहु, उरु और पादसे निकले हुए चारों वर्णोंकी उत्पत्तिके अनुसार, प्रकृतिको देखकर ब्रह्माजीने पृथक् पृथक् कर्मोंका निर्देश किया है। यथा–पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना, दान और प्रतिग्रह, ये सब ब्राह्मणोंके कर्म हैं। प्रजाओंकी रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयमें अनासक्ति, ये

सब संक्षेपसे क्षत्रियोंके कर्म हैं। पशुओंकी रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, सूद लेना और कृषिकर्म, ये सब वैश्योंके कर्म हैं। तीनों वर्णोंकी सेवा शूद्रोंका प्रधान कर्त्तव्य कर्म है। वर्णव्यवस्था प्रकृति के राज्यमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरधारी मनुष्योंकी उन्नतिके क्रमके अनुसार होनेसे ऋषियोंने और भगवान्‌ने जो पृथक् पृथक् कर्म लिखे हैं, वे भी उनके अधिकारके अनुसार हैं; अर्थात् शूद्रके लिये जो कर्म बताया गया है, उससे यह समझना चाहिये कि शूद्र के शरीर, मन बुद्धि और प्रकृति राज्य में अपनी उन्नति तथा अधिकारके अनुसार जिस कर्मको कर सकते हैं, वही कर्म उनकी प्रकृति और अधिकारको देखकर ऋषियोंने बताया है। इसी प्रकार वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मणके लिये जो जो कर्म बताये गये हैं, जैसे कि ऊपर बताया गया है, वे सभी तीनों वर्णोंके शरीर, मन तथा बुद्धिके अनुकूल हैं क्योंकि तीनोंकी प्रकृति और अधिकारको देख कर ही, ऋषियोंने कर्म्मका निर्देश किया है। इसी लिये जिसके प्रकृतिके अनुकूल जो कर्म हैं, उनसे विरुद्ध कर्माचरण हठसे करना चाहेंगे, :तो अनधिकार चर्चा तथा शक्तिसे बाहर होनेके कारण, उनसे हानि होगी क्योंकि जिनका जितना अधिकार है, उनके लिये उतना ही करना उन्नतिका कारण है। मनुष्य, धर्म्मको शक्तिसे अपने अधिकारके अनुसार, इस प्रकार कर्म्म करता हुआ वर्णोंके भीतर होकर निम्नलिखित प्रकारसे उन्नति करता है। यथ–शूद्र यदि अपने वर्णके कर्त्तव्यको ठीक ठीक निभाएँगे तो कई जन्मोंमें शूद्र प्रकृतिके पूर्ण होनेके बाद, अन्तमें शूद्र योनिको समाप्त करके, उसके ऊपरकी वैश्ययोनिको प्राप्त करेंगे। वैश्य भी अपने वर्णानुसार कर्त्तव्यको यदि ठीक निभाएँगे तो वैश्ययोनिमें ही क्रमोन्नति करते हुए, अन्तमें वैश्यप्रकृति पूर्ण होने पर क्षत्रिययोनिको प्राप्त करेंगे। क्षत्रिय भी अपने अधिकारके अनुसार, ऋषिनिर्दिष्ट कर्म्मोंको करते हुए,

क्षत्रियप्रकृतिके पूर्ण होने पर, ब्राह्मणयोनिको प्राप्त करेंगे। ब्राह्मण भी ऋषियोंके बताये हुए कर्म्मोंको ठीक ठीक करेंगे तो ब्राह्मणयोनि में भी क्रमोन्नतिको प्राप्त होकर, कई जन्मके बाद, अन्तमें पूर्ण ब्राह्मण होकर, प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपद प्राप्त करेंगे। यही प्रकृतिराज्यमें तीन गुणके अनुसार चार वर्णकी व्यवस्था है जिसके द्वारा प्रकृतिके ऊपर जानेवाले प्रवाहमें पतित जीव उद्भिज्ज योनिसे लेकर अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरोंको शुद्ध और उन्नत करते करते उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजोंमें निकृष्ट पशु, उत्कृष्ट-पशु, अनार्य्य, आर्य्य और आर्य्योंमें शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण, इस प्रकार तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर होते हुए, समस्त योनियोंको प्राप्त करते करते अन्तमें प्रकृतिराज्यसे बाहर विराजमान ब्रह्मपदको प्राप्त करके जीवत्वके अवसानमें शिवत्वको प्राप्त करते हैं। यही वर्णव्यवस्थाका व्यष्टि सृष्टिमें आदर्शरूप है। इस विज्ञानके द्वारा यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध तीनों शरीरोंके साथ है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये प्रकृतिके तीन अङ्ग हैं, यह पहले कहा गया है। वर्णव्यवस्था इन्हीं अङ्गोंकी पूर्णता है, इसलिये प्रत्येक वर्णकी पूर्णता तभी हो सकती है, जब कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर ही पूर्ण हों। जैसा कि महाभारतके अनुशासन पर्वमें और महाभाष्यमें भी लिखा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥
तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

पूर्ण शूद्र वही होगा जो स्थूल शरीरसे शूद्र होगा अर्थात् जन्मसे शूद्र होगा, कर्मसे शूद्र होगा तथा ज्ञानसे भी शूद्र होगा।

पूर्ण वैश्य वही है जो जन्म, कर्म्म और ज्ञानसे वैश्य हो। पूर्ण क्षत्रिय वही है, जो जन्म, कर्म्म तथा ज्ञानसे क्षत्रिय हो। पूर्ण ब्राह्मण भी वही है, जो जन्म, कर्म्म और ज्ञानसे पूर्ण है। इन तीनोंमेंसे जिसमें जिस अंगकी न्यूनता हो वह उस अंगसे उस वर्णमें उतना ही अधूरा रहेगा; अर्थात् यदि जन्मसे शूद्र हो परन्तु कर्म्मसे नहीं हो, अथवा जन्मसे वैश्य हो और कर्मसे नहीं हो, तथा जन्मसे क्षत्रिय हो परन्तु कर्मसे नहीं हो, तो वे सब अधूरे शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय कहलाएंगे। इसी प्रकार कर्म्मसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हों, परन्तु जन्मसे न हों तो वे भी अधूरे ही कहलाएँगे। इसी प्रकार कोई जन्मसे नीच वर्ण उच्च वर्णका कर्म्म करे, अथवा उच्च वर्णके अनुसार ज्ञान ही प्राप्त कर ले, तो वह कर्म्म और ज्ञानसे उच्च वर्णकी तरह होगा, जन्मसे निज वर्णका ही रहेगा। इसी प्रकार यदि उच्च वर्ण-का मनुष्य नीच वर्णके कर्म्म करे या ज्ञान प्राप्त करे तो वह ज्ञान तथा कर्म्मसे नीच वर्णका तथा जन्मसे उच्च वर्णका होगा। ऐसेही जन्मसे ब्राह्मण हो और कर्म्म तथा ज्ञानसे ब्राह्मण न हो तो वह पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहायेगा, अधूरा ही कहलायेगा। जैसा कि मनुमें:—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाऽफला।
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानन्तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

जिस प्रकार काष्ठका हाथी तथा चमंका मृग नक़ली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है। जिस प्रकार स्त्रीको नपुंसक, गौको गौ और अज्ञको दान देना निष्फल है; उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है; अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीरसे ही ब्राह्मण हैं, कर्म्म और ज्ञानसे अब्राह्मण हैं। परन्तु इस प्रकार स्थूल शरीर एक वर्णके होने पर भी उनके कर्म्म अन्य वर्णोंके कैसे होसक्ते

हैं; अर्थात् वर्णव्यवस्था जब प्रकृतिके तीन अङ्गोंसे सम्बन्ध रखती है तो उस सम्बन्धमें विरोध कैसे आ सक्ता है और इस प्रकार विरोध होनेकी सम्भावना कलियुगमें अधिक है या नहीं, इसका विचार थोड़े ही आगे किया जायगा।

जिस प्रकार व्यष्टि सृष्टिमें अर्थात् प्रत्येक जीवकी उद्भिज्ज योनिसे लेकर पूर्णता होने तकमें या तमोगुणसे लेकर सत्त्वगुणकी पूर्णता होने पर्य्यन्तमें अथवा शूद्रसे लेकर ब्राह्मणपर्य्यन्त उन्नत होनेमें, तीन गुणके अनुसार चारों वर्णोंकी व्यवस्था दिखाई देती है; उसी प्रकार समष्टि सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड सृष्टिमें भी ऊपरसे नीचेकी ओर या सत्ययुगसे कलियुगकी ओर या सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर अथवा ब्राह्मण वर्णसे शूद्रवर्णकी ओर तीन गुणके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था प्राकृतिक रूपसे हुआ करती है। इसी प्राकृतिक विभागके कारण ही, ब्रह्मके उत्तम अंगसे लेकर नीचेके अंग पर्य्यन्तसे चार वर्णोंकी उत्पत्ति यजुर्वेदमें बताई गई है। यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, बाहूराजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

ब्राह्मण मुखसे, क्षत्रिय भुजाओंसे, वैश्य ऊरुओंसे और शूद्र पाँवोंसे उत्पन्न हुए। इसमें उत्तमसे अधम अंगका विचार और पूर्ण सत्त्वगुणसे पूर्ण तमोगुणकी ओरका विचार है और तैत्तिरीयसंहितामें जो वेद छन्द देवतादिसे लेकर पशु पर्य्यन्त चार विभाग करके, सृष्टिकी धारा बताई गई है, जिसके विषयका मन्त्र पहले ही दिया जाचुका है, वह भी सत्त्वगुणसे लेकर तमोगुणपर्य्यन्त प्राकृतिक विभागके अनुसार चारों वर्णोंकी व्यवस्था है। महाप्रलयके समय जब ब्रह्माण्ड तथा प्रकृतिका लय हो जाता है तब समस्त जीवोंका कर्म्मसंस्कार महाकाशमें रह जाता है और पुनः प्रलयके बाद जब समष्टि कर्म्मके द्वारा ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके साथ साथ जीव-सृष्टि

प्रारम्भ होती है, तो प्रलयके समय जो जीव जिस प्रकार लय होगये थे, वे उसी प्रकारसे उत्पन्न होते हैं, परन्तु ब्रह्माण्डसृष्टिकी धारा ऊपरसे नीचेकी ओर होनेके कारण प्रथम सृष्टिमें पूर्ण सात्त्विक तथा निवृत्तिसेवी ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें लिखा है कि:—

सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथाऽऽत्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥
तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः!।
ते नैच्छन्मोक्षधर्म्माणो वासुदेवपरायणाः॥
अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥

ब्रह्माण्डसृष्टिकी प्रथम अवस्थामें ही सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, ऐसे चार पुत्र ब्रह्माजीसे पैदा हुए, परन्तु सृष्टिका प्रथम विकास होनेके कारण ये लोग पूर्ण ज्ञानी, निवृत्तिपरायण, निष्क्रिय और ऊर्ध्वरेता थे, इनमें सृष्टि करनेकी इच्छा ही नहीं थी, इस लिये ब्रह्माजीके सृष्टि करनेकी आज्ञा करने पर, ये लोग अस्वीकार हुए, तदनन्तर सृष्टिके दूसरे विकासमें मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद, ऐसे दस मानसपुत्र ब्रह्माजीने उत्पन्न किये, इनमें प्रथम चार पुत्रोंके अनुसार निवृत्तिभाव नहीं था, इसलिये इन्होंने सृष्टिकी इच्छा की और इन लोगोंसे बहुतसी सृष्टि बनी। इन श्लोकोंसे जीवकी प्रकृति किस प्रकार ऊपरसे धीरे धीरे नीचेकी आती है, सो दिखलाया गया है। यथा—प्रथम चार पुत्र पूर्ण निवृत्तिपरायण थे, दूसरी सृष्टिमें थोड़े निवृत्तिपरायण दस पुत्र हुए, इसके बाद उससे नीचेकी प्रकृति तथा प्रवृत्ति-

वाली सृष्टि हुई । नीचेकी सृष्टि किस प्रकार हुई, सो महाभारतके शान्तिपर्व्वमें दिखलाया गया है । यथाः—

असृजद्ब्राह्मानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराऽग्निसमप्रभान् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णताङ्गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्म्मान्नाऽनुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्व्वकर्म्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

ब्रह्माजीने पहले सूर्य्य और अग्निके समान तेजवाले तथा आत्माके तेजसे तेजस्वी ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया, सृष्टिकी प्रथम दशामें सब ब्राह्मण ही थे क्योंकि जैसा इस प्रबन्धके पहले ही कहा गया है कि यदि प्रकृतिमें एक ही गुण होता तो एक ही वर्ण रहता चार वर्ण न होते । उसी सिद्धान्तके अनुसार जब सृष्टिकी पहली दशामें पूर्ण सत्त्वगुण था और रजोगुण तथा तमोगुण पूर्णरूपसे सत्त्वगुणके प्रभावमें दबे हुए थे तो सभी ब्राह्मण थे, उस समय और कोई वर्ण नहीं था । वे सब ब्राह्मण जन्म, कर्म तथा ज्ञान अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों रूपसे ही ब्राह्मण थे, पश्चात् जब सृष्टिकी धारा नीचेको ओर जाने लगी जिससे सत्त्वगुणका पूर्ण प्रभाव घटकर, रजोगुण तथा तमोगुणका भी प्रकाश होने लगा और इन तीनों गुणोंका प्रभाव प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों अंगों पर पड़ने लगा, तो तीनों शरीरोंसे तीनों गुणोंके अनुसार चार वर्ण बन गये, जैसा कि ऊपरके

श्लोकोंसे भाव प्रकट होता है। पहले ब्राह्मणोंका जो कर्म्म था, अर्थात् जो पूर्ण सात्त्विक कर्म था जिससे ब्राह्मण सूर्य्यके समान तेजस्वी तथा श्वेतवर्ण थे, वह कर्म बहुत लोगोंमें बिगड़ने लग गया जिससे सात्त्विक प्रकृति बिगड़कर सत्त्व, सत्त्वरज, रज-स्तम तथा तम, ऐसे चार प्रकृति बन गई जिससे एक वर्णके चार वर्ण बन गये और उन कर्मोंका प्रभाव केवल सूक्ष्म और कारणराज्य में ही नहीं परन्तु स्थूलराज्य पर भी पड़ा जिससे स्थूलशरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर तीनों रूपसे ही चारों वर्णोंका प्राकृतिक विभाग बन गया और इस प्रकार चारों विभाग, स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंको मिलाकर, मनुजीने कर दिये जैसा कि ऊपरके श्लोकोंसे प्रकट होता है; अर्थात् जो द्विज लोग कामभोगप्रिय तीक्ष्ण, क्रोधी, साहसी आदि थे और जिनका रंग लाल हो गया था वे क्षत्रिय हुए। इसमें रंगका परिवर्त्तन कहनेका उद्देश्य यह है कि कर्मका प्रभाव स्थूल शरीर पर भी पूर्ण हो गया था। और जो द्विज कृषि और गोरक्षासे जीविका करने लगे और पीतवर्ण हो गये वे सब वैश्य हुए। यहाँ पीतवर्णका यही उद्देश्य है कि कर्म का प्रभाव स्थूलशरीर पर भी पूर्ण हो गया था। और जो हिंसा-मिथ्याप्रिय लोभी सकल प्रकारके नीच कर्म करनेवाले, शौच व आचारसे भ्रष्ट और कृष्णवर्ण हुए वे शूद्र कहलाने लगे। यहां कृष्ण-वर्णका यही उद्देश्य है कि कर्मका प्रभाव उनके स्थूल शरीर पर पूरा पड़ गया था। इसी प्रकार प्रकृतिका स्रोत निम्न-गामी होनेसे सत्व गुणके साथ रजोगुण तथा तमोगुणका प्रभाव उदय होकर मनुष्यके शरीरपर गुणोंके अनुसार उसने ऐसा असा-धारण अधिकार डाल दिया कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे ही चार वर्ण हो गये। शास्त्रमें लिखा है कि अति उत्कट पाप पुण्यका फल, इहलोकमें या मन पर प्रभाव जमा करके, जीवको

कुछसे कुछ बना डालता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कर्मके बिगाड़ होनेसे सत्ययुगके पश्चात् मनुष्योंकी भी हीनदशा होने लगी जिससे चार वर्ण होगये। सृष्टिकी पहली दशामें पूर्ण सत्त्वगुण रहनेसे सभी लोग तीनों शरीरोंसे ब्राह्मण थे; अर्थात् एक ही जाति थी क्योंकि एक गुणका प्रभाव था और गुण दबे हुए थे। पश्चात् तीनों गुणोंके प्रभावके बढ़ जानेसे, तदनुसार चार वर्ण हो गये। अब समय ऐसा है कि सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोमिश्रित तमोगुणकी अधिकता होने लग गई, इसलिये आजकलके युगको वैश्यत्वका युग कह सकते हैं; अर्थात् इसमें प्रधानतः मनुष्योंके चित्तमें वैश्यभावका प्रभाव है। यदि सृष्टिका प्रभाव और भी नीचेकी ओर चला तो वैश्ययुगके पश्चात् शूद्रयुग भी आ सकता है; उस समय शूद्रभाव का प्राधान्य मनुष्योंके चित्तमें रहेगा तो इस प्रकार होनेसे, जैसा कि सत्ययुगकी प्रथम दशामें सत्त्वगुणके पूर्ण होनेसे सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण थे; अर्थात् एक ही वर्णके थे; उसी प्रकार शूद्रयुगमें तमोगुण की पूर्णता और रजोगुण तथा सत्त्वगुणके अभावप्राय होनेसे शूद्र-भावको लेकर एक ही वर्ण रह सकता है। परन्तु ऐसा रहने पर भी भारतकी प्रकृति पूर्ण होनेके कारण चार वर्णका बीज अवश्य रहेगा जिससे कालान्तरमें पुनः चारों वर्णोंका आविर्भाव हो सकेगा। इस प्रकार शूद्रयुगके अन्तमें सत्त्वगुणके तिरोभाव होनेसे, आर्योंमें अनार्य्यभाव, अर्थात् म्लेच्छभाव भी आ सकता है, जिस समय म्लेच्छ-भावसे भारतके उद्धारके लिये अलौकिक दैवीशक्तियुक्त अवतारके प्रकट होनेकी आवश्यकता होगी। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि उस समय भी चारवर्णका बीज नष्ट नहीं होगा क्योंकि प्रकृतिमें तमोगुणके अधिक बढ़जाने पर भी त्रिगुणमयी होनेके कारण और दो गुण किसी न किसी दशामें अवश्य रहेंगे, इसलिये जिस समय साधुओंका परित्राण, पापियोंका नाश तथा धर्मसंस्थापनके लिये

अवतार प्रकट होंगे, उस समय स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरोंसे युक्त चारों वर्णोंकी प्रतिष्ठा होगी। जैसा कि श्रीमद्भागवतके १२ स्कन्ध तथा विष्णुपुराणमें लिखा है—

देवापि शान्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥

सूर्य्यवंशके मरु नामक क्षत्रिय और चन्द्रवंशके देवापि नामक क्षत्रिय योग तथा तपस्यामें रत होकर कलापग्राममें निवास कर रहे हैं। कलियुगके अन्तमें जब श्रीभगवान् ब्राह्मणकुलमें कल्कि अवताररूपसे उत्पन्न होंगे उस समय वे दोनों क्षत्रिय वीर भी उत्पन्न होंगे। और कल्कि भगवान्‌की शिक्षाके अनुसार इन्हींके द्वारा पुनः चार वर्णकी प्रतिष्ठा होगी। चार वर्णकी व्यवस्था प्रकृतिके अनुकूल होनेके कारण इस प्रकारसे कलियुगके अन्त तक बीजरूपमें रहकर श्रीभगवान्‌की सहायतासे पुनः प्रतिष्ठा लाभ करती है और उससे पुनः धर्मप्रधान सत्ययुगकी अवतारणा होती है। अतः सिद्धान्त हुआ कि वर्णधर्म सम्पूर्ण प्राकृतिक है और श्रीभगवान् जब इसके रक्षक हैं तो वर्णधर्मके द्वारा संसार तथा समाजकी अवनति नहीं हो सकती है।

किसी जाति या समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये चार शक्तिकी आवश्यकता होती है। एक शक्ति कला कौशल तथा कारुकार्य्यके द्वारा जातीय शरीरको सुसज्जित करती है, एक शक्ति अर्थोपार्जन द्वारा जातीय शरीरका परिपुष्ट करके दुर्भिक्ष, दारिद्र्यादिसे उसे बचाती है, एक शक्ति संगृहीत धन रत्न कला कौशल भूमि सम्पत्ति तथा जातीय शरीरको विजातीय आक्रमणसे सुरक्षित रखती है और चौथी शक्ति अर्थ काम धन रत्न शरीर मन प्राण

आत्मा सभीको विषयाभिमुखीन होनेसे बचाकर परमात्माकी ओर प्रेरित करती है, जिससे अर्थकामादिपुष्ट जातीय जीवन पापाचारी होकर नरकगामी न हो सके, परिणाममें दुःख, मनस्ताप या अन्तर्जातीय विप्लवसे दग्ध न हो सके, किन्तु अर्थ काम शरीर मन बुद्धि आदिके धर्मानुकूल उपयोग द्वारा अन्तमें अनन्तानन्दनिलय श्रीभगवान्को प्राप्त हो सके। प्रथम शक्तिप्राप्तिका अधिकार शूद्रका है, द्वितीय शक्तिप्राप्तिका अधिकार वैश्यका है, तृतीय शक्तिप्राप्तिका अधिकार क्षत्रियका है और चतुर्थ शक्तिलाभका अधिकार ब्राह्मणका है। जिससे चार वर्ण अधिकारानुसार चारों शक्तियोंमें पूर्ण हो सकें। इसलिये यह श्रमविभाग (division of labour) की व्यवस्था नैसर्गिक धर्मके विचारसे की गयी है और उनके आचार, खान पान, स्पर्शास्पर्श, रीति नीति सभी पृथक् पृथक् रूपसे बांध दिये गये हैं। इस प्रकार पृथकताविधानके मूलमें घृणा या असहानुभूति नहीं है, क्योंकि जिस आर्य्यजातिके प्रात्यहिक अनुष्ठेय नृयज्ञमें भोजनके पहले आये हुए चाण्डालको भी नारायण समझकर पहले भोजन करानेकी आज्ञा है, उसमें घृणाके विचारपर चार वर्णोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती। इसमें आत्मरक्षा और अधिकारानुसार जातीय शक्तिकी पुष्टि तथा पूर्णतासम्पादन ही लक्ष्य है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि निवृत्तिसेवी संन्यासी जो प्रवृत्तिसेवी गृहस्थोंसे अपना आसन, भोजन, आश्रम आदि पृथक् रखते हैं और उनके साथ स्पर्शादिसे बचे रहते हैं, इसमें गृहस्थोंपर उनकी घृणा या असहानुभूति या अनुकम्पाका अभाव कारण नहीं है; केवल संस्पर्शसे पृथक् रहकर संयम, तपस्या, योगादिसे उत्पन्न निजशक्ति तथा परमात्माभिमुख जीवात्माकी रक्षा ही इसमें कारण है। क्योंकि यदि संन्यासी इस प्रकारसे पुष्टशक्ति न रहें, तो वे न तो गृहस्थोंका ही कल्याण कर सकते हैं

और न अपना ही कल्याण कर सकते हैं। संस्पर्श तथा आहारादिके द्वारा शक्तिनाश, शक्तितारतम्य या शक्तिविकृति होती है यह बात अवश्य ही विज्ञानसिद्ध है। पापी दुर्योधनका अन्न खाकर ज्ञानी भीष्म पितामहकी भी बुद्धिपर मोह आच्छन्न हो गया था यह बात उन्होंने महाभारतमें स्वयं ही कही है। मनुष्य जिस प्रकार प्रकृति (atmosphere) सङ्ग या स्पर्शास्पर्शके भीतर रहता है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। योगदर्शनमें लिखा है—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

हिंसारहित मनुष्यके पास आनेसे सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र जीव भी हिंसा भूल जाते हैं। सात्त्विक स्पर्श या प्रकृति (atmosphere) का प्रभाव ही इसमें कारण है। वेश्याके स्पर्श और सतीके स्पर्शमें बड़ा अन्तर है। सात्त्विक आचारवान् धार्मिक पुरुषका स्पर्श तथा अनाचार-व्यभिचार-परायण पापीके स्पर्शमें आकाश पातालका अन्तर है। षोड़श संस्कारयुक्त पुरुष और संस्कारहीन पुरुषके स्पर्शमें बड़ा अन्तर है। केवल इतना ही नहीं, आजकलके भौतिक विज्ञानजगत्में भी यह सिद्धान्त निश्चित हो चुका है कि, केवल स्पर्शके द्वारा ही कितने संक्रामक रोग एक शरीरसे दूसरे शरीरमें संक्रमित होते हैं। चेचक, प्लेग आदि रोगकी संक्रामकता तो प्रसिद्ध ही है। जब स्थूलमें इतनी संक्रामकता है तो सूक्ष्ममें तो अवश्य ही होगी। इन्हीं विषयोंपर विचार करके चारों वर्णोंकी भिन्न भिन्न उपादानकी शक्तियोंको सुरक्षित तथा परिपुष्ट रखनेके लिये महर्षियोंने चारोंके आचार, खान पान तथा स्पर्शास्पर्शके विषयमें इतने प्रभेदकर विधान किये हैं। क्योंकि ब्राह्मण जब तक अपने आचार खान पान आदिको पृथक् रखकर ब्राह्मण-कर्त्तव्यका आचरण न करेगा, तबतक उसमें ब्राह्मणोचित शुद्ध (unalloyed) शक्ति प्रतिष्ठित

नहीं हो सकेगी और ऐसा न होनेसे वह अपनी उन्नति या जातीय उन्नति कुछ भी नहीं कर सकेगा। ब्राह्मण भङ्गी या चाण्डाल बनकर अपना भी कल्याण नहीं कर सकता है और भङ्गी चाण्डालका भी कल्याण नहीं कर सकता है। गुरु गुरु रह कर ही शिष्यका कल्याण कर सकते हैं, अपने गुरुत्वको खोकर शिष्यके समान बनकर शिष्यका कल्याण नहीं कर सकते हैं। क्षत्रिय जिस क्षत्रिय पिता, क्षत्रिया माताके रजोवीर्यसे उत्पन्न है वह एक खास वस्तु है, वह अपने आचार विचारको पृथक् रखकर ही पूर्ण क्षत्रिय वीर बन सकता है, अन्य वर्णसे अपने आचारोंको मिलाकर नहीं बन सकता है। क्योंकि ऐसा करनेसे शक्तिवैषम्य (anomaly of forces) होकर न वह अपनी ही उन्नति कर सकेगा और न जातिका ही क्षत्रियजनोचित कल्याण कर सकेगा। इसी प्रकार वैश्य या शूद्र सभी अपने अपने आचारपर रहकर ही अर्थसंग्रह, वाणिज्यश्रीलाभ, कलाकौशल-पूर्णता आदि स्वस्व वर्णोचित उन्नति लाभ द्वारा अपनी तथा जातीय सेवा कर सकते हैं। अतः सिद्धान्त हुआ कि वर्णोंमें आचार, खान पान, स्पर्शास्पर्श आदि व्यवस्था सम्पूर्ण विज्ञानानुकूल है और उसकी भित्ति घृणा या अनुदारतापर नहीं है किन्तु जातीय कल्याण तथा आत्मरक्षा पर ही है। इसमें घृणाको मूल समझना या घृणा करना भ्रम तथा अनुदारता है। मनुष्य निज निज प्राक्तनानुसार भिन्न भिन्न जातियोंमें जन्मको पाते हैं और नाना प्रकारके प्राक्तनानुसार चित्तवृत्ति, चरित्र, मानसिक उन्नति या आत्मोन्नति नाना प्रकार-की होती है। कोई मूर्ख होता है, कोई विद्वान् होता है, कोई धनी होता है, कोई गरीब होता है, कोई धार्मिक होता है, कोई पापी होता है, कोई चरित्रवान् होता है, कोई चरित्रहीन होता है, इत्यादि इत्यादि सभी पूर्वजन्मके कर्म तथा इस जन्मके पुरुषार्थपर निर्भर है। तदनुसार ही आचार विचार होने चाहिये। इन सबको एक

कर देना प्रकृतिके अनुकूल नहीं है और अनुकूल न होनेसे प्रकृति-पर इस प्रकार बलात्कार द्वारा जातीय उन्नति कदापि नहीं हो सकती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि एक मनुष्य जिसने लाखों जन्मोंको पाकर क्रमशः अपनी शारीरिक मानसिक या आत्मा-की उन्नति की है, उसके साथ अभी दो चार ही जन्म जिसका हुआ है ऐसे मनुष्यके शारीरिक, मानसिक आदि उपादानोंकी एकता कैसे होगी ?' अतः यदि इन दोनोंका जातिगत, आचारगत भेदको मिलाकर एक कर दिया जायगा तो प्राकृतिक क्रमोन्नति (natural evolution) नियमके पूर्ण विरोधी होनेसे दोनोंकी ही हानि अवश्य होगी। इसलिये भिन्न भिन्न जातिगत आचार खानपान स्पर्शास्पर्श आदिकी शास्त्रानुकूल व्यवस्था अवश्य ही रखनी चाहिये। यह व्यवस्था व्यक्तिगत तथा संस्कारगत है, इससे जातीय उन्नति या अवनतिका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जीव इन सभोंके द्वारा व्यक्तिगत रूपसे उन्नति या अवनतिको पाते रहते हैं, कोई स्वर्गमें जाते हैं, कोई नरकमें जाते हैं, किसीको मोक्ष मिल जाता है इत्यादि इत्यादि इन सब व्यक्तिगत कर्मोंको पृथक् पृथक् रखकर ही मातृभूमिकी सेवाके लिये जीवनोत्सर्ग करना प्रकृति तथा आर्य-शास्त्रानुकूल है। हम सब भाई चाहे कोई कैसे ही हों भारतमाता सभोकी माता हैं। उनकी सेवा तथा रक्षाके लिये नाना प्रकृति-युक्त हम सब एक हैं। इसी बुद्धि तथा विचारसे आचारपालन वर्णानुकूल तथा जात्यनुकूल करना चाहिये और मातृभूमिकी सेवामें सदा सन्नद्ध रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त देशविप्लव, संग्राम, दुर्भिक्ष आदिके समय आपद्धर्मके सिद्धान्तानुसार स्पृश्यास्पृश्यकी व्यवस्था कैसी होनी चाहिये सो पहले ही कहा जा चुका है।

यह बात पहले ही कही गई है कि प्रथमावस्थामें सृष्टि पूर्ण रहती है और क्रमशः सृष्टिकी धारा नीचेकी ओर हो जाती है।

इससे यही सिद्धान्त होता है कि अनर्गल छोड़ देनेसे सृष्टिकी धारा गिरती गिरती मनुष्यको पशु बना देगी। इसी गिरते हुए स्वाभाविक स्रोतको रोकनेके लिये और पवित्र आर्य्यजाति क्रमशः नीचेकी ओर गिरकर अन्तमें नष्ट न हो जाय, इससे उसको बचानेके लिये वेद और शास्त्रने वर्णके चार बन्ध और आश्रमके चार बन्ध इस प्रकार आठ बन्धोंके द्वारा, इस निम्नगामी स्रोतको रोका है। महर्षि भरद्वाजने भी इस विषयमें कहा है :—

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म्मः।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः।

इन दोनों सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि वर्णधर्म्म मनुष्य जातिमें विषयभोगकी जो स्वाभाविक तीव्र वासना है उसको कम करके मनुष्यजातिके गिरनेकी गतिको रोकता है और आश्रमधर्म्म प्रवृत्तिकी ओरसे निवृत्तिकी ओर हटाकर, मनुष्यजातिको मुक्तिकी ओर अग्रसर करता है। अतः जिस जातिमें वर्ण और आश्रमकी व्यवस्था है वही जाति सदा विद्यमान रह सक्ती है। अन्य मनुष्य-जातियाँ क्रमशः गिरती हुई असभ्य जातियाँ हो जासक्ती हैं।

जाति जन्मसे है या कर्म्मसे, इस विषयमें आजकल बहुत प्रकारके सन्देह होरहे हैं। जाति या वर्ण क्या वस्तु है इसका न जानना ही इस प्रकारके सन्देहोंका कारण है; जब तीन गुणके अनुसार प्रकृतिराज्यमें जीवोंके चार क्रम ही चतुर्वर्णविभागका कारण है तो प्रकृतिके जितने अंग हैं सबके साथ वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध अवश्य होगा। पहले बताया गया है कि प्रकृतिके तीन अंग हैं, प्रथम—स्थूल प्रकृतिके अंगसे बना हुआ एक स्थूल अंग है जिससे स्थूल शरीरका सम्बन्ध है, दूसरा—सूक्ष्म पञ्च तत्त्वोंसे बना हुआ सूक्ष्म अंग है जिससे सूक्ष्म शरीर बनता है और तीसरा—अविद्या-मूलक कारण अंग है जिससे कारण शरीर बनता है। इसलिये

वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध तीनों शरीरोंसे अवश्य होगा और जन्म जब स्थूलशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है तो वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध जन्मके साथ अवश्य होगा । इसीको योगदर्शनके सूत्रमें स्पष्टदिखाया गया है कि :—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

दृष्ट और अदृष्ट जन्मोंमें भोगेजानेवाले कर्म्म-संस्कारोंके मूलमें रहनेसे ही जीवोंको ब्राह्मण क्षत्रियादि जाति आयु और भोग मिलता है। इसकी व्याख्या पहले अच्छी तरह की जाचुकी है। यह बात विचारने योग्य है कि जन्म और कर्म्म क्या वस्तु है। वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि जन्म और कर्म्म दोनों एक ही वस्तु हैं। क्योंकि पूर्व जन्मके कर्म्मसेही आगेका जन्म होता है। यह बात पहले सिद्ध की गई है कि सञ्चित और क्रियमाण दोनों प्रकारके कर्म्मोंमेंसे प्रबल कर्म प्रारब्ध बनकर जीवके स्थूल शरीरको माता पिताके रजोवीर्य्यके द्वारा उत्पन्न करता है। पूर्व जन्मका कर्म्म जिस प्रकारका होता है उसको भोग करनेके लिये जैसे माता पिता मिलने चाहिये; अर्थात् जिस माता और पिताके मिलनेसे प्रारब्ध कर्म्मका भोग ठीक ठीक होगा और चार वर्णोंमेंसे जिस वर्णमें उत्पन्न होने पर प्रारब्ध कर्म्मका भोग ठीक ठीक होगा और जिस देशमें तथा जिस कालमें उत्पन्न होनेपर प्रारब्ध कर्म्मका ठीक ठीक भोग हो सकेगा वैसे ही पिता माताके द्वारा वैसेही वर्णमें और वैसेही देश तथा कालमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं। पूर्व कर्म्मके साथ स्थूल शरीरका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है कि एक एक अङ्गका निर्म्माण पूर्वकर्म्मके द्वारा हुआ करता है। सुश्रुतमें लिखा है कि :—

कर्म्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते ।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणाऽगुणाः ॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्म्माऽधर्म्मनिमित्तजाः ।
शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ॥
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ।

इन श्लोकोंसे तात्पर्य यह निकलता है कि पूर्वजन्ममें मनुष्य जिस प्रकारका कर्म्म करता है अगले जन्ममें उसी प्रकारके गुणोंको प्राप्त करता है और केवल गुण ही नहीं प्रत्युत शरीरके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्व कर्म्मोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं, पूर्व कर्म्ममें जिस प्रकारका गुण या दोष होता है शुक्रशोणितका संयोग भी ठीक वैसा ही होता है। जिससे स्थूल शरीरका लक्षण भी कर्मानुकूल होनेसे वैसाही होता है । इन्हीं लक्षणोंके अनुसार शास्त्र बनाया गया है, उसको फीजियोग्नोमी (Physiognomy) कहते हैं। यथा—जिनके नीचेका ओठ और नाकका छिद्र मोटा होता है तथा चौड़ा होता है वे प्रायः कामुक होते हैं। जिनके केश सूक्ष्म, कुंचित और सुन्दर (लहरदार) होते हैं वे प्रायः कविताप्रिय होते हैं और जिनके केश शूकरके केशकी तरह मोटे और कड़े कड़े होते हैं वे क्रूर और दुष्ट तथा हिंस्र प्रकृतिके होते हैं। जिनका मस्तक नारियल जैसा होता है वे आर्य-गुणसम्पन्न होते हैं। जिनके मस्तकका पश्चाद्भाग ऊँचा होता है वे प्रायः कामुक होते हैं। जिनका ललाट विस्तृत होता है वे प्रायः भाग्यवान् होते हैं। ऊँचा ललाट होनेसे बुद्धिमान्, दबे हुए होनेसे निर्बुद्धि और छोटे होनेसे दौर्भाग्यवान् होते हैं। शूकरकी तरह छोटी छोटी आंख और मुँहवाले मनुष्य लोभी कामुक और कूटबुद्धि-सम्पन्न होते हैं। गौकी तरह आंख और मुखवाले मनुष्य विचार-शून्य और सीधे होते हैं। धनुःसा भ्रू बुद्धिका लक्षण है। भौंहमें

सघन केश प्रभावशालीका लक्षण है। भ्रूमें कम केश क्षुद्र और निर्लज्ज मनुष्यका लक्षण है। जुड़ी हुई भृकुटी कामका लक्षण है। गोल मुँह वैराग्यका लक्षण है। कुल्हाड़ीकी तरह मुख क्रोधी और कृपणका लक्षण है। वक्रदृष्टिवाली आंख, घूमनेवाली आंख या पूर्वदेशके लोगोंकी पश्चिमदेशके लोगोंकी तरह आँख खराब प्रकृतिकी सूचना करता है इत्यादि अङ्ग प्रत्यङ्गोंके अनेक लक्षणोंसे मनुष्यकी प्रकृति पहचानी जाती है, क्योंकि ये सब लक्षण प्रारब्धके अनुसार ही शरीरमें प्रकट होते हैं। और हस्तरेखा आदिसे कर्म्मोंका बहुत कुछ पता लग सकता है, जिसके लिये पृथक् एक सामुद्रिकशास्त्र ही विद्यमान है। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रारब्धकर्म्मोंके सम्बन्धसे शरीर भिन्न भिन्न प्रकारका होता है और यही विभिन्नता त्रिगुणके साथ सम्बन्धके अनुसार चतुर्वर्णविभेदका कारण होती है। और यह बात पहले कही जा चुकी है कि मनुष्यको प्रारब्ध कर्मके अनुसार ही भिन्न भिन्न जातिके पिता माता मिलते हैं; अर्थात् पूर्व कर्म जिस प्रकृतिका होता है उसी प्रकृतिके पिता माता द्वारा मनुष्यको स्थूल शरीर प्राप्त होता है और इसी लिये प्रायः पुत्रकी प्रकृति साधारणतः पिताकी प्रकृतिके अनुरूप ही हुआ करती है। पुत्र पिताके आत्मारूपसे उत्पन्न होता है जिसके लिये श्रुतिमें कहा है किः—

आत्मा वै जायते पुत्रः। अङ्गादङ्गात् सम्भवसि,
हृदयादधिजायसे, आत्मा वै पुत्रनामाऽसि। इत्यादि।

पुत्र आत्मरूपसे उत्पन्न होता है, अङ्ग अङ्गसे बनता है, हृदयसे हृदय बनता है, आत्मा (स्वयं) ही पुत्रनामसे उत्पन्न होता है इत्यादि। संसारमें देखा जाता है कि प्रायः पिताकी आकृति, रंग और अभ्यास पुत्रमें स्वतः ही हुआ करते हैं। जिस वंशमें जो विद्या या कार्य्य चला आता है उस वंशके मनुष्य उस विद्या या कार्यमें

अन्य वंशके मनुष्योंसे अधिक निपुण होते हैं। अपने पिताके अभ्यास को पुत्र बहुत शीघ्र सीख सकता है। नाटे मनुष्यका नाटा लड़का और लम्बे पुरुषका लम्बा लड़का प्रायः हुआ करता है। रोगी पिता के रोगी पुत्र तथा बलवान् पिताके बलवान् लड़का प्रायः हुआ करता है। उन्माद, उपदंश आदि कई प्रकार रोग हैं जो रजोवीर्यके द्वारा पितासे पुत्र पौत्रमें संक्रामित हुआ करते हैं इत्यादि। ऐसे बहुतसे साधारण विषयों पर विचार करनेसे सिद्ध होगा कि पूर्व कर्मके अनुसार स्थूल शरीर और पिता माताकी प्राप्ति और तदनुसार ही वर्णव्यवस्था हुआ करती है; परन्तु कभी इस साधारण नियममें परिवर्त्तन भी हो जाता है क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेसे पुरुषार्थ और देशकालके सम्बन्धसे अपने प्रारब्धसंस्कारमें उन्नति करके साधारण रीतिसे कुछ विलक्षण भी कर सकता है। मनुष्यसे नीचे जितने जीव हैं उनमें और मनुष्यमें यह भेद है कि अन्य जीवोंमें बुद्धिका विकाश कम होनेसे उनमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता नहीं है, वे प्रकृतिके अधीन होकर ही कर्म करते हैं परन्तु मनुष्यमें बुद्धिके विकाश होनेसे मनुष्य प्रकृतिको यथासाध्य अपने अधीन करके स्वतन्त्रतासे कर्मको कर सकता है। ऐसा होनेमें और भी एक कारण यह है कि मनुष्यमें पञ्चम कोष अर्थात् आनन्दमय कोषका विकाश होता है जिससे सुखकी इच्छा मनुष्यमें प्रबल होनेके कारण कर्ममें भी स्वतन्त्रता होती है, मनुष्यके हृदयमें स्थित आनन्दसत्ता उसको सुखकी लालसासे कार्यमें प्रवृत्त कराती है जिससे मनुष्यके मौलिक कार्य प्रारब्ध संस्कारके अनुसार होने पर भी उनमें उन्नति या अवनति करना मनुष्यके अधीन रहता है। इसलिये इतर जीवोंमें प्राथमिकी प्रवृत्ति (Primary passion) होने पर भी मनुष्यमें द्वैतीयिकी प्रवृत्ति (Secondary passion) हुआ करती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि पशुका आहार या उसकी काम-

लालसा प्राकृतिक अभावको पूर्ण करनेके लिये होने पर भी मनुष्य की कामलालसा और आहार इन्द्रिय-भोगजनित सुख प्राप्तिके लिये हुआ करती है इस लिये प्रारब्धके वेगसे कोई भोग्य वस्तु मनुष्यको प्राप्त हो तो उसको भोगनेके साथ ही साथ मनुष्यमें नवीन वासना उत्पन्न हुआ करती है जिससे सत् या असत् नवीन कर्म्म बनते जाते हैं। ये ही कर्म्म क्रियमाण कर्म्म कहलाते हैं जो मौलिक प्रारब्ध कर्म्मको आश्रय करके बनते हैं और इन्हीं क्रियमाण कर्म्म और सञ्चित कर्मोंसे छँटे हुए बलवान् कर्म्मोंके द्वारा पुनः मनुष्यको आगामी जन्म मिला करता है, इसी प्रकार जन्म और कर्म्मके द्वारा मनुष्य संसारचक्रमें मुक्तिके पहले पर्य्यन्त भ्रमण करते हैं। उनको भिन्न भिन्न जातिकी प्राप्ति इस प्रकार जन्म और कर्म्म दोनोंके द्वारा ही हुआ करती है। ऋषियोंने इन सब बातोंको ज्ञानदृष्टि द्वारा देखा था तभी तीन गुणके अनुसार चार वर्णकी व्यवस्था की थी; अर्थात् किस प्रकारके प्रारब्ध कर्म्मके अनुसार मनुष्य कौनसा कर्म्म प्रकृतिके अनुकूल कर सकता है, किस प्रकारके स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरोंके संस्कारोंसे कौन वर्णके कर्म्म साधारण रीति पर बन सकते हैं, जिससे प्रकृतिके विरुद्ध और अनधिकार-चर्चा होकर उन्नतिके बदले अवनति न हो, किन्तु प्रारब्ध संस्कारके आश्रयसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरोंकी उन्नति होकर क्रमशः उच्च वर्णकी प्राप्ति हो, इन्हीं सब विषयों पर विचार करके वर्णव्यवस्थाका नियम और कर्त्तव्य निर्देश किया है। अतः सिद्ध हुआ कि जन्म और कर्म्म दोनोंसे ही वर्णोंकी व्यवस्था हुआ करती है। जन्मके अनुसार ही कर्म्म होते हैं और कर्म्मोंके अनुसार ही पुनः जन्म हुआ करते हैं तथा प्रत्येक वर्णमें पूर्णता तभी आ सकती है, जब जन्म और कर्म्म दोनों पूर्ण हों। जिस वर्णमें जन्म हो उसीके अनुकूल कर्म्म करना ही प्रकृतिके अनुकूल है। इससे क्रमोन्नति

होकर उच्च वर्णकी प्राप्ति आगामी जन्ममें हुआ करती है। इस लिये साधारण रीति तो यह हुई, कि प्रारब्ध संस्कारके अनुकूल ही उन्नति करते हुए क्रमशः जन्मजन्मान्तरमें उच्च वर्णोंको प्राप्त किया जाय, परन्तु मनुष्यमें योगादि असाधारण पुरुषार्थ करनेकी शक्ति और कर्म्म करनेमें स्वतन्त्रता होनेसे, वह निज पुरुषार्थसे एक ही जन्ममें उच्च वर्णको प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार महाभारतके श्लोकोंसे पहले दिखाया जा चुका है, कि सृष्टिकी प्रथम दशामें केवल ब्राह्मण ही थे। उनके कर्म्मोंमें अन्तर पड़नेसे ही मनुजीको वर्णोंकी व्यवस्था बांधनी पड़ी, जिससे यह समझना चाहिये कि इस प्रकार वर्णकी व्यवस्था असाधारण कर्म्मका ही फल था, जिसके प्रभावने स्थूलशरीर पर्यन्तको बिगाड़कर क्षत्रियादि कर्म बना दिये; ठीक इसी प्रकार असाधारण उत्तम कर्मके करनेसे एक ही जन्ममें उत्तम वर्णकी भी प्राप्ति हो सकती है। जैसे विश्वामित्रका क्षत्रियसे ब्राह्मण होना। आज कल लोग वर्णव्यवस्थाको न समझकर, सभी विश्वामित्र बनने लगे हैं और कर्मके द्वारा विश्वामित्रजी ब्राह्मण हुए थे, इस लिये कर्मको ही मुख्य मानकर, जन्मको उड़ाने लगे हैं। उनके इस सिद्धान्तका भ्रान्ति ही कारण है क्योंकि यह बात पहले ही सिद्ध की गई है कि प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे तीन अंग होनेसे, प्रत्येक वर्ण तभी पूरे हो सकते हैं, जब शरीर अर्थात् जन्म, कर्म और ज्ञान उस वर्णमें पूरे हों; इन तीनोंमेंसे एकके कम होनेसे वर्णमें भी कमी रहेगी। अब विचार करनेकी बात है कि विश्वामित्रजीने जो ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था सो केवल कर्म्मके परिवर्त्तनसे ही था अथवा उसके साथ स्थूल शरीरका भी कुछ सम्बन्ध था। पुराणका पाठ करनेवाले जानते हैं कि विश्वामित्रकी उत्पत्तिमें पिताका अंश ब्राह्मणका था, केवल माताका अंश क्षत्रियका था, इस लिये विश्वामित्रजी पहलेसे ही

आधे ब्राह्मण थे, परन्तु माताका अंश क्षत्रिय होनेके कारण, स्थूल शरीरमें जो कुछ क्षत्रियका अंश था उसके परिवर्त्तन करनेके अर्थ उन्होंने बहुत वर्षों तक असाधारण तपस्या की। यह बात सभी लोग जानते हैं कि तपस्याका प्रभाव केवल मन पर ही नहीं किन्तु शरीर पर भी पड़कर, उसके अणु परमाणुओंको बदल डालता है। विश्वामित्रके विषयमें भी ऐसा ही हुआ था; अर्थात् असाधारण कर्म्मोंके द्वारा उन्होंने स्थूल शरीर तकका परिवर्त्तन करके वे उसी जन्ममें तीनों शरीरोंसे ब्राह्मण बन गये थे। यह बात असाधारण कर्म्मकी है। महाभारतके श्लोकोंमें जिस प्रकार कहा जा चुका है कि रंग बदलना तथा स्थूल शरीर बदलकर एक वर्णसे चार वर्णकी प्राप्ति होना यह असाधारण कर्म्मकी बात है इस लिये साधारण नियममें या वर्णव्यवस्थामें विश्वामित्रका दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता है। साधारण नियम साधारण कर्म्मके विचारसे साधारण प्रकृतिको देखकर हुआ करता है, जिससे तीनों शरीर धीरे धीरे उन्नत होकर क्रमशः उच्च वर्णकी प्राप्ति हुआ करती है। विश्वामित्र संसारमें आजतक एकही हुए हैं, इस लिये उनका दृष्टान्त सबके लिये लगाना और इसी बहानेसे वर्णव्यवस्थाको भ्रष्ट करना, पूर्ण अज्ञान और भ्रान्तिमात्र है। कहीं कहीं जो विश्वामित्रके नामसे शुद्धिकी प्रथा चली है, यह भी ऐसेही भ्रान्तिज्ञान पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि इस पर पूर्व सिद्धान्तके अनुसार विचार करने पर स्पष्ट होगा, कि विश्वामित्रजीने हजारों वर्षों तक जो स्थूल शरीरकी शुद्धिकी थी, सो एक आध होमके द्वारा वायुशुद्धि या मन्त्रके उच्चारण करनेसे नहीं हो सकती है इसको विचारवान् पुरुष अच्छी तरह समझ सकते हैं। किसीको शुद्ध करना अच्छा है, परन्तु उसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरोंका विचार रखकर तीनों शरीरोंकी शुद्धि होनी चाहिये, जिससे

उन लोगोंमें। निकृष्ट रज और वीर्यसे निकृष्ट स्थूल शरीर बना हुआ है, वह स्थूल शरीर विश्वामित्रकी तरह तपस्याके द्वारा परमाणुओं-के परिवर्त्तनसे परिवर्त्तित होकर उच्च वर्णकी तरह स्थूल शरीर बन जाय, पश्चात् सूक्ष्म और कारण शरीर भी उसी तरह हो जाय। प्रारब्ध कर्म्म, जो सूक्ष्म शरीरमें स्थित होकर स्थूल शरीरको माता पिताके रज तथा वीर्य्यके द्वारा बनाते हैं उन्हींकी पहिचानसे स्थूल शरीरके परमाणुओंकी पहिचान हो सकती है आधुनिक असम्पूर्ण सायन्ससे नहीं हो सकती है इस लिये स्थूल शरीर बदला कि नहीं इसके पहिचाननेके लिये सूक्ष्म शरीरका ज्ञान और संस्कारमें संयम करनेका ज्ञान प्राप्त करके तब तपस्याकी विधि बतानी चाहिये, विश्वामित्रके लिये ऐसा ही हुआ था, यदि ऐसा हो तो शुद्धि बन सकती है। अन्यथा छोटी जातियोंको उसी जन्ममें दूसरी गति बनानेकी चेष्टा न करके उनके अधिकार तथा योग्यतानुसार विद्या दान करना चाहिये, जिससे वे अपने कर्म्मोंको इस जन्ममें शुद्ध करके आगेके जन्ममें उच्च वर्णके हो सकें। उनको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। आजकल जो जातीय पक्षपातसे लोग घृणा तथा तिरस्कार करते हैं तथा उसी जातिके दूसरे धर्मको ग्रहण करने पर उसका आदर करते हैं, ये सब भूल और दुर्बलता है। उनके साथ उनके अधिकारके अनुसार प्रेमसे बर्तना चाहिये और उनको सत्-शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये, यही सच्ची शुद्धि है और मनुजीने भी ऐसा ही बताया है कि:—

> धर्म्मेप्सवस्तु धर्म्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः।
> मन्त्रवर्ज्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥
> यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
> तथा तथेमञ्चाऽमुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥

धर्म्मेप्सु, धर्म्मज्ञ तथा सद्वृत्तिपरायण शूद्र भी ब्राह्मणादिकोंके

अनुष्ठेय महायज्ञादि कर्म्म वैदिकमन्त्रोंको छोड़कर कर सकते हैं। उससे उनकी निन्दा न होकर प्रशंसा ही होती है। असूयाशून्य होकर इस प्रकार सत्कार्यका अनुष्ठान करनेसे इस लोकमें मान और परलोकमें स्वर्गप्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म्ममार्गमें उन्नत नीच जातिके भी मनुष्य आगामी जन्ममें स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर तीनोंसे उच्च वर्णको प्राप्त करते हैं। यही मन्वादि शास्त्रकारोंकी उदार अधिकारानुकूल कल्याणकर सम्मति है। भगवान् मनुजीने प्रसङ्गान्तरमें यह भी कहा है कि:—

जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः॥

अनार्य्या स्त्रीमें आर्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र गुणसे आर्य होते हैं और आर्य्य स्त्रीमें अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र अनार्य्य होते हैं। इसमें पहले प्रकारके पुत्र आर्य्य वीर्य्यके कारण आर्य्यका गुण प्राप्त करेंगे परन्तु आर्य्यकी जाति उनकी नहीं होगी। और दूसरे प्रकारके पुत्र जो अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न होंगे उनमें वीर्य्यका भी प्राधान्य न रहनेसे वे जाति और गुण दोनों से ही अनार्य होंगे। यही शास्त्रका सिद्धान्त है इस विचारके अनुसार अनार्य्योंको शुद्ध करके आर्य बनाना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध और अन्याय है। हाँ, यदि कोई अनार्य आर्यधर्मके महत्त्वको जानकर इसके अन्तर्भुक्त होना चाहे तो हो सकता है किन्तु चतुर्वर्णमें उसकी गिनती नहीं होगी। ऐसे ही यदि कोई आर्य्यधर्मावलम्बी जो भूलसे अन्य धर्ममें चले गये थे, पुनः आर्यधर्ममें आना चाहें, यदि उनका ऐसा कोई उत्कट दोष नहीं हुआ हो जिसका कि प्रभाव स्थूलशरीर पर भी पड़ गया हो और स्थूलशरीरको अनार्य्यभावोंसे ग्रस्त कर दिया हो, तो उनको प्रायश्चित आदि शास्त्रीय विधानोंसे शुद्ध करके पुनः चतुर्वर्णमें ले सकते हैं। अथवा कोई चतुर्वर्णसे ही कर्मद्वारा पतित होकर अवान्तर वर्ण बन गया हो

और उसका कर्म्म अब शुद्ध और उन्नत वर्ण, जिससे कि वह गिर गया था उसके सदृश हो गया हो तो उसको भी, यदि ठीक ठीक प्रमाण मिल जाय तो उसके अपने वर्णमें, शुद्ध करके ले सकते हैं। परन्तु ये सब कार्य्य बहुत ही विचार और शास्त्रीय आज्ञा तथा अनुसन्धानके साथ होने चाहिये जिससे एक वर्णके साथ दूसरा वर्ण मिलकर कहीं वर्णसंकरता न फैल जाय। आजकल स्वदेशहितैषिता और हिन्दुओंकी संख्यावृद्धिके बहानेसे कोई कोई लोग अनार्योंको शुद्धकर आर्य बनाने लग पड़े हैं और वे लोग नीच वर्णको और धर्ममें चले जानेके डरसे उच्च वर्ण बना देते हैं। आर्योंकी संख्या-वृद्धि और देशका हित हो यह सबका प्रार्थनीय विषय है, परन्तु ये सब कार्य आर्य्यत्वको स्थायी रखकर करना चाहिये। आर्योंकी भलाई और उन्नति आर्य्य रहकर ही हो सकती है,आर्य्यत्वको नष्ट कर के अनार्य बनकर नहीं हो सकती है। यही यथार्थ स्वदेशहितचिन्ता है। धर्म तथा आर्य्यत्वको छोड़कर स्वदेशहितचिन्ता वास्तविक हित-चिन्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानकृत अहितचिन्ता है। आर्य्य यदि आर्य्य ही न रहे तो उनकी उन्नति किस कामकी होगी। किन्तु इस प्रकार अनार्य्योंको आर्य्य बनाकर संख्यावृद्धि करनेसे आर्य्यत्व भ्रष्ट हो जायगा, हिन्दुजाति अहिन्दु हो जायगी। इसलिये उस प्रकारकी शुद्धि और संख्यावृद्धिका विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है। और अन्य धर्म में चले जानेके डरसे नीच वर्णको उच्च वर्ण बना देना भी इसी प्रकार शास्त्र और जातीयतासे विरुद्ध है। इससे वर्णसङ्करता-वृद्धि होकर आर्य्यजाति नष्ट हो जायगी। संख्यावृद्धि अच्छी वस्तु है परन्तु धर्मको छोड़कर संख्यावृद्धि ठीक नहीं है। आर्यजातिकी जातीयता और उन्नति धर्ममूलक होनी चाहिये, अन्यथा उन्नति कभी नहीं हो सकती है। पूर्व विज्ञानसे सिद्ध किया गया है कि एक जाति थोड़ीसी शुद्धिसे ही अन्य जाति नहीं बन सकती है,

कर्मके अच्छे होनेसे अगले जन्ममें जाकर बन सकती है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर इन नीच जातियोंको शिक्षा देनी चाहिये, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, उनको विद्या पढ़ाना चाहिये, वे दरिद्रता और लोभसे दूसरे धर्ममें जाते हैं इस लिये उनकी गरीबी हटाना चाहिये और उनके अधिकारके अनुसार उनको सत्‌शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे उन्नत तथा शिक्षित भी होंगे और भिन्न धर्मोंमें नहीं जायँगे। इस प्रकारसे धर्मकी भी रक्षा होगी और हिन्दुजातिकी संख्या नहीं घटेगी। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। संख्यावृद्धिके विषयमें सबको और भी ध्यान रखना चाहिये कि यथार्थ संख्यावृद्धि जिससे कि देश और धर्मकी उन्नति हो सकती है वह केवल जिसको तिसको शुद्ध करनेसे नहीं हो सकती है, परन्तु गर्भाधानादि संस्कारोंके साथ वीर्य्यवान् पुत्र उत्पन्न करनेसे हो सकती है। एक सिंह हजारों भेड़ोंसे उत्तम होता है। इसलिये देशकी और धर्मकी उन्नति आर्य्य सिंहसे होगी, ऐसी शुद्धि से कभी नहीं होगी। इससे और भी नालायक और भिखारियोंकी संख्या आर्य्यजातिमें भर जायगी जैसे कि आज भी भारतमें बहुत हो रहे हैं जिससे जातीय जीवनकी अवनति और धर्मकी सत्ताका नाश होगा, इसको विचारवान् पुरुषमात्र ही अनुभव कर सकते हैं। अतः इस विषयमें अधिक कहना निष्प्रयोजन है।

वर्णव्यवस्था रहनी चाहिये कि नहीं? इस विषयमें आजकल बहुत वादानुवाद चल रहा है। बहुतसे सामाजिक नेता इसको सामाजिक उन्नतिका अन्तराय समझकर उड़ा देना चाहते हैं। बहुत लोग वर्त्तमान कर्मव्यवस्थामें भावान्तर और जन्मके आदर्शकी विरुद्धता देखकर केवल इहलौकिक कर्मसे ही वर्णव्यवस्थाका होना युक्तियुक्त समझते हैं। इसलिये इन सब आवश्यकीय विषयोंपर पृथक् पृथक् विचार किया जाता है। इन सब विषयोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया जा

सकता है। यथा-(१) वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे क्या हानि और क्या लाभ है? (२) केवल कर्मानुसार वर्णव्यवस्था होनेसे क्या हानि और क्या लाभ है? (३) जन्म और कर्म दोनोंके साथ ही वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध रहनेसे क्या हानि और क्या लाभ है? अतः इन तीनों विषयोंकी पृथक् पृथक् मीमाँसा की जाती है।

(१) पहले ही कहा गया है कि संसारमें जो वस्तु विचार्य्य है उस वस्तुके अस्तित्वके साथ प्रकृतिका कोई मौलिक सम्बन्ध है या नहीं, यह पहले निश्चय करना चाहिये, क्योंकि यदि उस वस्तुका कोई मौलिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ होगा तो उसके अस्तित्वका सम्बन्ध भी प्रकृतिके अस्तित्वके साथ रहेगा और ऐसा होनेसे जब तक प्रकृति रहेगी तब तक उस वस्तुको हजारों चेष्टा करने पर भी कोई नहीं नष्ट कर सकेगा। पहले ही वर्णन किया गया है कि प्रकृति में तीनों गुणोंका होना ही चारों वर्णोंका मौलिक कारण है। तीनों गुणोंके राज्यमें जीवोंकी क्रमोन्नतिको ही चारों वर्णोंकी व्यवस्थारूप से विभक्त किया गया है; इसलिये जब प्रकृति नित्य है तो वर्णव्यवस्था भी नित्य है, इसको कोई नष्ट नहीं कर सकता। इसी कारण शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि वर्णव्यवस्था जिस जातिमें नहीं है वह जाति चिरकालस्थायी नहीं हो सकती। इसी कारण चिरकालस्थायी आर्य्यजाति वही हो सकती है कि जो वर्णव्यवस्थारूपी वैज्ञानिक दुर्गके द्वारा सुरक्षित है। केवल गुणोंके आविर्भावके तारतम्यानुसार कुछ तारतम्य हो सकता है जैसा कि समष्टिसृष्टिमें वर्णव्यवस्थाका इतिहास पहले वर्णन किया गया है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब त्रिगुणमयी प्रकृतिका अधिकार समस्त संसारमें ही व्याप्त है तो केवल आर्य्यजातिमें ही वर्णव्यवस्था क्यों देखनेमें आती है? और किसी जातिमें क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि जब प्रकृतिमें तीन गुण हैं तो केवल मनुष्योंमें ही नहीं, अधिकन्तु मनुष्यों

के नीचेके जीवोंमें भी चारों वर्णोंकी व्यवस्था अवश्य विद्यमान है और इसका वर्णन पहले वेदादिके प्रमाणोंसे किया भी गया है। इस में भेद इतना ही होगा कि सर्वत्र प्रकृति रहनेपर भी जहांपर प्रकृति का पूर्ण विकाश है वहांपर तीन गुणोंका भी पूर्ण विकाश होनेसे चारों वर्ण जन्म और कर्मके अनुसार पूर्णरूपसे प्रकट रहेंगे और जहाँपर प्रकृतिकी पूर्णता नहीं है और इसीलिये जहांपर तीनों गुणों का भी पूर्ण विकाश नहीं है, एक या दो ही गुण प्रकट हैं वहां वर्णव्यवस्थाका ठीक ठीक होना असम्भव होगा। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण है, इसको विदेशीय मैक्समूलर (Max Muller) कौल-ब्रुक (Colebrooke) आदि अनेक सर्वमान्य पण्डितोंने भी स्वीकार किया है। इसलिये यहांपर प्रकृतिराज्यमें अन्तर्दृष्टियुक्त महर्षिगणने गुणोंके अनुसार चारों वर्णोंकी व्यवस्था देखी थी और अन्य जाति तत्तद्देशोंमें प्रकृतिके अपूर्ण होनेसे जिस प्रकार मनुष्येतर जीवोंकी वर्णव्यवस्था ठीक ठीक देखनेमें नहीं आती; उसी प्रकार उन जातियोंमें भी अब तक वर्णव्यवस्था ठीक नहीं हुई है, तो भी उन जातियोंमें वर्णव्यवस्थाका अस्तित्व गौणरूपेण अवश्य है, क्यों कि अपूर्ण होनेपर भी त्रिगुणका अस्तित्व होना निश्चय ही है। यूरोपियन जातियोंमें स्पष्ट देखनेमें आता है कि उच्चकुलके, जैसे लार्ड वंशके लोग, दूसरे कुलसे पृथकता रखते हैं एवं और भी कई बातोंमें ऐसी भिन्नता पाई जाती है। विवाह आदिकी व्यवस्था भी इसी विचारसे होती है। यह सब वर्णभेदके होनेका ही कारण है। इस विषयको केवल आर्य्य महर्षिगणने ही देखा था और किसी ने नहीं देखा था, यह बात नहीं है। अगष्टकोम्टि (August Com-et) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डितने भी इस समाजविज्ञानको देखा है और पाश्चात्य सामाजिक उन्नतिके लिये इसकी आवश्यकता भी उन्होंने वर्णन की है। उन्होंने मनुष्यसमाजके आदर्शको तीन

भागोंमें विभक्त किया है। यथा-(१) याजक सम्प्रदाय, (२) शासक सम्प्रदाय और (३) कृषि-वाणिज्य-शिल्प-कर्म्मकारी साधारण प्रजा सम्प्रदाय। उन्होंने याजक सम्प्रदायको धन-संग्रह करनेका अधिकार न देकर केवल अन्य दोनोंको उपदेश देनेका अधिकार दिया है और तृतीय सम्प्रदायको पूर्वजोंका कार्य सीखनेको कहा है। इस प्रकार वर्णव्यवस्थाका क्रम बांधकर इसीके अनुकूल समाज संगठन करनेको उन्होंने पाश्चात्य जातियोंको उत्तेजित भी किया है और ऐसा न होनेसे पाश्चात्य जाति नियम और शृङ्खलाके साथ उन्नति और सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकेगी, यह भी कहा है एवं यह भी कहा है कि ऐसा न होनेसे पाश्चात्य जाति दिन ब दिन अधर्म्माचारी और अशान्तियुक्त होकर नष्ट हो जायगी। अगष्टकोम्टि की इन बातोंसे समझ सकते हैं कि वर्णव्यवस्था मुख्य या गौणरूप से सर्वत्र ही है। केवल जिस जातिमें स्थूल दृष्टि बढ़ जानेसे अन्तर्दृष्टि कम हो गई है और आधिभौतिक चेष्टा बढ़गई है उसने इसपरसे दृष्टि हटाली है। आजकल आर्य्यजातिमें भी अन्तर्दृष्टि घट जानेसे वर्णव्यवस्थाके विषयमें बहुत सन्देह फैल गये हैं। प्रकृतिके गूढ़ तत्त्वोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंपर विचार कम होते जाते हैं और आधिभौतिक धनलालसा और सुखभोगकी ओर दृष्टि बढ़ रही है, अन्यथा अधिकारी होनेपर ज्ञान सर्वत्र ही प्रकाशित हो सकता है। किन्हीं किन्हीं मनुष्योंकी यह कल्पना है कि प्राचीनकालमें वर्णव्यवस्थाका जोर नहीं था, लोग यथेच्छ रहते थे। यह बात सर्वथा मिथ्या है। महाभारतके प्रमाणोंके साथ पहले ही सिद्ध किया गया है कि सत्ययुगके प्रथम पादमें सत्त्वगुण प्रबल होनेके कारण सब ही ब्राह्मण थे। पश्चात् असाधारण कर्माधिकारके अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे चार वर्ण हो गये। वे ही चार वर्ण आजतक चल रहे हैं। प्राचीन इतिहास पर मनन करनेसे ही

इस विषयका सिद्धान्त हो सकता है। जिस समाजमें आधे ब्राह्मण और आधे क्षत्रिय विश्वामित्रको भी पूर्ण ब्राह्मण बननेके लिये हजारों वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी थी उस समाजमें वर्णव्यवस्था का कितना प्राधान्य था सो विचारशील पुरुष सोच सकते हैं। मनुजीने असवर्ण विवाहकी विधि बताने पर भी उसकी बड़ी भारी निन्दा की है क्योंकि स्मृति जब सकल अधिकारियोंके लिये ही धर्म्मशास्त्र है तो उसमें सब प्रकारकी आज्ञाएँ अवश्य मिलेंगी और उनके दोष गुण भी दिखाये जायंगे। जैसा कि मनुजीने आठ प्रकारका विवाह बतानेपर भी पैशाच और आसुर विवाहकी बड़ी निन्दा की है; उसी प्रकार उन्होंने अनुलोम और प्रतिलोमसे असवर्ण विवाहकी विधि बताकर अनुलोमकी निन्दा की है और उससे भी अधिक निन्दा प्रतिलोमकी की है एवं सवर्ण विवाहकी प्रशंसा की है। यथाः—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥
शूद्रैव भार्य्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वाचैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वाचाऽग्रजन्मनः॥

द्विजातियोंके अर्थ विवाहमें पहले सवर्णा स्त्री होनाही प्रशस्त अर्थात् धर्म्मानुकूल है परन्तु यदि कोई कामके वशीभूत होकर भोगबुद्धिसे अपनेसे नीच वर्णोंमें भी विवाह करना चाहे तो इस प्रकारसे करसक्ते हैं कि शूद्रके लिये केवल शूद्रा ही स्त्री होसक्ती है, वैश्यके लिये वैश्या और शूद्रा स्त्री होसक्ती है, क्षत्रियके लिये शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया स्त्री हो सक्ती है और ब्राह्मणके लिये चारो वर्णोंकी स्त्री होसक्ती है। इसमें असवर्ण विवाह काममूलक कहा गया है। विवाह प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और भगवान्‌के प्रति पवित्र प्रेम करनेकी शिक्षाके लिये हुआ करता है, कामके लिये नहीं।

इसलिये काममूलक विवाह यथार्थ विवाह नहीं होनेसे सर्व्वथा निन्दनीय है। परन्तु यदि कोई पुरुष ऐसा कामातुर ही हो कि अन्य वर्णसे विवाह करनेके लिये उन्मत्त होजाय तो उस उन्मादकी दशामें भी अपेक्षाकृत सृष्टिधारा और धर्म्मकी रक्षाके लिये मनुजीने असवर्ण अनुलोम विवाहकी युक्ति बताई है। अतः इसको सर्व्व-साधारणके लिये विधि नहीं समझनी चाहिये, परन्तु अधिक पाप, निरङ्कुश होकर स्त्रीसम्बन्ध और प्रतिलोम स्त्रीसम्बन्धसे रक्षा पानेके लिये विधि है ऐसाही समझना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के विवाहके द्वारा वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, जिसके लिये मनुजीने कहा है कि :—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

जिस राज्यमें वर्णदूषक वर्णसङ्कर जाति उत्पन्न होती है वह राज्य प्रजाओंके साथ शीघ्रही नाशको प्राप्त होता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है कि :—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

वर्णसङ्कर प्रजा होनेसे कुलनाशक और कुल दोनोंको ही नरक होता है। उनके पितृलोग पिण्डोदक न पानेसे पतित होते हैं। यह बात सभी लोग जानते हैं कि मनुष्योंके नीचेके जीवोंमें वर्णसङ्कर सृष्टि नहीं चलती है। अश्वतरीका गर्भ शास्त्रमें प्रसिद्ध है। गधे और घोड़ीके सम्बन्धसे अश्वतरी होने पर उसको गर्भ नहीं होता है। कदाचित् हो भी तो प्रसव होना कठिन होता है और उसकी सृष्टि नहीं चलती है। इसी प्रकार वृक्षोंमें भी है। एक वृक्ष पर कलम बांधकर दूसरा जो वृक्ष होता है उसकी सृष्टि पूर्व दशाके अनुसर नहीं चलती है। यह दृष्टान्त मनुष्योंमें घटता है। प्रायः

वर्णसङ्कर जाति नष्ट होजाती है या दूसरे वर्णमें मिलजाती है क्योंकि अप्राकृतिक सृष्टि होनेसे प्रकृतिकी धाराके साथ उसका मेल नहीं रहता है, इसलिये ऐसी सृष्टि आगे नहीं चलसक्ती है। द्वितीय कारण श्राद्धमें पुत्रको आत्माके साथ मृत पिता या माताकी आत्मा का सम्बन्ध करना पड़ता है। वह सम्बन्ध ठीक ठीक तभी बनसक्ता है जब एकही वर्णके माता पितासे पुत्र उत्पन्न हो। अन्यथा बीज एक वर्णका एवं रज और वर्णका होनेसे जो पुत्र होता है उसकी आत्माके साथ पिता या माता किसीका भी पूरा प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं रहता है, इसलिये वर्णसङ्कर प्रजा होनेसे पितरोंका पिण्डलोप होकर उनकी अधोगति होती है, जैसा कि श्रीभगवान्ने ऊपर लिखित श्लोकसे बताया है। और ऐसे पुत्रोंसे नित्य पितरोंके लिये भी तर्पण आदि कार्य्य नहीं होसक्ता है क्योंकि उसके लिये भी यह अप्राकृतिक वर्णसङ्कर प्रजा समर्थ नहीं होती है, जिसका फल यह होता है कि नित्य पितरोंके संवर्द्धनके अभावसे देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदि दुर्दशा होती है। पितरोंके साथ स्थूल संसारकी रक्षाका सम्बन्ध है इसलिये श्राद्ध तर्पणके लोपसे देशका स्वास्थ्य बिगड़कर कठिन कठिन जातीय रोग फैलते हैं, जैसा कि आजकल होरहा है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने ऊपरके श्लोकमें लिखा है कि जिस राज्यमें वर्णसङ्कर प्रजा होती है वह राज्य प्रजाओंके साथ शीघ्रही नष्ट होजाता है। इस प्रकार अप्राकृतिक वर्णसङ्करकी व्यवस्थाकी प्रतिक्रिया और जातियोंमें इतनी नहीं लगसक्ती है जितनी आर्य्यजातिमें लगेगी, क्योंकि प्रतिक्रिया प्रकृतिके उसी राज्यमें पूरी लगती है जो राज्य उन्नत हुआ है और उन्नति जिस राज्यकी जितनी होती है उसमें उतनीही प्रतिक्रिया लगती है। जहां स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही प्रकृति पूर्ण हैं वहां अप्राकृतिक व्यवस्थाकी प्रतिक्रिया तीनों ही राज्यमें लगेगी। जहां

इतनी पूर्णता नहीं हुई है वहां प्रतिक्रिया भी उतनी नहीं होगी। दृष्टान्तरूपसे समझ सक्ते हैं कि एक कुत्तेको सौ गाली देने पर भी उसके चित्तमें कोई दुःख अर्थात् प्रतिक्रिया नहीं होती है क्योंकि उसका चित्त या सूक्ष्म प्रकृति अभी उतनी उन्नत नहीं हुई है। उसको दस लाठी मारने पर स्थूल प्रकृतिमें कुछ प्रतिक्रिया होती है अर्थात् कुछ शारीरिक कष्ट उसको होता है; परन्तु किसी भद्र पुरुषको एक कठिन शब्दमात्र कहनेसे उनके चित्त पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि वे उसको जन्मभर तक नहीं भूलते हैं। ऐसाही समष्टि प्रकृति या जातीय प्रकृतिके लिये भी समझना चाहिये। और देशोंकी प्रकृति असम्पूर्ण है, वहां पर स्थूल प्रकृतिकी उन्नति अधिक और सूक्ष्म राज्यकी उन्नति कम है इसलिये वर्णव्यवस्थाका संस्कार उधर कम है या अपूर्ण है इस कारण वर्णव्यवस्था न होनेसे उनकी उतनी हानि नहीं होगी जितनी हानि आर्य्यजातिमें वर्णव्यवस्था नष्ट होने पर होगी। किसी नवीन जातिको नवीन संस्कारोंसे उन्नत करना और है तथा किसी पुरानी जातिको जो कि प्राचीन संस्कारोंसे भरी हुई है उसको उन्नत करना और है। नवीन जाति नवीन संस्कारोंसे उन्नत हो सकती है, परन्तु जिस जातिके स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही शरीरोंमें प्राचीन संस्कार रग रगमें, खूनमें, अस्थिमें, मज्जामें घुसे हुए हैं, जो उन्हीं संस्कारोंको लेकर उत्पन्न होती है, उसकी उन्नति उन्हीं संस्कारोंके आश्रयसे हो सकती है, अन्यथा उन संस्कारोंको नष्ट करके कभी नहीं हो सकती है। इसलिये जो नवीन सुधारक लोग वर्णव्यवस्था आदि आर्य्यजातीय संस्कारोंको नष्ट करके आर्य्यजातिको पाश्चात्य आदर्शके अनुसार उन्नत करना चाहते हैं वे सर्वथा भ्रान्त और प्रमादग्रस्त हैं। वर्णव्यवस्थाका संस्कार आर्य्यजातिकी रग रगमें घुसा हुआ है, यहाँकी प्रकृति पूर्ण होनेसे इसके अनुकूल है, आर्य्यजातीय जीवनके साथ वर्णव्यवस्थाका

सम्बन्ध अच्छेद्यरूपसे जकड़ गया है इसलिये आर्य्य जातिके जीते रहते वर्णव्यवस्था उड़ नहीं सकेगी। इसको कोई उड़ाने जायगा तो आर्य्यजाति ही उड़ जायगी। आर्य्य अनार्य्य हो जायँगे, हिन्दुत्व भ्रष्ट हो जायगा, इसके बदलनेमें दूसरी नवीन जाति बन जायगी। इसलिये वैसी युक्ति सर्वथा भ्रमयुक्त और अप्राकृतिक है। और अप्राकृतिक होनेसे ऐसा सुधार कभी नहीं चल सकता है। दृष्टान्तरूपसे देख सकते हैं कि इसी आर्य्यजातिमें बड़े बड़े सुधारक लोग कुछ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे, उन्होंने वर्णव्यवस्थाको केवल कर्म्मानुसार मानकर अथवा उड़ाकर आर्य्यजातिमें एकता उत्पन्न करनेकी इच्छा तथा चेष्टा की थी। उनका लक्ष्य एकता करनेकी ओर होनेसे, लक्ष्य अच्छा ही था परन्तु उस लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये वर्णव्यवस्थाको उड़ा देनेकी युक्ति भ्रममूलक थी। उन्होंने आर्यजातिके मौलिकत्व पर ध्यान न देकर ही ऐसा किया था, इसलिये उसका फल भी विपरीत हुआ; अर्थात् उसमें एकताके बदले घोर अनैक्य और झगड़ा फैल गया और उनके मतके कुछ लोगोंके पक्षपात करनेसे उनका और एक नवीन सम्प्रदाय बन गया जिसके साथ सदा ही आर्य्यजातिकी लड़ाई चल पड़ी है। यही सब कुफल वर्णव्यवस्था नाश करनेकी चेष्टासे होने लग गया है। जब जब कोई ऐसा सोचेगा कि वर्णव्यवस्थाके नष्ट करनेपर देशमें एकता होगी तब तब ऐसा ही साम्प्रदायिक विरोध फैल जायगा। वे स्वयं ही पृथक् हो जायँगे और अनन्त झगड़ोंकी सृष्टि करेंगे। इसलिये वर्ण-व्यवस्थाको स्थायी रखकर ही आर्य्यजातिकी उन्नतिका उपाय सोचना चाहिये। अवश्य आजकल जो वर्णव्यवस्था और तदनुसार अन्धपरम्परासे खान पान तथा विवाहका आचार चल पड़ा है उसमें बहुत दोष हैं। जब संसारकी स्थिति प्रकृतिके त्रिगुण-वैषम्यसे है तो जैसाकि पहले वर्णन किया गया है, सबका अधिकार समान नहीं

हो सक्ता है। और जब ऐसा है तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरके विचारसे भिन्न भिन्न शक्तिसम्पन्न मनुष्य भी होंगे। जिस मनुष्यका स्थूल शरीर प्रकृतिकी निम्न कक्षाका है, उसमें बिजलीकी शक्ति किसी उच्च कक्षाकी प्रकृतिवाले मनुष्यसे हीन होगी, इसलिये यदि उच्च कक्षाकी प्रकृतिके स्थूल शरीरवाले मनुष्यके साथ उसका भोजन या और किसी प्रकारका स्पर्श हो तो उसमें उच्च कक्षाकी प्रकृतिके स्थूल शरीरवाले मनुष्यकी हानि हो सक्ती है। इसलिये स्पर्शास्पर्शका विज्ञान सत्य है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्यकी एक इन्द्रियमें हानि होने पर अन्य इन्द्रियकी शक्ति बढ़जाती है यथा— अन्ध मनुष्यमें स्पर्शशक्ति बहुत बढ़ जाती है, उसी प्रकार वर्त्तमान समयमें आर्य्यजातिकी आध्यात्मिक शक्ति घट जानेसे उसकी समस्त प्रतिक्रिया आधिभौतिकमें आ गिरी है, जिसका फल यह हुआ है कि वर्णकी पूर्णताके लिये आवश्यकीय और सब गुणोंको भूलकर केवल लोगोंने खान पानमें और छूत छातमें ही वर्णव्यवस्थाको डाल दिया है, यह बात अवश्यही दोषजनक है। जब गुणोंके अनुसार मनुष्यकी अवस्था ४ चार हैं और वे ही चार वर्ण हैं तो इन चारोंमें खान पान और विवाहका विचार होने पर भी एकही वर्णमें असङ्ख्य अवान्तर वर्णव्यवस्था केवल देशाचारके द्वारा उत्पन्न होकर अशान्ति और असुविधा नहीं होनी चाहिये। आजकल ब्राह्मणोंमें ही कितने भेद पड़ गये हैं जिससे विवाह और खान पानमें अनन्त झगड़े खड़े होगये हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। इसके लिये कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है। अवश्य, यथार्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि है कि नहीं इसका विचार होना चाहिये; परन्तु यथार्थ होने पर भी "मैं कान्यकुब्ज हूं, वह नहीं है, इस लिये खान पान नहीं होसक्ता, और कोई कान्यकुब्ज यदि कदाचारी हो तो भी उसके साथ मेरा खान पान आदि है, एवं किसी गौड़के सदाचारी होने पर भी उसके साथ

मेरा खान पान नहीं है" इस प्रकार वैज्ञानिक भित्तिशून्य केवल देशाचारमूलक वर्णव्यवस्था ठीक नहीं है। इससे भारतकी हानि होगी और हो भी रही है। इसके सुधारके विषयमें सामाजिक नेताओंको दृष्टि डालनी चाहिये।

वर्णव्यवस्थाके विषयमें सुधारक लोगोंकी और आपत्ति यह है कि इसके रहनेसे कोई जाति उन्नति नहीं करने पाती। इसने विद्योन्नतिके रास्तेमें भी बाधा डाल दी है। परस्परमें खान पान और विवाह न होनेसे एकता नहीं होगी जिससे आर्य्यजाति दिन ब दिन गिरती जाती है और पारस्परिक विद्वेष बढ़ता जाता है। इस लिये साम्यवाद प्रचारित होकर वर्णव्यवस्था नष्ट होनी चाहिये, जैसी कि यूरोपमें है। इसीसे भारतकी उन्नति होगी, जैसी कि यूरोपकी उन्नति वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे हुई है। अब नीचे इन सब शङ्काओंका समाधान किया जाता है।

यदि वर्णव्यवस्था किसीकी कपोलकल्पित अप्राकृतिक वस्तु होती तो सुधारक लोगोंका इस प्रकार सन्देह सत्य होता, परन्तु जब गुणोंके अर्थात् प्रकृतिके अनुसार मनुष्योंके तीनों शरीरोंकी उन्नतिका क्रमही वर्णव्यवस्था है तो इससे किसीकी उन्नतिमें हानि कैसे हो सकती है? वर्णधर्म्म, प्रत्येक वर्णको तीनों शरीरोंकी उन्नतिके लिये उतनाही कर्तव्य बताता है जितना उसके संस्कारके अनुकूल हो, क्योंकि ऐसा होनेसे उन्नतिमें कोई बाधा नहीं होगी, अन्यथा संस्कारसे विरुद्ध कार्य्य करना, साधारण मनुष्यसाध्य नहीं है। उसमें अनधिकार चर्चासे अवनति भी हो सकती है और कर्म्म करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता रहनेसे असाधारण पुरुषार्थ द्वारा तीनों शरीरोंको बदलकर एकही जन्ममें उच्च वर्ण भी प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विश्वामित्र आदिने किया था, जिसको वर्णव्यवस्था असाधारण नियम मानकर स्वीकार करती है। इस प्रकार जब दोनों

हो सिद्धान्तोंको वर्णव्यवस्था स्वीकार करती है तब उसपर यह लाञ्छन लगाना कि वर्णव्यवस्था उन्नतिकी बाधक है, यह सर्वथा मिथ्या है। अवश्य यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राकृतिक स्थूल भागको उड़ाकर, जन्मको न मानकर, स्थूल शरीरको उन्नत न करके केवल कथञ्चित् सूक्ष्म शरीरकी उन्नतिसे ही अपनेको पूर्ण माननेकी जो भ्रमपूर्ण कल्पना है, वर्णव्यवस्था उसकी विरोधिनी है, क्योंकि यह सिद्धान्त असत्य, अशास्त्रीय और विज्ञानविरुद्ध है। इस विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है अतः सुधारकोंको ऐसे भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये।

द्वितीय आपत्ति सुधारकोंकी यह है कि वर्णव्यवस्थाने सबको सब प्रकारकी शिक्षाके अधिकारसे वञ्चित कर रक्खा है। सुधारकों की यह धारणा भ्रमयुक्त है। मनुष्य प्रकृतिराज्यमें विविध योनियों के भीतरसे धीरे धीरे उन्नतिको प्राप्त करता है। इसमें मनुष्यके स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही शरीर क्रमशः उन्नत होते हैं। उन तीनों की पूर्णोन्नति होनेसे ही ब्रह्मज्ञानकी स्फूर्त्ति होती है। यही उन्नति का नियम है और इसीके अनुसार ही शिक्षा होनी चाहिये। क्योंकि शिक्षाके द्वारा यथार्थ लाभ और उन्नति तभी हो सकती है, जब शिक्षा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरके अनुकूल हो; अर्थात् शरीर, मन और बुद्धि जिस शिक्षाको ग्रहण कर सके। जो शरीर, मन या बुद्धि जितनी उन्नत होती है शिक्षा भी उसके अनुसार होनी चाहिये। दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि जिस मनुष्यके लाख जन्म हो चुके हैं और उसमें क्रमोन्नति हुई है, उसके स्थूल सूक्ष्म शरीरके लिये जो शिक्षा उपयुक्त तथा कल्याणप्रद होगी, वही शिक्षा जिस मनुष्यके अभी हजार ही जन्म हुए हैं, उसके लिये उपयुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि लाख जन्मों तक बराबर तीनों शरीरोंकी क्रमोन्नति हजार जन्मोंकी अपेक्षा बहुत अधिक है। इसलिये यदि हजार जन्मवालेको लाख

जन्मवालेकी शिक्षा दी जाय तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर अनुकूल अर्थात् उस शिक्षाको ग्रहण करने योग्य न होनेसे उस शिक्षाके द्वारा उन्नतिके बदले अवनति ही होगी, क्योंकि प्रकृतिके विरुद्ध वस्तु सदा ही अहितकर होती हैं और प्रकृतिके अनुकूल वस्तु सदा ही कल्याणकर होती है। वर्णव्यवस्था जब त्रिगुणानुसार चार प्रकृति की ही व्यवस्था है तो जिस प्रकृतिमें जो शिक्षा अनुकूल होगी, वर्ण-व्यवस्था उसीको बतावेगी। वर्णधर्म शूद्र वैश्य आदिके लिये जो शिक्षा बताता है वह उनके स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरकी योग्यताके विचारसे ही बताता है। इसलिये वर्णधर्मने विद्योन्नति को रोका नहीं, परन्तु अधिकारानुसार उसको नियमित कर दिया है, जो कि प्रत्येक वर्णके लिये कल्याणप्रद ही है, अकल्याणकर नहीं है। और असाधारण नियममें तो सबका ही सभी वर्णोंके कार्य्य करनेमें अधिकार है। इसलिये सुधारक लोगोंका ऐसा विचार भ्रमपूर्ण है।

तीसरी आपत्ति एकता और साम्यवाद विषयकी है। इसमें भी सुधारक लोग भ्रममें हैं, क्योंकि जब तीन गुणोंके वैषम्यसे ही संसार बना है तो इसमें साम्य होना प्रकृति-विरुद्ध और कथनमात्र है। भले ही कोई जाति या सम्प्रदाय साम्यवादका डिण्डिम बजाया करे, परन्तु यथार्थ विचार करनेसे ऊपरका विज्ञान ही सत्य प्रतीत होगा। यूरोपमें जो एकता है वह जातिभेदके न रहनेसे ही है ऐसा विचार ठीक नहीं है। अगष्ट कोम्टिका उपदेश इसमें साक्षी है। उन्होंने प्रकृतिके तारतम्यको समझकर ही वर्णभेदका उपदेश किया था। जब तीन गुणोंके राज्यमेंसे होकर जीवको धीरे धीरे ऊपरको चढ़ना पड़ता है तो वैषम्य अवश्य रहेगा; इसमें अधिकार-भेद भी अनिवार्य्य है। यूरोपमें गुणानुसार या और बातोंमें तार-तम्य रहने पर भी जातीयभाव पूर्ण होनेसे जाति या देशके नामसे

सभी एक हो जाते हैं। यहां भी ऐसा होनेको वर्णधर्म्मने मना नहीं किया है, ऐसा होना चाहिये। यदि खान पान आदि वर्ण-धर्म्मके अङ्गोंको उड़ाकर कोई एकता उत्पन्न करना चाहे तो नहीं कर सकता है, क्योंकि भारतकी प्रकृति पूर्ण होनेसे इसके साथ वर्णधर्म्मका यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध है और अपूर्ण प्रकृतिवाले देशोंमें ऐसा नहीं है। इसलिये जब तक हिन्दुजाति जीवित है तब तक वर्णधर्म्म नष्ट नहीं हो सकता है। ऐसा करनेसे और भी विद्वेष बढ़कर बहुत सम्प्रदाय उत्पन्न हो जायँगे जिससे और भी अनैक्य फैलेगा; क्योंकि ऐसा करना प्रकृति-विरुद्ध कार्य्य है। अतः वर्णधर्म्मानुसार खान पान पृथक् रहने पर भी जाति, देश तथा धर्म्मके कार्य्यमें एकता करनी होगी। यही भारतके लिये योग्य है। मिथ्या साम्यवादका जो विषमय फल है उसको आज यूरोप अनुभव कर रहा है। और आर्य्य महर्षियोंके विचार तथा दूर-दर्शिताकी प्रशंसा कर रहा है। यूरोप तथा अमेरिकामें जो जीवन-संग्राम और अशान्ति इतनी बढ़ी हुई है उसके मूलमें वही मिथ्या साम्यवाद है। यह बात सभी वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि वास-नासे कर्म्म और कर्म्मसे वासना उत्पन्न होती है। वासनाके द्वारा मनुष्यके चित्तमें अशान्ति उत्पन्न होती है। वासनाका नाश ही शान्तिका कारण है। जिस जीवनमें वासनाका शेष नहीं है उसमें शान्ति भी नहीं है। इसलिये कर्म्मकी भी सीमा होनी चाहिये। अवश्य, वासनाका पूर्ण अवसान ब्रह्मपदमें जाकर होता है, तथापि अधिकार-विचारसे प्रत्येक जीवनमें भी कर्म्मकी सीमाके साथ वासनाकी भी सीमा रहती है। कर्म्म पूर्वसंस्कारके अनुसार होता है इसीसे जीवकी संसारमें उन्नति होती है। उन्नति बीज-वृक्षन्यायसे होती है; अर्थात् जैसा बीजमें वृक्ष-उत्पन्नकारी समस्त उपादान रहता है, केवल वायु, जल, धूप आदिसे बीज ही वृक्षरूपमें

परिणत होता है, उसमें नवीनता कुछ नहीं होती; उसी प्रकार पूर्व्व कर्म्मके अनुसार जिस प्रारब्धसंस्काररूपी बीजने शरीर उत्पन्न किया है उसी संस्कारके अनुसार ही इस जन्ममें कार्य्य होता है। अवश्य, मनुष्य स्वतन्त्र होनेसे अपने कर्म्मोंपरसे उन्नति कर सक्ता है, परन्तु जिस प्रकार वटबीजके साथ वायु, जल, धूप आदि ठीक ठीक होनेसे वट-बीज विशेष उत्तम वट-वृक्ष होने पर भी वट-वृक्ष ही बनेगा और किसी जातिका वृक्ष नहीं बन सक्ता है; उसी प्रकार मनुष्य स्वतन्त्रतासे कार्य्य करने पर भी अपने संस्कारोंपर ही उन्नति करेगा, उनको बदल कर कुछसे कुछ नहीं कर सकेगा। यह सब साधारण नियमकी बात है। नियम साधारण प्रकृतिके अनुसार ही होता है, असाधारण प्रकृतिके अनुसार नहीं होता। इसलिये पूर्व्व संस्कारों पर कितनी उन्नति हो सक्ती है उसको जान कर पुरुषार्थकी सीमा हो, तो वासना उसीके अनुसार सीमा-बद्ध रहनेसे जीवनमें शान्ति रहती है, अन्यथा जीवनसंग्राम बहुत बढ़कर जीवनको अशान्तिके समुद्रमें डाल देता है। अवश्य, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकारसे पुरुषार्थकी सीमा होनेसे आलस्य बढ़ेगा और उन्नतिका मार्ग बन्द होगा क्योंकि उन्नति उतनी ही होसक्ती है कि जितनी संस्कारोंके अनुकूल हो। वट-बीजसे वट-वृक्ष ही होता है, अधिकसे अधिक पूर्णोन्नत और विशाल वट-वृक्ष बन जायगा, परन्तु वट-बीजसे अश्वत्थ या विल्व वृक्ष नहीं बनेगा। आर्य्य महर्षियोंने जीवोंके प्राक्तन संस्कारोंपर संयम करके ऐसी ही पुरुषार्थकी सीमा बाँध दी है जिससे प्रकृतिके अनुसार उन्नति पूर्ण होसक्ती है और वासनाकी सीमा रहनेसे शान्ति रहती है। जिसमें ब्राह्मणका संस्कार है वह उसीको उन्नत करके पूर्ण ब्राह्मण बनसक्ता है, उसको क्षत्रियका संस्कार कहींसे खींचनेकी आवश्यकता नहीं है और न उसमें पूर्णरूपसे वह संस्कार

आसका है, इसलिये ब्राह्मणपन तक ही उसके संस्कार या वासना का अन्त है, उसमें उसीसे शान्ति रहती है। इस प्रकार जिसमें सत्त्वरजःप्रकृति होनेसे क्षत्रिय होनेका संस्कार है वह उसी को पूर्ण उन्नत करके पूर्ण क्षत्रिय बनसका है, उसको ब्राह्मण वैश्य या शूद्रके संस्कारोंके लिये हाहाकर मचानेका प्रयोजन नहीं है। पूर्ण क्षत्रिय पर्य्यन्त ही उसकी वासनाकी पूर्ति है इसलिये वहां उसकी शान्ति है। इस प्रकार प्रकृतिके अनुसार तथा संस्कारोंके अनुसार वर्णभेद और कर्त्तव्यभेद होनेसे हरएक मनुष्यको अपने अपने वर्णमें पूर्णत्व लाभ करनेका अवसर भी प्रकृत्यनुसार मिलता है। भारतवर्षमें पहले ऐसाही था जिससे जातिभेद होते हुए भी यहां पर सभी प्रकारकी उन्नति और एकता थी। अब वर्णधर्म्मकी भ्रष्टता होनेसे सब खिचड़ी बनगई है, जिससे न तो ब्राह्मण ही पूर्ण मिलते हैं और न और कोई वर्ण पूरे देखनेमें आते हैं। एक दूसरे वर्णके कार्य्यपर हस्तक्षेप करके अनधिकार-चर्चाके कारण न इधरके और न उधरके "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो रहे हैं। आज इसीलिये ब्राह्मणोंकी वह तपस्या नहीं है, क्षत्रियोंकी वह वीरता नहीं है, वैश्योंके शिल्प और वाणिज्यके प्रभावसे भारत धनधान्य-पूर्ण नहीं होता है एवं शूद्रोंकी सेवासे सुफल नहीं फलता है। भारतकी उन्नति होगी तो इसी प्रकारसे होगी अन्यथा उन्नति कभी नहीं हो सकती है। इसी प्राकृतिक विज्ञानके सिद्धान्त पर ही महर्षियोंने प्रत्येक वर्णके लिये पुरुषार्थका विभाग (Division of labour) कर दिया है जिससे जातीय जीवनकी उन्नतिके लिये ज्ञान, बल, धन और दक्षता, सभी बातोंकी पूर्णता और प्रकृत्यनुसार पुरुषार्थकी पराकाष्ठा होकर जाति दिन ब दिन शान्ति तथा उन्नतिके शिखर पर पहुंचे। यही प्राचीन आर्य्यजातिकी वर्णव्यवस्थाका विज्ञान है। जो लोग केवल एकसाथ भोजनमें ही जातिकी

एकता और उन्नति समझते हैं और इसी कारण वर्णव्यवस्थाकी निन्द-नीय समझते हैं उनको स्मरण रहना चाहिये कि प्राचीन कालमें वर्णव्यवस्था पूर्णरीत्या रहने पर भी आर्य्यजातिने सभी प्रकारकी उन्नति की थी और इसमें एकता भाव भी पूरा पूरा था। एकता केवल खान पानके एक होनेसे ही नहीं होती है, यदि ऐसा होता तो ब्राह्मण ब्राह्मणमें या क्षत्रिय क्षत्रियमें अर्थात् जिनके खान पान में अब भी एकता है उनकी आपसमें लड़ाई नहीं होती और उनकी एकतासे भारतका कल्याण होजाता। यदि एक साथ खाने पीनेसे ही एकता होती तो एकसाथ खानेवाली यूरोपकी जातियोंमें सर्वनाशकारी महासंग्राम नहीं होता और एकसाथ खानेवाले बिल्ली कुत्ते जैसे लड़ नहीं मरते। प्रकृतिसे विरुद्ध किसी उपायके द्वारा एकता उत्पन्न करनेका प्रयत्न करनेसे कभी भी एकता नहीं होगी। एकता हृदयकी वस्तु है, इसलिये जब आर्य्यजाति अपने देश और धर्मकी उन्नतिके लिये एकताकी क्या महिमा और आवश्यकता है इसको समझेगी तभी एकता होगी। उस समय खान पानकी पृथकता उसको रोक नहीं सकेगी और न खान पानका कुछभी प्रभाव जाती-यतापर धक्का देसक्ता है। आर्य्यजाति बहुत वर्षोंसे पराधीन होनेके कारण अपनी जातीयताको भूल गई है और इसीसे ही वह एकता की महिमाको भी कुछ नहीं समझती है। इससे यही सिद्ध हुआ कि वर्णव्यवस्थाका नष्ट करना ही एकताका कारण नहीं होसक्ता है, बल्कि इससे हानि है, क्योंकि पूर्व्व सिद्धान्तके अनुसार संसार में लघुशक्ति तथा गुरुशक्तिका होना प्राकृतिक होनेसे गुरुशक्तिके साथ लघुशक्तिका मेल या एकता लघु-गुरु-बुद्धिसे ही हो सक्ती है, खान पानके बराबर करनेसे नहीं हो सक्ती है; इसीसे गुरुशक्ति-पर श्रद्धा, भक्ति और उसमें नेतृत्वशक्ति स्थायी रह सक्ती है। वर्ण-व्यवस्थाके नष्ट होनेसे मिथ्या साम्यवाद प्रचारित होकर गुरु

लघुशक्तिका विचार नष्ट हो जायगा, गुरुशक्तिकी प्रतिष्ठा और उसमें श्रद्धा भक्ति नष्ट हो जायगी, जिसके फलसे संसारमें अत्यन्त विशृङ्खलता, निरङ्कुशता तथा अशान्ति फैल जायगी, कोई किसीको नहीं मानेगा, भृत्य प्रभुको नहीं मानेगा, पुत्र पिताको नहीं मानेगा, शिष्य गुरुको नहीं मानेगा, इस प्रकार सभी नष्ट भ्रष्ट होकर संसारमें घोर अत्याचार फैल जायगा इसमें सन्देह नहीं है। फ्रान्स देशमें इसी मिथ्या साम्यवादके फलसे घोर राष्ट्रविप्लव कई बार हुआ था और उनको अन्तमें इस साम्यवादको छोड़कर नैपोलीयनकी शक्तिको प्रधान मानना पड़ा था एवं इसीसे देशमें कुछ दिनों तक शान्ति रही थी। इसी प्रकारके उदाहरण और देशोंके इतिहासोंमें भी देख सक्ते हैं। जो लोग ऐसा वीचार करते हैं की वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे परस्परमें प्रीति बढ़ेगी, उनका विचार सम्पूर्ण भ्रमयुक्त है, क्योंकि जब प्रत्येक मनुष्यकी उन्नति संस्कारके अनुसार ही होती है तो संस्कारके पृथक् पृथक् होनेसे उन्नतीमें भी तारतम्य होता है। स्कूल और कालेजोंमें प्रायः देखा जाता है कि कोई लड़का दिनभर परिश्रम करके भी कुछ नहीं कर सक्ता है और किसीकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण होती है कि सामान्य परिश्रमसे ही कालेजमें प्रथम श्रेणीमें गिना जाता है। संसारमें भी ऐसा ही देखनेमें आता है किसीको किसी विभागमें सामान्य परिश्रमसे ही विशेष उन्नति तथा अर्थ-प्राप्ति होती है और किसीकी विशेष परिश्रमसे भी सामान्य उन्नतितक नहीं होती है। यह सब पूर्व्वसंस्कारका ही कारण है। लिखा भी है कि:—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्माऽर्जितं धनम्।
पूर्व्वजन्माऽर्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्व्वजन्मार्ज्जित विद्या, धन और पुण्य शीघ्र फलको देता है। इसलिये संस्कारके अनुसार उन्नतिमें प्रभेद अवश्य रहेगा। इसीके अनु-

सार वर्णव्यवस्थाकी विधि निर्देश की गई है; अर्थात् पूर्व संस्कारके अनुसार इस जन्मके पुरुषार्थमें कितनी उन्नति साधारण रीतिसे हो सक्ती है उसीको देखकर महर्षियोंने पृत्येक जातिके लिये पृथक् पृथक् कर्म्म निर्देश किये हैं। वर्णव्यवस्थाके नष्ट होनेसे कर्म्मकी पृथकता भी नष्ट होगी, जिससे सामान्य संस्कारवाला मनुष्य भी हठसे उच्च संस्कारवालेके सदृश कर्म्म करके उसका पृतिद्वन्द्वी बननेका पृयत्न करेगा, परन्तु उसका संस्कार दुर्बल होनेसे उससे पृति-द्वन्द्विता ठीक नहीं चलेगी क्योंकि अच्छे पूर्व्वसंस्कारवाले शीघ्र उन्नति करेंगे, जिससे फल यह होगा कि छोटे अधिकारके मनुष्य बड़े से बराबरी करनेमें असमर्थ होकर उनसे द्वेष करने लगेंगे, पृेमके बदले परस्परमें घोर ईर्षा फैलजायगी, इसी ईर्षाबुद्धिसे लोग गुणीका भी सम्मान करना छोड़देंगे, जातिमें दोषदर्शिता बढ़जायगी, गुणी पुरुषको किसी तरहसे गिरानेकी और उसकी महिमा तथा पृतिष्ठा नष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे और गुणी पुरुषपर ऐसा अत्याचार करनेसे देशमें गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं होंगे, क्योंकि यह अकाट्य सिद्धान्त है कि जिस देशमें गुणका आदर नहीं होता है वहां गुणिगण कम उत्पन्न होते हैं और गुणी नेता उत्पन्न नहीं होते। येही सब परिणाम आर्य्य-जातिमें वर्णव्यवस्था नष्ट होनेसे अवश्य होंगे। यही सब परिणाम आज कल आर्य्यजातिमें पृकट हुए हैं। केवल जातिमें ही नहीं अधि-कन्तु वर्णव्यवस्थाके नष्ट होनेसे घर घरमें इस पृकारकी अशान्ति फैलेगी क्योंकि शान्ति समान पृकृतिमें ही सम्भव होती है। जिस स्त्रीकी स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीरोंकी पृकृति पतिके तीनों शरीरोंकी पृकृतिके साथ मिलीहुई होती है उसीसे प्रेम पूर्ण होसक्ता है और इसी पृकारके विवाहके फलसे संसार शान्तिमय तथा पुत्र कन्या भी अनुकूल उत्पन्न होसक्ते हैं। यदि पतिकी पृकृति कुछ हो और स्त्रीकी पृकृति और कुछ हो तो पुत्र भी पृतिकूल पृकृतिके अवश्य

होते हैं, जिससे संसारमें सर्व्वदा अशान्ति और अप्रेम बना रहता है। वर्णव्यवस्थाके नष्ट होनेसे प्रकृतिका विचार भी नष्ट होजायगा, जिससे योग्य पिताके भी अयोग्य पुत्र उत्पन्न होंगे और धार्म्मिक पतिकी भी अधार्मिक स्त्री होगी, जिससे संसार घोर श्मशानरूपमें परिणत होगा। यही सब वर्णव्यवस्थाके नाशका जातिध्वंसकर फल है, जिसको विचारवान् पुरुष सोचकर देख सक्ते हैं और एक एक विषयको मिला सक्ते हैं।

(२) दूसरी बात विचार करनेकी यह है कि केवल कर्म्मसे वर्णव्यवस्था मानी जाय तो हानि या लाभ क्या है? इससे लोग यह बात सोचते हैं कि केवल इसी जन्मके कर्म्मकी उन्नतिके अनुसार उच्च नीच वर्ण माना जाय तो सभी मनुष्योंके चित्तमें उत्तम कर्म्म करनेकी इच्छा होगी, जिससे जाति तथा धर्म्मकी उन्नति होगी। कर्म्मको ऊँचा बनाकर जाति और धर्म्मकी उन्नतिकी कल्पना अच्छी है परन्तु थोड़े विचारसे ही सिद्धान्त होगा कि केवल कर्म्मसे जाति माननेपर ठीक ऐसी ही दुर्दशा होगी जैसी कि वर्णव्यवस्थाके नष्ट होनेसे दुर्दशा पहले वर्णन की गई है, अर्थात् जन्मको छोड़ केवल कर्म्मसे जाति मानना और वर्णधर्म्मको उड़ाना दोनों एक ही बात है। इसका कारण आगे दिखाया जाता है।

प्रकृति त्रिगुणमयी होनेसे कर्म्मभी तीन गुणके होते हैं। जिस प्रारब्धसंस्कारसे मनुष्यका जन्म होता है उसमें भी इसी लिये सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन प्रकारके कर्म्मसंस्कार रहते हैं। और और युगोंके देश काल और प्रकारके होनेसे कर्म्ममें प्रायः एक ही गुण प्रबल होता था क्योंकि उस समय धर्म्मकी गम्भीरता थी जिससे लोग एक ही धर्म्माङ्गको निभाया करते थे। अब तमःप्रधान कलियुगमें तमोगुणका प्रभाव देशकालपर बहुत पड़ा हुआ है जिससे प्रारब्धसंस्कारोंमें मिश्र कर्म्म होते हैं, अर्थात्

सात्त्विक, राजसिक, तामसिक ये तीनही प्रकारके संस्कार होते हैं। महाभारतके शांतिपर्वमें लिखा है किः—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाऽशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते॥

बाल्य, यौवन या वार्द्धक्य, जिस जिस अवस्थामें जो जो पाप पुण्य कर्म्म किया जाय उस उस कर्म्मका फल उसी उसी अवस्थामें मिलता है। इस लिये भिन्न भिन्न अवस्थामें भिन्न भिन्न पाप पुण्य कर्म्मोंके भोग होनेसे कोई नहीं कह सकता है कि किसका कर्म्म कब किस प्रकारका होगा। जब सात्त्विक संस्कारका उदय होगा तो मनुष्य सात्त्विक कर्म्म करेंगे, जब रजोमिश्रित सात्त्विक संस्कारका उदय होगा तब वैसाही कर्म्म करेंगे, जब रजोमिश्रित तामसिक संस्कारका उदय होगा तब वैसाही कर्म्म करेंगे और तमोगुणी संस्कारके उदय होनेसे तामसिक कर्म्म करेंगे। कलियुगमें ऐसा अवस्थाका परिवर्तन प्रायः होता है। इसमें महान् सात्त्विक पुरुष भी कुछ दिनोंके बाद प्रकृतिके बदलनेसे राजसिक या तामसिक देखनेमें आते हैं। तामसिक लोग भी कभी कभी सात्त्विक कर्म्म कर डालते हैं और परम साधु भी भूलसे खराब कर्म्म कर डालते हैं। सुचरित्र पुरुषभी कुछ दिनोंके बाद कुचरित्र देखनेमें आते हैं और महापापी भी अवस्थाके परिवर्त्तनसे महासाधु बन जाते हैं। एक मनुष्यके जीवनमें तीन चार प्रकारकी दशा भी दिखाई देने लगती है। कभी सात्त्विक, कभी रजोमिश्रित सात्त्विक कभी तो तमोमिश्रित राजसिक और कभी राजसिक और कभी तामसिक आदि अनेक दशाएँ मनुष्यके एकही जन्ममें होती हैं। दशाका परिवर्तन पूर्व्व संस्कारोंमें त्रिगुणके तारतम्यानुसार होता है। जिस समय जिस गुणमय संस्कारकी भोगदशा आती है उस समय वैसी प्रकृति बन जाती है यही प्रारब्ध संस्कारोंके भोगोंके कर्मानुसार प्रकृतिपरिवर्तनक।

रहस्य है। मनुष्य स्वतन्त्र होनेसे अवश्य दशाको कुछ बदल सकता है तो भी जो कुछ बदल करेगा उसमें भी पूर्व्व संस्कारोंके प्रबल रहनेसे संस्कारोंके अनुसार ही बदल होगा, जिससे कुछ परिवर्तन होनेपर भी साधारण अवस्थामें पूरा परिवर्तन कभी नहीं हो सकेगा। और यदि पूर्व्व संस्कारोंको माना भी न जाय एवं देश काल और सङ्गका ही प्रभाव सोचा जाय तो भी प्रकृतिके त्रिगुणमयी होनेसे और देश काल तथा सङ्ग विभिन्न प्रकारके होनेसे मनुष्यकी प्रकृति जन्मसे मरण पर्यन्त एक सी कभी नहीं रह सकती है, बदल अवश्य होगा और तदनुसार कर्म्मभी जीवनकी सब दशामें एकसे नहीं होंगे। अतः यदि कर्म्मके अनुसार ही जाति हो तो एक मनुष्य एकही जन्ममें बीस बार बीस प्रकारकी जातिका बन सकता है क्योंकि कर्म्मके परिवर्तनका ठिकाना ही क्या है। आज तामसिक कर्म्म करते ही शूद्र हो गया, कल देश-उद्धारके जोशमें आकर क्षत्रिय बन गया, परसों थोड़ा सा ध्यान तथा अध्ययन अध्यापन करतेही ब्राह्मण बनने लग पड़ा, पुनः कुछ दिन बाद अर्थक्लेश होनेसे यदि कुछ व्यापारका कार्य्य करे तो उसी समय वैश्य बन जायगा क्योंकि मनुजीने आपद्धर्म्ममें ऐसीही आज्ञा की है। इसी प्रकार पुनः कर्म्मोंके बदलनेसे कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी कुछ कभी कुछ बन सकता है। केवल इतनाही नहीं इस प्रकार कर्म्मके अनुसार जाति होनेसे प्रत्येक गृहस्थमें कितने वर्ण बन जायँगे, इसको विचारवान् पुरुष सोच सके हैं। यथा—किसी कर्म्मानुसार बने हुए ब्राह्मणने एक कर्म्मानुसार बनी हुई ब्राह्मण-कन्यासे विवाह किया, परन्तु कर्म्मकी गति तो भगवान् ही जानते हैं, यदि ऐसा ही जाय कि कुछ दिनोंके बाद उस ब्राह्मणके कर्म्म या तो प्रारब्धके विपाकसे या कुसङ्गसे या कालप्रभाव आदिसे बिगड़कर शूद्र क्षत्रिय या वैश्यवत् हो जायँ, तो उस समय उस ब्राह्मणीको चाहिये कि अपने पतिको छोड़कर और किसी कर्म्मानुसार बने

हुए ब्राह्मण पतिसे विवाह करे और पहिले पतिसे अलग हो जाय; क्योंकि सवर्णमें विवाह करना मनुजीने लिखा है । पुनः क्या ठिकाना है कि वही दूसरा पति कुछ दिनोंके बाद कर्म्म बिगड़नेसे दूसरे वर्णका नहीं हो जायगा । इस प्रकार कितने पति एक एक स्त्रीके होंगे सो विचार कर सकते हैं । इससे गृहस्थाश्रमकी क्या दुर्दशा होगी और उसमें कितनी अशान्ति अत्याचार और लड़ाई फैलेगी एवं सतीधर्म्मके मूलमें किस प्रकार कुठाराघात होगा इसको सामान्य बुद्धिमान् भी विचार कर सकते हैं । इन सब कारणोंसे तथा ग्रंथान्तरमें * वर्णित अन्यान्य कारणोंसे कर्म्मानुसार वर्णधर्मको मानना युक्तिविरुद्ध है । अतः यही सिद्ध हुआ कि जब वर्णधर्मके न रहनेसे भी आर्य्यजातिकी हानि है और केवल कर्म्मानुसार वर्ण माननेसे भी हानि है तो जन्म कर्म दोनोंके अनुसार वर्णधर्मको स्वीकार करना ही सब प्रकारसे शास्त्रानुकूल तथा जातीय उन्नतिप्रद है ।

वर्णधर्मके उपकारिताके विषयमें जितने विचार किये गये हैं उन सभोंके निष्कर्ष निकालनेपर यही सिद्धान्त होगा कि वर्णधर्मके द्वारा जातीय जीवनप्रद आठ प्रधान वस्तुएँ प्राप्त होती हैं । इन आठोंके विषयमें शम्भुगीतामें वर्णन है । यथा—

आर्य्यजातेर्बीजरक्षाऽऽध्यात्मिकी च क्रमोन्नतिः ।
पितॄणां वर्द्धनाऽनल्पा तत्कृपाप्राप्तिरेव च ॥
सहोभैर्दैवलोकैश्च सम्बन्धस्थापनं भृशम् ।
विबुधानां प्रसादश्च विश्वमङ्गलसाधकः ॥
तथा स्वभावसंसिद्धसंस्कारोदयसाधनम् ।
बीजरक्षाऽऽत्मबोधस्य कैवल्याधिगमोऽपि च ॥
वर्णाश्रमाणां धर्माणामष्टावेतानि मुख्यतः ।
प्रयोजनानि सम्प्राहुः कर्म्मतत्त्वाब्धिपारगाः ॥

* धर्मचन्द्रिका द्रष्टव्य है ।

आर्य्यजातिकी बीजरक्षा, आध्यात्मिक क्रमोन्नति, पितरोंका सम्बर्द्धन और उनकी विशेष कृपाप्राप्ति, दैवी ऊर्ध्वलोकोंके साथ अतिशय सम्बन्धस्थापन, विश्वमङ्गलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता, स्वाभाविक संस्कारोंका उदय करना, आत्मज्ञानकी बीजरक्षा और कैवल्याधिगम, ये वर्णधर्मके आठ प्रधान प्रयोजन कर्म्मतत्त्वपारगोंने कहे हैं।

श्रीशम्भुगीतामें एक अपूर्व चित्रके द्वारा इन ऊपर-कथित तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है, जिसमें श्रीभगवान् शम्भुके पितरोंके प्रति वचन दिये गये हैं। उन वचनोंका तात्पर्य निम्न लिखित रूप है। यथा—

"मेरी श्यामा प्रकृतिके परम अद्भुत दो रूप हैं, क्योंकि वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी है; वह अज्ञानपूर्णरूपसे सदा जड़ रूपको धारण करती हुई सृष्टि प्रकट करती है; इसमें कुछ सन्देह नहीं और अहो! वह चेतनमयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्वरूप पारावारमें निरंतर प्रवेश करती है। हे पितृगण! वह चिन्मयी नदी, जड़मय महापर्वतसे निकलकर प्रथम उद्भिज, तदनन्तर स्वेदज, अण्डज और जरायुज नामधारी खादमें सरलतासे भली भाँति बहती हुई मनुष्यलोकरूपी अधित्यकामें निर्बाध स्वयं पहुँचती है। उस अधित्यकाके नीचे एक पार्श्वमें गह्वर आदि और महान् उपत्यका विद्यमान हैं, जिनमें उस पवित्र तरङ्गिणीका जल स्थान स्थान पर स्वभावतः ही बह जाया करता है। उस स्रोतको अप्रतिहत, अविच्छिन्न, निरापद और नीरन्ध्र रखकर नदीकी धारा धरातलपर सरल और सौम्य रखनेके लिये वर्ण और आश्रमधर्म्मरूपी आठ बांध बांधे गये हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल और हितकर पथको अवलम्बन करके परमानन्द-प्राप्तिके हेतु नित्य मुझमें प्रवेश करती हुई

शोभती है। सम्पूर्ण देवतागण उस नदीमें सदाही आनन्दपूर्वक अवगाहन करते हैं और वे अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और उस नदीके दोनों तटोंपर समासीन महर्षिगण सदा ब्रह्मध्यानमें मग्न होते हुए निःश्रेयस पदको प्राप्त होते हैं और आप लोग निरन्तर उन बन्धनों-को सुदृढ़ रखनेके लिये उन बांधोंके समीप उपस्थित होकर रक्षा करनेमें प्रवृत्त हैं और आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभ कार्य्यमें सदा-चारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सहायक हैं *।"

उपनिषत्सम्बन्धीय इस दृश्यमें अतिदूरमें जो पर्वतश्रेणी दिखाई देती है वह ब्रह्मशक्ति मूल प्रकृति है और दूसरी ओर जो समुद्रका महान् प्रशान्त स्वरूप दिखाई देता है, वह स्वस्वरूपरूपी ब्रह्मपद है। मूलप्रकृति दो रूप धारण करती है, एक जड़रूप जो इस ब्रह्माण्ड और पिण्डमें स्थावर रूपसे दिखाई पड़ता है और जीव-भूत चेतनमय रूप जो जंगममें दिखाई देता है। इसी कारण जड़मय पर्वतश्रेणीसे जीवभूता प्रकृति बहकर निकली है। उस दूरवर्त्ती पर्वतसे वह नदी अति सरलधारामें आगे बह निकलती है। उत्तराखंडके तीर्थोंके दर्शन करनेवाले यात्रियोंको भली भाँति विदित है कि पवित्र गंगानदी जब गंगोत्तरीसे निकलकर आगे चलती है तो अति वेगसे नीचेको बहा करती है क्योंकि पर्वतके इस मार्गमें उनको बहनेके लिये गंभीर खाद मिलता है, उस खादके दोनों ओर पर्वतकी उच्चता रहती है इस कारण गंगाजीका जल इधर उधर बहने नहीं पाता और अति वेगसे बिना किसी बाधाके नीचेकी ओर बह आता है। ठीक उसी प्रकार यह जीवभूता

---

* इस औपनिषदिक दृश्यका एक आयलपेंटिङ्ग चित्र श्रीभारत-धर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालयमें उपदेशक महाविद्यालयके छात्रोंको शिक्षा देनेके लिये तैयार है।

चिन्मयी नदी पहले उद्भिज्जरूपी खादमें, उसके अनन्तर स्वेदजरूपी खादमें, उसके अनन्तर अण्डजरूपी खादमें और उसके अनन्तर जरायुजरूपी खादमें, इस प्रकारसे चार प्रकारके भूतसङ्घोंकी चौरासी लक्ष योनियोंमें वह चिन्मयी जीव धारा बिना किसी रोक टोकके अतितीव्र और सरलरूपसे बहकर मनुष्ययोनिमें आ पहुँचती है, यहां तक वह धारा अतिसरल और स्वाभाविक है और स्रोत भी अति तीव्र बेगसे बह रहा है। यद्यपि जड़मय पर्वतसे लेकर इस मनुष्यकी जीवभूमिका यह मार्ग बहुत दूर दिखाता है परन्तु खाद ठीक होनेसे इसमें वह चिन्मयी नदी बिना किसी रोकटोक और आशंकाके अति सरलरूपसे बह आती है। जहांपर मनुष्ययोनिका स्थान है वह भूमि अधित्यकाकी है अर्थात् वह भूमि पर्वतके ऊपर होने पर भी समतल है, क्योंकि मनुष्यके अन्तःकरणमें ज्ञान विज्ञानकी समताका अधिकार प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार ईश्वर ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य अपने पिण्डका अधिश्वर बन जाता है। अधित्यकाकी भूमि इसीकी परिचायिका है। परन्तु उस अधित्यकाके एक ओर ठीक किनारे उपत्यकाकी विशाल निम्नभूमि और अनेक बड़े बड़े खड गह्वर हैं, वह जो खड गह्वर और उपत्यकाकी निम्नभूमि है उसमें उस चिन्मयी नदीका जल निरंतर थोड़ा थोड़ा बह रहा है। यदि वह जलके निकासका स्थान बढ़ जाय तो उस नदीका सब जल खड गह्वर और उपत्यकामें गिरकर नदीका अस्तित्व भी लोप हो जा सकता है। वर्णाश्रमरूपी बन्धके द्वारा नदीका वह जल चूने न पावे इसका प्रबन्ध किया गया है तब वह नदी स्वस्वरूप समुद्रमें सीधी पहुँच रही है। पितृगण उस बन्धकी मरम्मत करनेवाले हैं और इस मरम्मत कार्य्यमें सदाचारी ब्राह्मण और सती स्त्रियाँ पितरोंकी परम सहायक हैं। नदीके दूसरे तीरका विस्तृत वनमय अधित्यकाका दृश्य अतिशय मनोहर

है और नदीमें देवतागण बड़े आनन्दसे स्नान कर रहे हैं। इस दृश्यको नेत्रोंके सम्मुख लाते ही वर्णाश्रम धर्म्मका गंभीर विज्ञान समझमें आ जाता है।

जब यह वर्णाश्रमरूपी बन्ध ही चिन्मयी जीवभूता नदीके जलको वर्णसंकररूपी खड और गह्वरमें गिरकर लोप होनेसे रोकता है, जब वर्णाश्रमरूपी बन्ध ही उस नदीके जलको असभ्यतारूपी उपत्यकामें गिरकर सूख जानेसे बचाता है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि वर्णाश्रमधर्म्म आर्य्यजातिको चिरस्थायी रखनेमें समर्थ है और उस जातिकी बीजरक्षा करता है। यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है कि यदि पशुकी एक जाति दूसरी जातिसे संकर हो जाय तो उन दोनोंकी श्रेणी लोप हो जाती है। घोड़े और गधेसे खच्चर पैदा होता है परन्तु खच्चरकी श्रेणी आगे नहीं चलती है। ठीक इसी उदाहरणपर समझना उचित है कि यदि आदिसभ्य आर्य्यजाति अन्य किसी नवीन जातिसे रजोवीर्य्यका सम्बन्ध स्थापन कर ले तो पृथ्वीकी अन्यान्य ऐतिहासिक जातियाँ जैसे लोप हो गई हैं यह भी लोप हो जायगी। उसी प्रकार यदि वर्णाश्रमधर्म नष्ट होकर चारों वर्णोंमें समानरूपसे विवाह होने लगे अथवा एक गोत्रमें ही विवाह होने लगे तोभी आर्य्यजातिका बीजनाश हो जायगा। आजदिन जिस प्रकार प्राचीन ग्रीक जाति अथवा रोमन जातिका एक बीज भी दिखलाई नहीं देता है उसी प्रकार हिन्दू जातिकी भी वही दशा हो जायगी। सुतरां, आर्य्यजातिके रजोवीर्य्यकी पवित्रता बचाये रखना, उसको अन्य जातिसे मिलने न देना, आर्य्यजातिमें असवर्ण विवाह प्रचलित होने न देना, उसमें सगोत्र विवाह वन्द रखना इत्यादि बातें उसकी बीजरक्षा होनेके मूल कारण हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि पितृगण बन्धकी मरम्मत करा रहे

हैं और सदाचारी ब्राह्मण धर्म्मोपदेष्टा बनकर और सती स्त्रियाँ आश्रय बनकर मरम्मत कर रही हैं।

यह विषय पहले ही प्रतिपादित किया गया है कि जीव चिज्जड़-ग्रन्थिरूपसे उत्पन्न होकर सहज कर्म्मकी सहायतासे उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, और जरायुज योनियोंकी श्रेणियोंमें बिना रोक टोकके जिस प्रकार आगे बढ़ता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुंच जाता है उसी प्रकार मनुष्ययोनिमें उसकी क्रमोर्द्ध्वगति यदि बना रक्खी जाय तो वह जीव अविद्यापूर्ण दशासे शीघ्र मुक्त होकर मुक्तिपद-रूपी पारावारमें पहुंच जाता है। उद्भिजसे लेकर जरायुज योनिकी अन्तिम सीमा तक जीवकी गति अप्रतिहत और अतिसरल है। मनुष्य योनिमें आकर जब जीव अपनी इन्द्रियोंपर आधिपत्य करके स्वाधीन बन जाता है तो उसमें कभी न कभी या उस मनुष्य जातिमें कभी न कभी निरंकुशता और उच्छृङ्खलता आ जानेका पूरा भय रहता है। कामप्रधान, अर्थप्रधान, धर्म्मप्रधान और मोक्षप्रधान, इन चार श्रेणियोंमें विभक्त होकर जो प्रतिभा अग्रसर होती है उस प्रतिभाके क्रमका प्रत्यक्ष उदाहरण समाजमें नेत्रोंके सामने रखकर जो मनुष्यजाति अग्रसर होती है उसके नियमित क्रमोन्नतिमें बाधा होनेकी आशङ्का कम है। मनुष्ययोनिमें जीव स्वाधीन होकर अनियमित वासनाओंका दास होजाता है, परन्तु जब वह अपने समाजमें इन चारों प्रकारके साध्योंके चार अधिकार और इनके अधिकारप्राप्त चार श्रेणियोंका उदाहरण अपने सामने देखता है तो वह स्वतः ही समझ सकता है कि ये चारों अधिकार एक दूसरेसे आगेके हैं और इनमें मनुष्यजीवनका लक्ष्य क्रमशः उन्नत है। संस्कार ही कर्म्मका बीज होनेके कारण वर्णाश्रमके अन्तर्गत जीव क्रमशः अपने-में एक संस्कारसे दूसरा उन्नत संस्कार प्राप्त करता हुआ ज्ञानमय अधिकारकी ओर अग्रसर होता है। जन्मान्तरवादके विज्ञानपूर

पूर्ण विश्वास रहनेके कारण चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके अधिकारोंमें वर्णाश्रमधर्मी मनुष्यको आपसमें ईर्षाद्वेष करनेका अवसर ही नहीं मिलता है। प्रत्येक वर्णकी रजोवीर्य्यकी शुद्धि, प्रत्येक वर्णका धर्म्मसंस्कार और प्रत्येक आश्रमके धर्म्मसाधनका अभ्यास मनुष्यको नियमित रूपसे आत्मज्ञानकी ओर आगे बढ़ा देता है। चार वर्णोंमें ऊपर लिखित चारों साध्योंकी वासनाओंको तृप्त करके और प्रथम दो आश्रमोंमें प्रवृत्तिनिरोध करते हुए और अन्तिम दो आश्रमोंमें निवृत्तिसंस्कारकी उन्नति करते हुए अन्तमें वह मनुष्य आत्मज्ञानी बनकर स्वस्वरूप पारावारमें पहुँच जाता है। वर्णाश्रमरहित मनुष्यजातिमें इस प्रकार क्रमोन्नतिका बन्धन और नियमबद्ध व्यवस्था नहीं रह सकती। अस्तु, जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रम धर्मकी सुव्यवस्था है उस जातिके मनुष्योंकी आध्यात्मिक क्रमोन्नति होना स्वाभाविक है। इसी कारण इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि चिन्मयी नदी ठीक ठीक बहकर सच्चिदानन्द समुद्रमें पहुँच रही है।

यह शास्त्रद्वारा सिद्ध है कि जीव मनुष्ययोनिमें पहुंचकर पहले प्रेतलोकमें जाने लगता है और वहाँसे पुनः असभ्य मनुष्य होकर जनमता है उसके अनन्तर वह क्रमशः नरकलोक और पितृलोकमें पहुंचने लगता है परन्तु अर्यमा आदि नित्य पितृगणकी पूरी कृपादृष्टि उसी मनुष्यपर पड़ती है जो मनुष्य जातिगत रजोवीर्य्यकी शुद्धिका अधिकारी बन जाता है। तब पितरोंको निश्चय हो जाता है कि ऐसी मनुष्यजातिकी सुरक्षा वे कर सकेंगे। यही कारण है कि इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि पितृगण स्वयं वर्णाश्रमरूपी बन्धकी रक्षामें प्रवृत्त हैं। इस विषयके शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। शम्भुगीतासे कुछ वर्णन उद्धृत किया जाता है:—

मृत्युलोके ततो जन्म गृह्णते च यदा तदा ।
यूयं यद्यपि तेभ्यो वै स्वस्वकर्म्मानुसारतः ॥
उपयुक्तं प्रयच्छेत भोगायतनरूपकम् ।
पित्रोः स्थूलं रजोवार्य्यसाहाय्याद्वपुरद्भुतम् ॥
परिश्रमेण महता पाञ्चभौतिकमण्डलात् ।
तत्त्वानि किल सञ्चित्य तद्योग्यान् पितरोऽनिशम् ॥
मातृगर्भेषु निर्माय स्थूलदेहान्न संशयः ।
लभन्ते मातृगर्भेषु दुःखान्येव तथापि ते ॥
गर्भवासे भवन्तो हि पितरो यद्यपि स्वयम् ।
तेषां सहायका नूनं परमाः स्युस्तथाप्यहो ॥
नेशतेऽनुभवं कर्तुं तद्दशा तत्र का भवेत् ।
कीदृशे दुःखजाले ते महाघोरे पतन्ति च ॥
दाम्पत्यसंगरूपेषु पीठेषु सहजेष्वलम् ।
आकृष्टाः पीठसन्नाशे पितृवीर्यकणाश्रयाः ॥
प्रविष्टा मातृगर्भेषु जायन्ते जीवजातयः ।
पितरः ! श्रूयतां चित्रा गर्भवासकथाततिः ॥
आतिवाहिकदेहस्य सन्त्यागादेव तत्क्षणम् ।
दुर्बलाः क्लेशितास्ते च मूर्च्छामादौ व्रजन्त्यलम् ।
आवागमनचक्रस्य परिधावत्र भूतिदाः ॥
भवन्तो जीववर्गार्थं स्थूलं देहं नयन्त्यलम् ।
साहाय्यात् पञ्चतत्त्वानां नात्र कश्चन संशयः ॥
सूक्ष्मदेहान्विताञ्जीवांस्तत्र देवा नयन्ति च ।
नृदेहं जीववृन्देभ्यो दद्ध्वे यूयं यदा तदा ॥
पित्रोर्नूनं शरीरेण वीर्य्यांशं पितरोऽधिकम् ।
नारीदेहं यदा दत्थ तदांऽशं रजसोऽधिकम् ॥
क्लीवदेहप्रदित्सायामुभयोः समतां किल ॥

दापयध्वे न सन्देहः सत्यमेतद्ब्रवीमि वः।
पितरो वोऽनुकम्पातो लोके पुत्रादिसम्भवः॥
विकाशमपि देहेषु सत्त्वादेः कुरुथा स्वतः।
तात्कालिकमनोवृत्तेः पित्रोः साहाय्यतो ध्रुवम्॥

श्रीभगवान् सदाशिव पितरोंसे कहते हैं कि हे पितृगण! तद्-नन्तर जब जीववर्ग मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं तब यद्यपि आपलोग उनके अपने अपने कर्मोंके अनुसार उनको उपयुक्त भोगायतनरूपी अद्भुत स्थूल शरीर उनके माता पिताके रजोवीर्यकी सहायतासे देते हैं और आपलोग बड़े परिश्रमके साथ पञ्चभूतमण्डलसे तत्त्वोंको एकत्रित करके मातृगर्भमें उन जीवोंके योग्य स्थूल शरीरोंको निःसन्देह सदा बना देते हैं तो भी वे मातृगर्भमें अनेक दुःखोंको ही पाते हैं। हे पितृगण! यद्यपि गर्भवासमें आप ही लोग स्वयं उन जीवोंके निश्चय परम सहायक हो तो भी आप यह अनुभव नहीं कर सकते कि वहाँ उनकी क्या दशा होती है, किस प्रकारके महा-घोर दुःखजालमें वे पतित होते हैं। दाम्पत्यसङ्गरूपी सहजपीठोंमें भली भाँति आकृष्ट होकर पीठके अन्त होनेपर पिताओंके वीर्य्य-कणाको आश्रय करके जीवसमूह माताओंके गर्भमें प्रविष्ट होते हैं। हे पितृगण! विचित्र गर्भवासकी कथाको सुनिये—वहाँ (गर्भमें) पहुंचते ही आतिवाहिक देहके त्याग होनेसे वे दुर्बल और क्लेशित होकर प्रथम भली भाँति मूर्छित हो जाते हैं। हे पितृगण! आवा-गमनचक्रके इस परिधिमें आपलोग जीवोंके लिये पञ्चतत्त्वमण्डलकी सहायतासे स्थूल देहको पहुंचा देते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं। और देवतागण सूक्ष्म देहविशिष्ट जीवोंको वहाँ पहुंचा देते हैं। हे पितृगण! आपलोग जब जीवोंको पुरुषशरीर प्रदान करते हैं तब वीर्य्यका अंश अधिक और जब स्त्री शरीर प्रदान करते हैं तब रजका अंश अधिक और जब नपुंसक शरीर प्रदान करते हैं तब उभयकी

समानता पिता माताके शरीरसे निःसन्देह दिलाते हैं इसको मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ। हे पितृगण! आप लोगोंकी ही अनुकम्पासे संसारमें पुत्र आदिका जन्म होता है और आप ही लोग शरीरके सत्त्व आदि गुणोंका विकाश भी मातापिताके उस समयकी मनोवृत्तिकी सहायतासे अवश्य किया करते हैं। सिद्धान्तरूपसे और यह भी कहा है। यथा—

भवद्भिर्विशिष्टसाहाय्याल्लब्धानां किन्तु भूतिदाः।
पिण्डानां मानवीयानां वैलक्षण्यं किमप्यहो ॥
एते शक्तिविशेषाणां वर्त्तन्ते पितरो ध्रुवम्।
आकर्षणोपयोगित्वाच्चतुर्वर्गफलप्रदाः ॥
निःश्रेयसफलोत्पन्नकारिणो विटपस्य हि।
मानवपिण्ड एवायं बीजमास्ते न संशयः ॥
पिण्डानां मानवीयानां मुख्यत्वे पितरो ध्रुवम्।
भवन्तो हेतवः सन्ति प्रधाना नात्र संशयः ॥
पूरितावयवा जीवा मर्त्यपिण्डं गतास्ततः।
भूतिदाः! भवतां नूनं साहाय्यं प्राप्तुमीशते ॥
क्रमशो वश्च साहाय्यं समासाद्योत्तरोत्तरम्।
गच्छन्त्यसंशयं पुण्यामार्य्यकोटिं समुन्नताम् ॥

हे पितृगण! आपलोगोंकी विशेष सहायतासे प्राप्त जो मानवपिण्ड हैं अहो! उनकी विचित्रता कुछ और ही है। वे विशेष शक्तियोंके आकर्षणके उपयोगी होनेसे चतुर्वर्ग-फलप्रद हैं। हे पितृगण! मानवपिण्ड ही मुक्तिफल उत्पन्नकारी वृक्षका बीजस्वरूप है। मानवपिण्डके ऐसे प्राधान्यके विषयमें हे पितृगण! आप लोग ही प्रधान कारण हैं इसमें सन्देह नहीं। हे पितृगण! जीवगण पूर्णावयव होकर मनुष्यपिण्डको प्राप्त करते हुए आप लोगोंकी सहायताको प्राप्त करनेमें अवश्य समर्थ होते हैं और क्रमशः

उत्तरोत्तर पवित्र उन्नत आर्य्यकोटिको निश्चय आपलोगोंकी सहायतासे प्राप्त कर लेते हैं।

जिस मनुष्य समाजमें जन्मांतरवादका विज्ञान स्थायी रूपसे प्रचलित है वही जाति दैवजगत्के साथ अधिक सम्बन्ध स्थापन करनेमें समर्थ है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिस जातिमें यह विश्वास ही नहीं है कि दैवजगत्में जाना आना पड़ता है उस जातिके मनुष्य दैवजगत्के साथ अपने चित्तका अधिक सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकते, जिस मनुष्य जातिमें ऋषि देवता और पितरोंका अस्तित्व प्रचलित नहीं है, जो मनुष्यजाति इन तीनों श्रेणीके देवताओंके सम्बर्द्धनकी आवश्यकता ही नहीं जानती है उस मनुष्यजातिके साथ दैवजगत्का अधिक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यद्यपि किसी नगरके राजपुरुषकी दृष्टि राजधर्मपालनके विचारसे उस नगरकी प्रजाके ऊपर समभावसे रहती है परन्तु उस नगरकी प्रजामेंसे जो लोग उक्त राजपुरुषसे घनिष्टता रखते हैं ऐसे व्यक्ति उस राजपुरुष द्वारा अनेक असाधारण कार्य्य भी सिद्ध कर लिया करते हैं। ठीक उसी प्रकार ऊर्द्ध्व देवलोकसे प्रेम रखनेवाली जाति ही उससे अधिक सम्बन्ध स्थापन कर सकती है। वर्णाश्रमधर्ममें जितने आचार बांधे गये हैं उनका सर्वथा सम्बन्ध सूक्ष्म जगत्के साथ रक्खा गया है। चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके धर्म इस प्रकारसे निर्णय किये गये हैं कि जिससे यज्ञ और महायज्ञ द्वारा आर्य्यजाति ऊर्द्ध्व देवलोकों और देवताओंसे उत्तरोत्तर अतिशय सम्बन्ध स्थापन कर सके। इसी कारण इस औपनिषद् दृश्यमें दिखाया गया है कि चिन्मयी नदीका जल अधोलोकके गह्वर आदि आसुरी भावोंको प्राप्त न करके सरल होकर दैव-पथमें अग्रसर हो रहा है।

आर्यशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्माण्डके ऊपरके सात लोकोंमें देवता बसते हैं और नीचेके सात लोकोंमें असुर बसते हैं।

वे दोनों दल उस ब्रह्माण्डमें और उस ब्रह्माण्डके सब मनुष्यपिण्डोंमें अपना अधिकार बढ़ाने और दल बढ़ानेका प्रयत्न सदा करते रहते हैं। असुर और देवताओंके लक्षण इस प्रकारसे शास्त्रोंमें कहे गये हैं जो मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं और निम्नलिखित लक्षणोंके अनुसार समझा जा सकता है कि किस प्रकारसे मनुष्योंके शरीरमें देवता और असुरोंके अधिकार अलग अलग बढ़ सकते हैं। नीचेके लक्षणोंसे यह भलीभाँति प्रतीत होगा कि राक्षस और असुर भावोंको छोड़कर किन लक्षणोंको प्राप्त करके मनुष्य देवताओंकी विशेष सहायता प्राप्त कर लेता है। और इसी प्रकार दैवीसम्पत्ति लाभ करके मुक्तिपदमें अग्रसर होता है।

विशिष्टचेतना जीवाः सुराः ! त्रिगुणभेदतः।
चतुर्ष्वेवाधिकारेषु विभक्ताः सन्ति सर्वदा ॥
राक्षसा असुरा देवा कृतविद्याश्च ते मताः।
केवलं तम आश्रित्य विपरीतं प्रकुर्वते ॥
कर्म्म तान् राक्षसानाहुर्गुणभेदविदा जनाः।
रजोद्वारेण ये जीवा इन्द्रियासक्तचेतसः ॥
तमःप्रधानं विषयबहुलं कर्म कुर्वते।
असुरास्ते समाख्याता देवाञ्छृणुत देवताः ! ॥
रजःसाहाय्यमाश्रित्य कर्म सत्त्वप्रधानकम्।
विषयाच्छन्नमतयः कुर्वते ते विचक्षणाः ॥
शुद्धसत्त्वे स्थिता ये स्युः कृतविद्या मतास्तु ते।
अहं तु कृतविद्येषु ह्यादर्शोऽस्मि सुरर्षभाः ! ॥

श्रीभगवान् महाविष्णु देवताओंसे कहते हैं कि हे देवगण ! त्रिगुणके भेदसे विशिष्टचेतन जीव सर्वदा चार ही अधिकारोंमें विभक्त हैं। उन्हींको राक्षस, असुर, देवता और कृतविद्य कहते हैं। केवल तमोगुणके आश्रित होकर जो विपरीत कर्म करते हैं उनको

गुणभेदके जाननेवाले विद्वान लोग राक्षस कहते हैं। जो जीव इन्द्रिययासक्त चित्त होकर रजोगुणके द्वारा तमोन्मुख विषयबहुल कर्म करते हैं वे असुर हैं। देवाधिकारके जीवोंका लक्षण सुनो, जो विषय वासना रखते हुए रजकी सहायता लेकर सत्वोन्मुख कर्ममें प्रवृत्त होते हैं वे विचक्षण व्यक्ति देवता कहलाते हैं और जो शुद्ध सत्वगुणमें स्थित हैं वे कृतविद्य कहाते हैं। हे देवगण! मैं ही कृतविद्योंका आश्रय हूँ।

वर्णाश्रमधर्म्म द्वारा इन्द्रियभावयुक्त आसुरीवृत्ति घटती है और आत्मासे युक्त दैवीवृत्ति बढ़ती है। वर्णधर्म तो स्वतः ही कामसे अर्थकी ओर, अर्थसे धर्मकी ओर और धर्मसे मोक्षकी ओर जीवको ले जाता है। उसी प्रकार आश्रमधर्म पहले प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पूर्णतामें पहुंचा देता है। इस कारण वर्णाश्रमधर्म मनुष्यमें क्रमशः दैवभावोंको बढ़ाता है इसमें सन्देह नहीं। इस कारण दैवभावके सदा बढ़ानेवाली और असुरभावसे हटनेवाली आर्यजाति पर स्वतः ही विश्वमङ्गलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता हो जाती है। इसी कारण इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि देवतागण अति आनन्दमग्न होकर उस नदीमें स्नान कर रहे हैं।

कर्मतत्त्वका यह सिद्धान्त है कि अस्वाभाविक संस्कार बन्धनके कारण होते हैं और स्वाभाविक संस्कार मुक्तिके कारण होते हैं और उसमें यह भी दिखाया गया है कि वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जो वैदिक संस्कारसमूह रक्खे गये हैं वे सब स्वाभाविक संस्कारके उन्नत करनेवाले हैं। पूज्यपाद महर्षिगणने वर्ण और आश्रमधर्मके आचार समूह इस प्रकारसे स्थिर किये हैं कि उन सबमें उत्तरोत्तर अस्वाभाविक संस्कार शिथिल होकर जीवके स्वाभाविक संस्कार परिपुष्ट होते रहते हैं। सुतरां वर्णाश्रमके द्वारा मनुष्यमें मुक्ति देनेवाला स्वाभाविक संस्कार नियमित बढ़ता रहता है इसमें सन्देह

नहीं। शूद्रसे वैश्यमें तमरज, वैश्यसे क्षत्रियमें रजसत्त्व और क्रमशः ब्राह्मणमें सत्त्वप्रधान संस्कार उत्पन्न होते हैं। संन्यासमें जाकर वे स्वाभाविक संस्कारमें परिणत होते हैं। अस्तु इस औपनिषदिक दृश्यमें जो प्रवाहकी सरलता और अबाध गति है वही स्वाभाविक संस्कारका परिचायक है।

इस घोर परिवर्त्तनपूर्ण मृत्युलोकमें, इस शक्तिशाली कर्म्मभूमिमें मनुष्य सत्कर्मके बलसे देवता भी बन सकता है और असत्कर्मके बलसे पशु भी बन सकता है। इस कारण इस भयकी सम्भावना है कि मनुष्य जातियाँ क्रमशः सभ्यसे असभ्य पशुवत् हो जा सकती हैं परन्तु जिस मनुष्यजातिमें प्रवृत्तिसे निवृत्तिका आदर अधिक मानकर ब्राह्मण वर्णको भूदेव करके माना गया है; ब्राह्मणगण निवृत्ति परायण होते हैं और राजागण उन्हींकी आज्ञा लेकर राज्यशासन करना अपना धर्म्म समझते हैं उस मनुष्यजातिमें आत्मज्ञानके बीजकी रक्षा होनी स्वतःसिद्ध है। जिस मनुष्यजातिमें चक्रवर्त्ती महाराजाधिराजको तो केवल नारायणका अंश समझा जाता है परन्तु कौपीनधारी भिक्षुक संन्यासीको केवल आत्मज्ञानकी प्रधानतासे ही मूर्तिमान् नारायण समझा जाता है उस जातिमें आत्मज्ञानकी बीजरक्षा होना सहज ही है। जिस मनुष्यजातिके शारीरिक, वाचनिक और मानसिक सब कर्मोंमें अध्यात्म लक्ष्य ही सर्वोपरि माना गया है और उसके वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म्म और सब सदाचारोंमें आत्मज्ञानकी क्रमोन्नतिको ही सामने आदर्शरूप रक्खा गया है उस जातिमें आत्मज्ञानकी बीजरक्षा होना स्वतःसिद्ध है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। यही कारण है कि इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि ज्ञानराज्यके अधिष्ठाता ऋषिगण इस चिन्मयी नदीके दोनों तटोंपर सुखसे बैठकर आत्मध्यानमें निमग्न होकर परमानन्द अनुभव कर रहे हैं।

यह तो स्वतःसिद्ध है कि वर्णाश्रम धर्म्ममें मुक्तिपदको ही प्रधान लक्ष्य करके माना गया है। वर्णगुरु ब्राह्मणके सब धर्म ही मोक्षके लक्ष्यसे युक्त हैं यह पहिले ही कहा गया है। उसी प्रकार आश्रम-गुरु संन्यासी तो जीवन्मुक्त पदवीकी मूर्त्ति ही हैं। सुतरां वर्णाश्रमधर्म्ममें कैवल्याधिगमका लक्ष्य स्वतःसिद्ध है। इसी कारण इस औपनिषदिक दृश्यमें चिन्मयी नदी अन्तमें स्वस्वरूप पारावार-रूपी ब्रह्मपदमें जाकर उसमें मिलती हुई अद्वितीय रूपको धारण करती है। वास्तवमें इस विज्ञानपूर्ण दृश्यके विज्ञानको हृदयङ्गम करनेसे वर्णाश्रमधर्म्मका पूर्ण महत्त्व सुगमतासे समझमें आ जाता है।

वर्णव्यवस्थाका आदर्श दिखाया गया है। स्थूल सूक्ष्म और कारण प्रकृतिके साथ वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध बताया गया है और सिद्धान्त किया गया है कि, जीव प्राक्तन सात्त्विक, राजसिक सात्त्विक, तामसिक राजसिक और तामसिक कर्म्मानुसार ही चतुर्व्वर्णको प्राप्त करते हैं। प्राक्तन कर्म्मोंसे ही धीरे धीरे स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरोंकी पूर्णता साधन करते हुए मुक्ति-पद प्राप्त होते हैं इसलिये वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध तीनों शरीरों से है। तीनोंकी पूर्णतासे प्रत्येक वर्णकी पूर्णता होती है। जो वर्ण प्रकृतिके जिस अधिकारमें है उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंकी उन्नति उसी अधिकारके अनुकूल होना प्राकृतिक है और उसीमें उस वर्णकी पूर्णता हो सकती है, अन्यथा, प्रकृतिके किसी अङ्गको छोड़नेसे नहीं होगी। जन्मसे, कर्म्मसे और ज्ञानसे पूर्ण होने पर तभी पूर्ण ब्राह्मण, पूर्ण क्षत्रिय, पूर्ण वैश्य तथा पूर्ण शूद्र कहला सकते हैं। अब इस आदर्शको वर्त्तमान देशकालके साथ मिलाकर वर्त्तमान देशकालमें वर्ण-व्यवस्थाका आदर्श किस प्रकारसे निभ सकता है जिससे देशकालके

भी विरुद्ध न हो और आदर्श भी भ्रष्ट न हो जाय इसका विचार किया जाता है क्योंकि जो विधि देशकालके विरुद्ध है वह सत्य धर्म नहीं है। जब प्राक्तन कर्म्मानुसार ही मनुष्यकी स्थूल सूक्ष्म और कारण प्रकृति बनती है तो इस जन्मका कर्म्म भी चारों वर्णका ऐसाही होना चाहिये जैसी कि उनकी प्रकृति है। यदि शूद्रकी तीनों शरीरोंकी प्रकृति तमःप्रधान है तो साधारण रीतिसे शूद्रमें और वर्णोंके सदृश कर्म्मशक्ति नहीं होनी चाहिये और यदि ब्राह्मणके तीनों शरीरोंकी प्रकृति सत्त्वप्रधान है तो उसमें और वर्णों के सदृश प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु क्या कारण है कि शूद्रमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदिकोंके सदृश असाधारण कर्म्मशक्ति तथा योग्यता देखनेमें आती है और ब्राह्मणमें भी इतर वर्णोंके सदृश नीच कर्म्मोंमें प्रवृत्ति देखनेमें आती है? आजलल जो वर्ण-व्यवस्थाके विषयमें इतना सन्देह बढ़गया है कि वर्ण जन्मानुसार है या कर्म्मानुसार है या है कि नहीं? ऐसे प्रश्न होते हैं, इन सबों-का कारण केवल प्रत्येक वर्णमें शास्त्रानुसार कर्म्मानुष्ठान न होना ही है। यदि ब्राह्मण अपने कर्म्मोंपर प्रतिष्ठित रहते, अब्राह्मण, नीच या शूद्रकी तरह आचरण न करते तो कदापि इस प्रकार सन्देह नहीं होता और न जन्मको उड़ानेकी इच्छा ही किसीमें होती। मनुष्य कर्म्मोंसे भ्रष्ट हो गये हैं, कोई वर्ण अपने कर्म्मानुसार आचरण नहीं करते तभी "जन्मसे जातिका सम्बन्ध है" इस विषयमें इतना सन्देह उत्पन्न होगया है। प्राचीन कालमें जब चारों ही वर्ण अपने अपने कर्म्मोंपर प्रतिष्ठित थे इससे इस प्रकारका सन्देह कभी नहीं उत्पन्न होता था। अब विचार करना चाहिये कि इस प्रकार चारों वर्णोंमें कर्म्मभ्रष्टता या विपरीतकर्म्मका कारण क्या है और विपरीत लक्षणोंके होनेसे वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थका आदर्श किस प्रकारसे स्थिर रह सकता है।

आजकल जो इतर वर्णोंमें भी उच्च वर्णोंके गुण कर्म्म स्वभाव पाये जाते हैं और ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण भी बहुधा अपने अपने आचरण-से गिर गये हैं जिससे इतना गड़बड़ मचगया है, विचार करनेपर पता लग जायगा कि इसमें तीन कारण हैं। यथा—वर्णसङ्करता, आरूढ़पतन और मिश्रसंस्कार। नीचे तीनोंका विस्तृत वर्णन किया जाता है।

कलियुग तमःप्रधान है, पापका स्रोत प्रबल वेगसे बहरहा है, स्त्रियोंमें शिक्षाके अभावसे या दोषोंसे तथा अन्य अनेक कारणोंसे पातिव्रत्य धर्म्म ह्रास होगया है, पुरुषोंमें भी विषयबुद्धि बढ़नेसे परदारगमनप्रवृत्ति बहुधा देखनेमें आती है, इन सब कारणोंसे वर्णसङ्कर प्रजा बहुत उत्पन्न हो गई है और इसीसे कर्म्मसङ्करता भी फैल गई है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि कोई कुलस्त्री ब्राह्मणी छुपकर किसी शूद्र उपपतिसे सम्बन्ध कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह पुत्र पूरे ब्राह्मणके गुण कर्म्म कैसे प्राप्त करेगा? विषय गुप्त होनेसे किसीको पता नहीं लगा, वह सन्तान ब्राह्मण ही कहलाने लगी, परन्तु उसके बहुत कर्म्म ब्राह्मणकी तरहके होंगे और अनेक कर्म्म शूद्रकी तरहके होंगे। उसी प्रकार शूद्रामें भी ब्राह्मणसे व्यभिचारके द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण शूद्रसे और प्रकारका कर्म्म करेगी। उसमें कुछ ब्राह्मणका भी कर्म्म दिखाई देगा। कलिके प्रभावसे आजकल ऐसा बहुत होगया है जिससे नीच ब्राह्मण भी मिलते हैं और अच्छे शूद्र भी मिलते हैं।

द्वितीय कारणका नाम आरूढपतन है। कर्म्मोंका भोग संस्कारोंकी प्रबलताके अनुसार होता है। मनुष्य अपने जीवनमें कई प्रकारके कर्म्म करते हैं। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें सात्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे बहुत प्रकारके कर्म होजाते हैं, उनमेंसे जो कर्म्म सबसे बलवान् होता है वही प्रारब्ध बनकर पहले फल देता है। श्रीभगवान्ने गीतामें लिखा है किः—

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

सात्त्विक कर्मोंसे स्वर्गादिलोक-प्राप्ति, राजसिक कर्मोंसे पृथ्वीलोक में ही मनुष्यादिरूपसे जन्म और नीच तामसिक कर्मोंसे अधोलोकोंमें जन्म या पश्वादि नीच योनि प्राप्त होती है । इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको स्वर्ग मिलना चाहिये, ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको पृथिवीमें ही मनुष्यजन्म मिलना चाहिये और ऐसे अनेक कर्म करे जिससे उसको नीच पशुयोनि प्राप्त होना चाहिये तो इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे जो कर्म सबसे बलवान् होंगे वे ही उसकी मृत्युके समय प्रारब्ध कर्म बनकर चित्ताकाशको आश्रय करेंगे और उन्हींके अनुसार उसका जन्म होगा । गीतामें लिखा है किः—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥

मृत्युके समय साधारणतः सूक्ष्म शरीर दुर्ब्बल हो जाता है, इसलिये दुर्ब्बल सूक्ष्म शरीरको वे ही कर्म आश्रय करते हैं जो कि सबोंसे बलवान् होते हैं और जीव उसी भावमें भावित होकर वैसी ही योनिको प्राप्त करता है । इससे यह सिद्धान्त निकलेगा कि यदि कोई मनुष्य अन्य कर्म अच्छे करनेपर भी कुछ कर्म मन्द करे और वे कर्म प्रबलतम हों तो उन मन्द कर्मोंका भोग पहले होगा । यथा—किसी ब्राह्मणने ब्राह्मणोंके सदृश अच्छे कर्म अनेक किये, किन्तु मोहवशात् कुछ कर्म शूद्रोंके सदृश भी कर दिये और वे कर्म और अच्छे कर्मोंसे प्रबल हुए तो मरते समय वे शूद्रोंके सदृश किये हुए कर्म ही उसका प्रारब्ध बनकर शूद्रशरीर उत्पन्न करेंगे । वह शूद्रके घरमें उत्पन्न होगा और इन शूद्रसदृश कर्मोंके भोगके बाद यदि ब्राह्मणसदृश कर्म जो पहले किये थे वे ही प्रबल हों तो

पुनर्जन्म ब्राह्मणका होगा; परन्तु इस प्रकार शूद्र मातापिताके द्वारा शूद्र शरीर मिलनेपर भी पूर्वजन्ममें ब्राह्मणसदृश कर्म भी अनेक किये थे इससे और उन सब अच्छे कर्मोंका संस्कार उसके कर्माशयमें रहनेके कारण वह साधारण शूद्रसे अनेक प्रकारसे उन्नत होगा क्योंकि उसके कर्माशयमें स्थित ब्राह्मण्य कर्मका प्रभाव अवश्य ही उसके चित्त पर पड़ेगा। वह शरीरसे शूद्र है परन्तु भाव तथा आचारसे ब्राह्मणके सदृश होगा। श्रीमद्भागवतमें जड़भरतका जो पूर्व जन्मका वृत्तान्त लिखा है वह जन्म इसी प्रकारके आरूढपतनके कारणसे हुआ था। महाराजा भरत बहुत तपस्या करनेपर भी मरनेके कुछ दिन पहले एक मृगमें इतने आसक्त होगये थे कि उसीका स्मरण करते करते मरे और मृगयोनिको प्राप्त हुए, परन्तु वे अन्य साधारण मृगोंसे बहुत ऊँचे थे क्योंकि तपस्याका संस्कार चित्तमें था। इसी प्रकार अन्यान्य जीवोंमें समय समय पर असाधारण बातें जो देखनेमें आती हैं और मनुष्योंमें भी जो इतर वर्णोंमें कभी कभी उच्चवर्णकी तरह शक्ति और गुण कर्म स्वभाव देखनेमें आते हैं उन सबोंका यही उपर्युक्त रहस्य हैं; अर्थात ये ही सब आरूढ़पतनके दृष्टान्त हैं। वे सब पहले जन्ममें उच्चवर्णके थे, परन्तु कुछ प्रबल कर्म नीच वर्णकी तरह कर दिया था जिसका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़नेसे स्थूल शरीर नीच मिला है; परन्तु चित्तमें उच्चसंस्कार और प्रकारके रहनेसे आचार तथा कर्म उच्च वर्णकी तरह बहुतसा दिखाई देता है। जिस प्रकार भरत राजा मृगयोनिके बाद ही पुनः पूर्व्व तपस्याके फलसे भरत ऋषि बन गये थे; उसी प्रकार वे लोग भी मन्द कर्मका भोग नीच योनिमें समाप्त होने पर आगामी जन्ममें कर्माशयस्थित अन्य उच्च कर्मके कारण अच्छी योनि प्राप्त करेंगे। कलियुग तमः-प्रधान है, देश काल और सङ्ग इसमें बहुत विरुद्ध है इसलिये कलियुगमें अच्छे मनुष्योंसे भी बहुत बुरे कर्म्म होजाते हैं अतः

कलियुगमें इस प्रकार आरूढ़पतन होनेकी बहुत ही सम्भावना है। यही कर्म्मसङ्करताका दूसरा कारण है।

कर्म्मसङ्करताका तीसरा कारण मिश्रसंस्कार है। प्रकृतिके त्रिगुणमयी होनेसे मनुष्योंके सब कर्म्म सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन भागोंमें विभक्त होते हैं। अन्य युगोंमें जब भावकी गंभीरता थी तब मनुष्योंमें प्रायः एक ही गुणके कर्म्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे रहते थे इसलिये कर्म्मोंकी प्राकृतिक गति प्रायः एकसी होती थी और मनुष्य भी प्रायः एक ही ढंगकी प्रकृतिके होते थे; परन्तु कलियुगमें भावकी गंभीरता कम होनेसे और देशकालका प्रभाव मनुष्यप्रकृतिपर पड़नेसे कर्म्मसंस्कार कलियुगमें प्रायः तीनों गुणोंके मिलेजुले होते हैं। सात्त्विक संस्कारके साथ भी राजसिक तामसिक कर्म्मोंके संस्कार होते हैं। इसी प्रकार तामसिक मनुष्यमें भी और दो गुणोंके कर्म्म देखनेमें आते हैं; अर्थात् मिश्रसंस्कारयुक्त मनुष्य प्रायः इस युगमें उत्पन्न होते हैं। पुनः मिश्रसंस्कार भी दो प्रकारके होते हैं, एक स्थूलशरीर द्वारा भोगे जानेवाले कर्म्मसंस्कार और दूसरे सूक्ष्मशरीरमें ही भोगे जानेवाले कर्म्मसंस्कार। शरीरके द्वारा अनुष्ठित कर्म्मके फलका भोग शरीरके द्वारा ही होता है और मनके द्वारा अनुष्ठित कर्म्मका फल मनमें ही हुआ करता है। यथा—पाप या पुण्यचिन्ताका फल मनमें ही दुःख या सुखरूपसे प्राप्त होता है और व्यभिचार, हत्या या धर्म्मके लिये शरीर उत्सर्ग करना रूप कर्म्मोंके फलका भोग स्थूलशरीरके द्वारा ही होता है। अतः सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीनों ही प्रकारके कर्म्मोंमेंसे जो कर्म्म स्थूलशरीरकेद्वारा भोगने लायक हैं उन्हीं कर्म्मोंके वेगसे पितामाता द्वारा स्थूलशरीर मिलता है और जो कर्म्म सूक्ष्मशरीर द्वारा भोगने लायक हैं उन्हींके अनुसार चित्तवृत्ति होती है। मनुष्य इन तीनों प्रकारके कर्म्मानुसार

ही जन्मसे जन्मान्तरको प्राप्त होते हैं और तदनुसार ही शरीर और चित्तवृत्ति बनती है। दृष्टान्त दिया जाता है कि यदि किसी मनुष्यके मिश्रकर्म्मोंमेंसे स्थूलशरीरमें भोग होने लायक कर्म्म सात्त्विक हों परन्तु सूक्ष्मशरीरमें भोग होने लायक अनेक कर्म्म तामसिक हों तो उसका स्थूलशरीर ब्राह्मण मातापितासे उत्पन्न होगा किन्तु उसका बहुतसा आचरण तामसिक शूद्रकी तरह होगा। इसी प्रकार यदि किसीके स्थूलशरीरमें भोग होने लायक कर्म्म तामसिक हों परन्तु सूक्ष्मशरीरमें भोग होने लायक अनेक कर्म्म सात्त्विक हों तो उसका जन्म शूद्र मातापितासे होगा किन्तु उसका बहुतसा आचरण सात्त्विक ब्राह्मणकी तरह होगा। आजकल कलियुगके प्रभावसे मिश्रकर्म्मवाले लोग बहुत होते हैं इसलिये इतर वर्णोंमेंभी अच्छे आचरण करनेवाले लोग देखनेमें आते हैं और उच्च वर्णोंमें भी नीच आचरण करनेवाले लोग मिलते हैं।

आजकल चारों वर्णोंमें कर्म्मसङ्करताके ये ही उपर्य्युक्त कारण हैं जिनके कारण इतना सन्देह तथा गड़बड़ मचगया है। अब इस प्रकार वर्णसङ्कर और कर्म्मसङ्करमय कलियुगमें एक ही उपाय है जिससे वर्णव्यवस्थाके आदर्शको पूर्ण रखते हुए भी देश कालानुसार व्यवस्था हो सकती है। आदर्श वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा अवश्य ही करनी होगी क्योंकि बीजरक्षा न होनेसे अनुकूल देशकालमें पुनः वर्णधर्म्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होसकेगी और ऐसा न होनेसे अर्थात् वर्णव्यवस्था नष्ट होजानेसे आर्य्यजातिकी किस प्रकार सत्ता नाश होगी सो पहले कहा गया है। और साथ ही साथ देश कालपर भी ध्यान रखना कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक तथा धर्म्मानुकूल है। इसलिये यही उपाय अब होना चाहिये कि एक वर्णके साथ अन्य वर्णका जो द्वेष या घृणाभाव विद्यमान है उसको दूर करके जिस वर्णके मनुष्यमें जिस शरीरकी श्रेष्ठता देखीजाय

उसीका योग्य सम्मान करना चाहिये और उसको ऐसा ही अधिकार देना चाहिये। जिसका स्थूलशरीर शुद्ध अर्थात् उच्च वर्णका है उससे स्थूलशरीरसम्बन्धीय कार्य्य उच्च वर्णसे लेने योग्य जो हो सो लेना चाहिये। ऐसा ही जिस किसीका सूक्ष्मशरीर उन्नत है उससे सूक्ष्मशरीर विषयक उन्नत कार्य्य कराना चाहिये। उसका स्थूलशरीर निकृष्ट होने पर भी सूक्ष्मशरीरके विचारसे ऐसा ही करना चाहिये। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि पूर्वकथित कारणोंके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण स्थूलशरीर सम्बन्धसे ब्राह्मण हो परन्तु उसका मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरका भाव नीच हो अर्थात् वह निर्बुद्धि या विषयासक्त हो तो उसके साथ बैठकर ब्राह्मण भोजन कर सकता है या उससे भोजन बनवाकर खा सकता है क्योंकि भोजन करना या बनवाना स्थूलशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। अवश्य यह भी विचार रक्खा जाय कि वह मनुष्य छिपा हुआ वर्णसङ्कर न हो क्योंकि वर्णसङ्कर होनेसे उसके हाथका अन्न भी नहीं खा सकते हैं और न एक पंक्तिमें भोजन हो सकता है। परन्तु उसका सूक्ष्मशरीर जब हीन है अर्थात् ब्राह्मणके सदृश चरित्र या बुद्धि नहीं है तो उसके साथ बैठकर शास्त्रविचार नहीं कर सकते हैं या शास्त्र और उपासना तथा ज्ञानसम्बन्धीय कार्य्य उससे नहीं करा सकते हैं क्योंकि ये सब कार्य्य सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। उसको श्राद्धमें भोजन नहीं करा सकते हैं क्योंकि शास्त्रमें शक्तिमान् या विद्वान् ब्राह्मणको खिलानेकी आज्ञा है जिससे वह ब्राह्मण भोजनसे तृप्त होकर अपनी शक्तिके द्वारा मृत आत्माका कल्याण कर सके। परन्तु उस नाममात्र ब्राह्मणमें जब यह शक्ति नहीं है तो श्राद्धमें उसको खिलानेसे कोई फल नहीं है और मनुजीने भी ऐसा ही लिखा है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई शूद्र भी सूक्ष्मशरीरसे अच्छा हो तो उससे शास्त्र तथा विद्यासम्ब-

न्धीय कार्य्य ले सकते हैं क्योंकि ऐसा विचार केवल सूक्ष्मशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु उसके साथ एक पंक्तिमें बैठकर द्विज लोग भोजन नहीं कर सकते हैं और न उसके हाथका अन्न ही खा सकते हैं क्योंकि उसका स्थूलशरीर पूर्व कहे हुए कारणोंमेंसे किसीके द्वारा शूद्रका हो गया है इस लिये स्थूल शरीरसे अपूर्ण है अतः स्थूल स्पर्श-दोषका सम्बन्ध अवश्य है इस कारण स्थूल शरीरका कार्य्य उससे ब्राह्मण नहीं ले सकते। और वह स्थूलशरीरसे शूद्र परन्तु सूक्ष्मशरीरसे ज्ञानी पुरुष यदि यथार्थज्ञानी तथा विचार-वान् होगा तो ऐसा करना भी नहीं चाहेगा क्योंकि जब कर्म्मके वैचित्र्यसे उसको यह इतर योनि प्राप्त हुई है जिससे प्रमाण होता है कि पूर्व जन्ममें और कर्म्म उन्नत होनेपर भी कुछ स्थूलशरीरसम्ब-न्धीय कर्म्म उसके खराब थे जिससे स्थूलशरीर शूद्र मातापितासे उत्पन्न हुआ है तो उसका कर्त्तव्य है कि पूर्वकर्म्मका भोग स्थूल अंशमें ऐसा ही निभाया करे और सूक्ष्मशरीरसे उन्नत आचरण करे जिससे आगामी जन्ममें उसको स्थूल शरीर भी उन्नत वर्णका प्राप्त हो जाय। उसको वर्णव्यवस्थाके प्राकृतिक सिद्धान्त पर धक्का नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अज्ञानका कार्य्य होगा; परञ्च यथावत् स्थूल सूक्ष्म शरीरके विचारसे जिस शरीरमें जितनी योग्यता है उस शरीरसे उसी प्रकारका कार्य्य करना चाहिये। प्राचीन महर्षियोंने इसी प्रकारके धर्म्मका ही पालन किया है। यथा—समस्त ऋषि शूद्र सूतके मुखसे पुराणोंको सुनते थे क्योंकि सूत शूद्र होने पर भी ज्ञानी थे; परन्तु उनके साथ ऋषियोंने स्थूलशरीरका कोई व्यवहार नहीं किया। मनुजीने भी नीच वर्णसे विद्या सीखने-को कहा है परन्तु उससे स्थूल व्यवहार करनेको नहीं कहा है। यही सत्य सिद्धान्त है। कोई शूद्रशरीरधारी यदि ज्ञानी तथा सच्चरित्र हो तो ज्ञानका विषय सिखा सकता है परन्तु वेदके

मन्त्रभाग पढ़ने पढ़ानेका उसको कोई अधिकार नहीं होगा क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है सो उसका स्थूलशरीर शूद्र होनेसे अपूर्ण तथा वेदोच्चारणके योग्य नहीं है। और वह यथार्थज्ञानी होगा तो ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि ऐसा करना अज्ञान है। यही सब वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थाके आदर्शको रखकर उन्नति करनेकी युक्ति है। किसी वर्णके प्रति घृणा न की जाय, किसीकी उन्नतिमें बाधा न दी जाय, जिसका जो शरीर जिस अधिकारका है उसके उस शरीरकी उन्नति उसी अधिकारके अनुसार की जाय, स्थूल शरीरकी उन्नति उसीके अधिकार तथा योग्यतानुसार और सूक्ष्मशरीरकी उन्नति उसीकी शक्तिके अनुसार की जाय एवं सबका सम्मान अधिकारानुसार किया जाय, तभी यथार्थमें भारतवर्षकी उन्नति होगी और इस घोर कलियुगमें वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा होगी।

आश्रमधर्म्म ।

(७)

वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्मभी आर्यजीवनकी मौलिकता रक्षामें प्रधान अवलम्बन है इस कारण आश्रमधर्मका भी वर्णन किया जाता है। जीवनसंग्राम तथा वैषयिकभावके बढ़ जानेसे और देशकालके भिन्नरूप हो जानेसे प्रवीण महर्षियोंके द्वारा विहित चतुराश्रमधर्म ठीक ठीक पालन करना नवीनभारतमें बहुत ही कठिन हो गया है। तथापि महर्षियोंकी दूरदर्शिता मायामुग्ध जीवोंके लिये सदा ही कल्याणकर होनेसे मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि उनके द्वारा विहित आश्रमधर्मको ध्रुव ताराकी तरह लक्षीभूत रखकर जीवनतरणिको

संसारसमुद्रमें डाल देवें जिससे शान्तिमय गन्तव्य स्थल उनके लिये सुलभ तथा निश्चित हो जाय।

पहले ही कहा गया है कि आध्यात्मिक शक्तिलाभ करते हुए स्वाभाविक विषयप्रवृत्तिको धीरे धीरे घटाकर निवृत्तिकी पोषकता करना और निवृत्तिकी पराकाष्ठामें ब्रह्मपद लाभ करना ही आश्रमधर्म पालनका लक्ष्य है। प्रवृत्तिको अनर्गल छोड़नेसे वह घृताहुत वह्निकी तरह दिन ब दिन बढ़ने ही लगती है। इसलिये चार आश्रममें प्रवृत्तिको नियमित रूपसे घटाकर तुरीयाश्रममें निवृत्तिकी पराकाष्ठा प्राप्त की जाती है। पूर्वकर्म बलवान् होनेसे ब्रह्मचर्य्यसे ही तुरीयाश्रम संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा, साधारण रीति तो यह है कि प्रवृत्तिमार्गसे ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्गमें जाया जाय। सब आश्रमोंमें संन्यास श्रेष्ठ होनेसे संन्यासी वर्ण-गुरु ब्राह्मणोंके भी प्रणाम करने योग्य हैं इसलिये संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है ऐसी सम्मति कहीं कहीं मिलती है तथापि मनुजीने द्विजगणके लिये ही चारों आश्रमोंकी व्यवस्था दी है। और वेदादि में अनधिकार और शारीरिक असम्पूर्णताके कारण शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था दी है। ऐसा ही आश्रमका आदर्श है। अब कालके प्रभावसे वर्णधर्ममें किस प्रकार और कैसा व्यतिक्रम हो गया है और इस दशामें वर्णधर्मके आदर्शको अटल रखकर देशकालके अनुसार कैसी व्यवस्था हो सकती है सो वर्णधर्मके अध्यायमें पहले कहा गया है। इसलिये जब वर्णधर्मका सम्बन्ध आश्रमधर्मके साथ भी है तो आश्रमधर्मके भी आदर्शको महर्षियोंकी आज्ञानुसार अटल रखकर देश काल पात्रके साथ मिलाकर काम करना होगा, वह कैसे हो सकेगा सो वर्णधर्मके अध्यायके अन्तिम अंशपर विचार करनेसे ही बुद्धिमान् लोग कर्त्तव्यनिर्णय कर सकेंगे अब शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंका। शास्त्रोक्त कर्त्तव्य बताया जाता है।

(ब्रह्मचर्य्याश्रम)

प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम है। उपनयनके बाद द्विज बालकका इसमें प्रवेश होता है उपनयन कालके विषयमें मनुजीने कहा है कि:—

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥
ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलाऽर्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे ॥
आषोड़शाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्त्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः
अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः ॥

गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मणमें ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रियको बल प्राप्त हो और वैश्यको धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पाँच, छः तथा आठ वर्षमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन होना चाहिये। सोलह वर्ष पर्य्यन्त ब्राह्मणका, बाईस वर्ष पर्य्यन्त क्षत्रियका और चौबीस वर्ष पर्य्यन्त वैश्यका उपनयन काल अतीत नहीं होता है। इतने वर्षतकमें भी यदि उपनयन नहीं हो तो द्विज उपनयन भ्रष्ट होकर व्रात्य कहलाते हैं और आर्य्यजनोंमें उनकी निन्दा होती है। अतः यथासमय उपनयन संस्कार करना उचित है।

उपनयनसंस्कारके बाद द्विज बालक आचार्यके चरणोंमें रहकर शास्त्रीय विधिके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम धर्मका पालन करे यही प्राचीन प्रथा है। इस आश्रममें नित्य सन्ध्या-गायत्री उपासनाके द्वारा ब्रह्मोपासना, नित्य हवनके द्वारा अग्निपूजा तथा अग्निमुख

देवताओंका तृप्तिसाधन, साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन, आचार्यसेवा तथा वीर्यरक्षा करनेकी विधि है। इन सब विधियोंके पालन द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध शक्तियोंका लाभ होता है। यथा—वीर्यरक्षा द्वारा आधिभौतिक शक्तिलाभ, हवनादि द्वारा आधिदैविक शक्तिलाभ और ब्रह्मोपासना द्वारा आध्यात्मिक शक्तिलाभ होता है। इस प्रकारसे शक्ति-सञ्चय होनेके कारण ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रममें प्रवेशके बाद इस द्वितीय आश्रमके गुरुतर कर्त्तव्योंको द्विज गृही सम्यक् प्रकारसे पालन कर सकते हैं और प्रवृत्तिके भीतर रहने पर भी बद्ध न होकर निवृत्तिपथके ही पथिक बननेकी योग्यता प्राप्त करते हैं। इसी कारण शास्त्रमें ब्रह्मचर्याश्रमकी इतनी प्रशंसा पाई जाती है। यथा महाभारतके उद्योग पर्वान्तर्गत सनत्सुजातीय वाक्यमें:—

आद्यां विद्यां वदसि ही सत्यरूपां
या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः।
यां प्राप्यैनं मर्त्यभावं त्यजन्ति
या वै विद्यागुरुवृद्धेषु नित्या॥
आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं वदन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम्॥
एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन्॥
एतेनैव सगन्धर्वा रूपमप्सरसोऽजयन्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्यं अहाय जायते॥

सत्यरूपा ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ही प्राप्त होती है। इसीको पाकर जीव अमृत होता है। गुरुकृपाप्राप्त शिष्यमें ही

इसका विकाश देखा जाता है। आचार्यके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा द्वारा जो इस व्रतका पालन करता है वह इहलोकमें परम पण्डित और देहपातानन्तर परम पदको लाभ करता है। ब्रह्मचर्यके बलसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है, ऋषियोंको ऋषित्व मिला है, अप्सराओंको अनुपम रूप मिला है और सूर्य्यदेवको विश्व-प्रकाशनार्थ दिव्य प्रकाश मिला है। इत्यादि इत्यादि अनेक स्तुति ब्रह्मचर्य्यके विषयमें आर्य्यशास्त्रमें मिलती है। अतः यथाशक्ति ब्रह्म-चर्यका पालन सर्वथा कल्याणकर है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ब्रह्मचर्यपालनकी आवश्यकता तथा पालनविधिके विषयमें 'धर्मचन्द्रिका' में बहुत कुछ वर्णन कर चुके हैं। अतः इस विषयमें अधिक लिखना निष्प्रयोजन है। अब गुरुगृहमें वास करके विद्यालाभ-के समय ब्रह्मचारीका क्या क्या कर्त्तव्य है इस विषयमें मनुसंहितासे कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं यथाः—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्य्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥
अध्येष्यमाणस्त्वाऽऽचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माऽञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥
ब्रह्माऽऽरम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥
व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

गुरु शिष्यका उपनयन कराकर पहले आद्योपान्त शौच, आचार, अग्निकार्य्य तथा सन्ध्योपासना उसे सिखावें। अध्ययन करनेके लिये शिष्य शास्त्रानुसार आचमन करके संयत होकर उत्तरमुख तथा ब्रह्माञ्जलि हो पवित्र लघु वेष पहनकर गुरुके सम्मुख बैठें। वेदाध्य-यनके आरम्भ तथा अन्तमें शिष्य प्रतिदिन गुरुके पादद्वय स्पर्श करें

और पढ़ते समय हाथ जोड़े रहें इसीको ब्रह्माञ्जलि कहते हैं। दक्षिण हस्त ऊपर, वाम हस्त नीचे और दोनों हस्त आड़े टेढ़े (cross) रखकर दक्षिण हस्तसे गुरुके दक्षिण चरणको और वाम हस्तसे वाम चरणको स्पर्श करें।

पूर्व्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥

प्रातःसन्ध्याके समय सूर्यदर्शनपर्य्यन्त एक स्थानमें रहकर सावित्रीजप करें और सायंसन्ध्याके समय नक्षत्रदर्शनपर्य्यन्त आसन पर बैठ कर जप करें।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्य्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात्कुर्य्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥

ब्रह्मचारी समावर्त्तनके पहले जबतक गुरु-आश्रममें रहें तबतक प्रतिदिन प्रातः सायङ्काल हवन, भिक्षा, भूमिशय्याशयन तथा गुरुका प्रिय आचरण करें।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्य्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च॥

नित्य स्नान करके पवित्र होकर देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करें और देवतापूजन तथा समिधके द्वारा होम करें।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तन्न द्रुह्येत्कदाचन॥
उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

जो गुरु सत्यस्वरूप वेदमन्त्रोंसे कर्णोंको पवित्र करते हैं वे ही माता तथा पिताके तुल्य हैं, उनसे कभी विरोध नहीं करना चाहिये। जन्म देनेवाले पिता और वेदज्ञान करानेवाले गुरुरूपी पिता दोनोंमेंसे

गुरु पिता ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि द्विजातिका ब्रह्मजन्म ही इहलोक तथा परलोकमें नित्य फल देनेवाला है।

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥

तपस्या करनेकी इच्छा रखनेवाले द्विज सदा ही वेदका अभ्यास करें क्योंकि वेदाभ्यास ही द्विजगणकी परम तपस्या कही गई है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति साऽन्वयः॥

जो द्विज वेदाध्ययन न करके अन्य विद्यामें श्रम करता है वह जीते रहते ही वंशसहित शूद्रभावको प्राप्त करता है।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्म्मसु।
ब्रह्मचार्य्याहरेद्भैक्ष्यं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥

वेदानुष्ठान करनेवाले और अपनी वृत्तिमें रहनेवाले गृहस्थोंके मकानसे ब्रह्मचारी प्रतिदिन शुद्ध होकर भिक्षा ग्रहण करें।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्य्यादध्ययने यत्नमाचार्य्यस्य हितेषु च॥
शरीरञ्चैव वाचञ्च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥
हीनाऽन्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्व्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमञ्चाऽस्य चरमञ्चैव संविशेत्॥
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

गुरुकी आज्ञा हो या न हो ब्रह्मचारी प्रतिदिन अध्ययन और गुरुके हितानुष्ठानमें तत्पर रहें। शरीर, वाक्य, बुद्धि, इन्द्रिय तथा मनको संयत करके कृताञ्जलि हो गुरु-आज्ञाकी प्रतीक्षा करें। गुरुके समीप साधारण वेष तथा अन्न ग्रहण करें, उनके उठनेके

पहले उठें और सोनेके बाद सोवें। जहाँ गुरुकी सच्ची या झूठी निन्दा हो वहाँ हाथोंसे कानोंको ढकलें या वहाँसे उठ जायँ। इस प्रकार गुरुसेवा करते हुए विद्याध्ययनकी आज्ञा मनुजीने की है। ब्रह्मचारीको गुरुसेवाके साथ ही साथ माता पिताकी सेवा करनी चाहिये क्योंकि ये तीनों ही परमपूज्य हैं। मनुजीने कहा है किः—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्व्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्व्वं समाप्यते ॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

प्रतिदिन माता पिता तथा आचार्य्य तीनोंका ही प्रियानुष्ठान करना चाहिये। इनके सन्तुष्ट रहनेसे सब तपस्या समाप्त होती है। वे तीनों ही तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद तथा तीन अग्नि हैं अर्थात् इनके फलकी प्राप्तिके कारणस्वरूप हैं। पिता गार्हपत्य-अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और आचार्य्य आहवनीय अग्नि हैं। ये तीनों अग्नि ही श्रेष्ठ हैं। मातृभक्तिसे भूलोक, पितृभक्तिसे मध्यमलोक और गुरुसेवासे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।

सर्व्वे तस्याऽऽदृता धर्म्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्व्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥

पिता माता तथा गुरुका आदर करनेसे सब धर्म्मोंका आदर होता है, अन्यथा सब धर्म्म कर्म्म ही निष्फल होते हैं। ये ही सब ब्रह्मचर्य्याश्रमके धर्म्म हैं जो मनुजीने अपनी संहितामें पूर्णरीतिसे

बताये हैं। आजकल इस प्रकार गुरुसेवाकी रीति बहुत घट गई है। पाश्चात्य शिक्षालयोंमें तो यह रीति एक प्रकारसे उठ ही गई है। केवल अर्थके विनिमयमें वहां विद्या प्राप्त होती है इसलिये शिक्षा भी ऐसी ही होती है जिससे अहङ्कार और अश्रद्धामात्र बढ़ती है, आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है। यह रीति सुधारने योग्य और प्राचीन रीति पुनः प्रतिष्ठापन करने योग्य है। सामाजिक नेताओंका ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिये।

नवीन भारतमें ऋषिप्रदर्शित ब्रह्मचर्याश्रमपालनकी विधि स्वप्न सदृश हो गई है। अर्थकरी विद्याके प्रभावने संस्कृत विद्याके आदर तथा आवश्यकताको घटा दिया है। जीवन संग्रामके प्रबल वेगसे आत्मोन्नतिकर विद्यार्जनके लिये पुरुषार्थ करनेका समय कम ही मिलता है। गर्भाधानसंस्कारहीन कामज सन्ततियोंके द्वारा सच्चा ब्रह्मचर्य्यधारण दुर्लभ हो गया है। तथापि जहाँ तक हो सके सकल आश्रमोंके मूलभूत इस आश्रमकी रक्षा अवश्य ही करनी चाहिये और स्थान स्थान पर ब्रह्मचर्याश्रम स्थापन करके इसकी देशकालानुसार अवश्य ही बीजरक्षा होनी चाहिये।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकारके हैं। यथा—नैष्ठिक और उपकुर्व्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रमकी आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा है। यदि शिष्यका अधिकार इस प्रकार उन्नत हो तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावें। इसके लिये मनुजीने आज्ञा की है किः—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥
आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥

आचार्य्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्॥
एतेष्वविद्यमानेषु स्थानाऽऽसनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्य्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेह जायते पुनः॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी यावज्जीवन गुरुकुलमें वास करना चाहै तो गुरुसेवा करते हुए गुरुके आश्रमपर ही संयत होकर रहैं। मृत्युपर्य्यन्त इसप्रकार गुरुसेवा करनेसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मधामको प्राप्त करते हैं। आचार्य्यकी मृत्युके अनन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुणवान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी अथवा गुरुके सपिण्ड पुरुषोंकी सेवा करें और इन सबके अभाव होनेसे आचार्य्यकी अग्निके पास ही रहकर होम द्वारा अग्निसेवा करते हुए आत्माके उद्धारार्थ प्रयत्न करें। जो विप्र इस प्रकार अखण्डित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन करते हैं उनको परमपद लाभ होता है और पुनः संसारमें शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। श्रुतिमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा लिखी है। यथा–जाबालश्रुतिमें:—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थाश्रमके बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वान-प्रस्थ आश्रमसे संन्यास लेवे। वैराग्य उदय होनेसे ही संन्यास लेवें। इस प्रकारसे श्रुतिने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा दी है। इस प्रकारकी आज्ञा प्रारब्धवान् उत्तम

अधिकारीके लिये है। जिसका इस प्रकारके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यमें अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजीने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्यकी आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रममें कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक विद्याभ्यास करनेके बाद गुरुको यथाशक्ति दक्षिणा देवें और उनकी आज्ञा लेकर व्रतसमाप्तिका स्नान करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करें। यथा—मनुसंहितामें:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणाऽन्तिकमेव वा ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाऽऽश्रमामवसेत् ॥

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करनेके लिये गुरुके आश्रममें ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक ३६ छत्तीस वर्ष, १८ अट्ठारह वर्ष या ६ नौ वर्ष तक निवास करेंगे अथवा निज शाखा-अध्ययनके अनन्तर वेदकी तीन शाखा, दो शाखा, या एक शाखा मन्त्रब्राह्मणक्रमानुसार अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचर्य्यके साथ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें।

(गृहस्थाश्रम)

इस आश्रमके विषयमें धर्म्मचन्द्रिकामें पहले ही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य्य-आश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा होनेके बाद इस आश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। प्रवृत्ति धर्ममूलक तथा भावशुद्धिपूर्वक होनेसे अवश्य ही काल पाकर निवृत्तिको उत्पन्न करती है। इस कारण धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता ही गृहस्थाश्रमका मूल मन्त्र है। इस पर ध्यान रख कर प्रत्येक गृहस्थको अपनी जीवनचर्य्याका प्रतिपालन करना चाहिये। अब इसी भावको लक्ष्यमें रखते हुए गृहस्थाश्रमधर्म्मका निर्देश किया जाता है।

विवाहके बाद ही यथार्थतः गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता है।

विवाहके जो तीन उद्देश्य हैं यथा अनर्गल प्रवृत्तिका निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा प्रजातन्तुकी रक्षा और भगवत्प्रेमका अभ्यास, इनके विषयमें धर्मचन्द्रिकामें बहुत कुछ कहा जा चुका है।

इसके सिवाय विवाहका और एक महान् उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा दम्पतिका जीवन मधुरिमामय तथा दिव्यभावपूर्ण हो जाता है। प्रेमपाशबद्ध स्त्रीपुरुष सदा ही परस्परको संतुष्ट रखनेके लिये उत्सुक रहा करते हैं और उसी कारणसे जो कुछ कार्य्य करते हैं सभीमें उदारता, भावशुद्धि तथा परार्थपरता बढ़ती है। अच्छी तरहसे पान भोजनादि करनेकी इच्छा सभीमें होती है परन्तु केवल अपने ही सुखके लिये पान भोजनादि करनेमें मनुष्यको लज्जा आती है और वह पान भोजनादि पापभोजनमात्र है। परन्तु यदि ऐसा हो कि एकके पान भोजनादिसे दूसरोंकी आत्मा सन्तुष्ट हो तो वह पान भोजनादि पाप भोजन न होकर देवसेवा होगी। विवाहके द्वारा यही दिव्य भाव दम्पतिके हृदयमें उत्पन्न होता है। इस नश्वर क्षणभङ्गुर शरीरका वेषविन्यास करते हुए किस स्त्रीको लज्जा नहीं आती? परन्तु प्रियतमके आनन्दके लिये शरीरका यत्न हो रहा है, अपने लिये नहीं, इस प्रकारकी भावना रखनेसे वेषविन्यासमें लज्जा नहीं आती। अधिकन्तु उसमें यही भाव उत्पन्न होता है कि जितना सौन्दर्य्य अभी है उससे कोटिगुण अधिक न होनेसे पतिदेवताके चरणकमलमें अर्पण करने योग्य शरीर नहीं होगा। स्त्रीका शरीर, मन, शोभा, सौन्दर्य्य सभी पतिके सुखके लिये है, अपने लिये नहीं है। प्रकृतिका लीलाविलास उष्ट्रके कुङ्कुमवहनवत् पुरुषके भोग तथा मोक्षके लिये है यही सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावकी पुष्टि होकर उदारता तथा आत्मोन्नति होती है। धनसञ्चय करनेसे धन दान करनेमें आनन्द अधिक है। धन सञ्चय करनेसे लोग

कृपण कह कर निन्दा करते हैं तथा आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु पुत्र कन्यादिके पालनके लिये मितव्ययिता तथा धनसञ्चय आत्मग्लानि उत्पन्न न करके प्रशंसा तथा सन्तोष ही उत्पन्न करता है। एकके भोजनसे दूसरेकी तृप्ति होगी, एकके सौन्दर्य्यसे दूसरेको आनन्द मिलेगा तथा एकके धनसञ्चयसे दूसरेका भावी कल्याण होगा, इस प्रकार साधुजनोचित परार्थभावकी शिक्षा विवाहके द्वारा स्त्री पुरुष सहज ही पाते हैं। स्वार्थको धीरे धीरे परार्थमें मिलाकर लय-कर देनेसे ईश्वरभाव उत्पन्न करना विवाहसंस्कारका उद्देश्य है इसी लिये विवाहसंस्कार अति उत्तम है।

ऊपरलिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये पाणिग्रहण बहुत विचार पूर्वक होना चाहिये।

इस विषयमें महर्षि गौतम, वशिष्ठ तथा याज्ञवल्क्यजीने अपनी अपनी संहिताओंमें लिखा है किः—

गृहस्थः सदृशीं भार्य्यां विन्देताऽनन्यपूर्व्वां यवीयसीम।
गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणाऽनुज्ञातः स्नात्वा असमानार्षामस्पृष्टमैथुनां यवीयसीं सदृशीं भार्यां विन्देत।

अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

गृहस्थ होनेके लिये गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्त्तन संस्कार करते हुए अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का और पहले किसीके भी साथ अविवाहिता कन्याका पाणिग्रहण करें। मनुसंहितामें लिखा है किः—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम्॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत यत्पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्मशङ्कया॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा तथा पिताकी सगोत्रा नहीं है, वही विवाहकार्य्य और संसर्गके लिये प्रशस्ता है। गो, छाग, मेष और धन धान्यसे समृद्धि-सम्पन्न होने पर भी स्त्रीग्रहणके विषयमें दश कुल त्याज्य हैं। जिस कुलमें नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं, जिसमें वेदाध्ययन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त हैं और जिस कुलमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठरोग हैं उस कुलमें विवाहसम्बन्ध नहीं करना चाहिये। जिस कन्याके केश पिङ्गल वर्ण हैं, छः अङ्गुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा, रोमहीना या अधिक रोमवाली, अधिक वाचाल तथा जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्गमें विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गजकी तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम केश तथा दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्यासे विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिताका वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्यासे पुत्रिका प्रसव करनेकी तथा अधर्मकी आशङ्काके कारण विवाह नहीं करना चाहिये।

कन्याकी तरह वरके भी लक्षण देखना कन्याके पिता माताका आवश्यक कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता,

नीरोगता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायुः, नम्रता सत्याचार, आस्तिकता, धर्म भीरुता आदि पुरुषके जितने गुण होने चाहियें उन सबको अवश्य ही कन्याके पिता माता देख लेवें।

आर्यशास्त्रोंमें विवाह आठ प्रकारके लिखे हैं। मनुसंहितामें लिखा है किः—

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ तरहके विवाह हैं। इन आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र अलङ्कार आदिसे सज्जित करके विद्या और शीलवान् वरको बुलाकर जो कन्यादान किया जाता है उसको ब्राह्मविवाह कहते हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके होने पर उस यज्ञमें कर्मकर्त्ता ऋत्विकको अलङ्कारादि द्वारा सज्जिता कन्याका दान दैवविवाह है। यज्ञादि धर्मकार्यके लिये एक या दो जोड़ा बैल तथा गौ लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करनेको आर्ष विवाह कहते हैं। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्मका आचरण करना" इस प्रकार कह कर विधिके साथ वरकी पूजा करके कन्यादानका नाम प्राजापत्यविवाह है। स्वेच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको तथा कन्याको धन देकर जो कन्याग्रहण उसे आसुरविवाह कहते हैं। कन्या और वर दोनोंका परस्परके अनुरागसे जो संयोग है उसको गान्धर्व्वविवाह कहते हैं; यह विवाह काममूलक है परन्तु इसमें होम आदिके द्वारा पीछे शास्त्रीयसंस्कार हुआ करता है। कन्याके पक्षके लोगोंको मारकर तथा काटकर और उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्व्वक हरण करके जो विवाह किया जाता है उसको राक्षसविवाह कहते हैं। निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा

और तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह होता है वह अधम और पापजनक विवाह पैशाचविवाह कहा जाता है। इनमेंसे प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा शास्त्रोंमें की गई है और बाकी चार विवाहोंकी निन्दा की गई है। यथा-मनुसंहितामें लिखा है कि:—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्व्वशः ।
ब्रह्मवर्च्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

ब्राह्म दैव आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती हैं। ऐसी सन्तान सुन्दर स्वरूप, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्य्याप्तभोगवान् और धार्मिक होकर शतवर्ष तक जीवित रहती हैं और बाकी चार प्रकारके विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म्म और वेदके विद्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्रीविवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है इसलिये निन्दित विवाहको त्याग देना चाहिये।

शास्त्रोंमें धन लेकर कन्यादानकी बड़ी निन्दा की गई है। यथा-मनुसंहितामें लिखा है कि:—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारियानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥

विचारशील पिता कन्यादान करनेके लिये सामान्य भी धन वरपक्षसे न लेवे क्योंकि लोभसे धन लेलेने पर अपत्यविक्रयीका पाप होता है। पिता आदि आत्मीय लोग मोहके कारण स्त्री-धन उसकी दासी वाहन या वस्त्रादि जो कुछ लेते हैं तथा जो कुछ भोग करते हैं उससे उनकी अधोगति होती है। किसी किसीने गोवध और अपत्य-विक्रय, दोनोंका ही समान पाप कहा है। आर्षविवाह-में जो गोमिथुन लिया जाता है उसको शुल्क नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह धर्म्मकार्य्यार्थ लिया जाता है, भोगार्थ नहीं लिया जाता है। और ऐसी ही मनुजीकी सम्मति है कि धर्म्मकार्य्यार्थ-यज्ञादिके लिये वह लिया जाता है। वरपक्षके लोग स्वेच्छासे प्रीतिके साथ कन्याको कुछ धन देवें, यदि कन्याका पिता उस धनको न लेकर कन्याको देदे तो उसको भी कन्याविक्रय नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह एक प्रकारका उपहारमात्र है। स्त्रीजातिकी पूजाके लिये शास्त्रोंमें आज्ञा भी है। यथः—मनुसंहितामें लिखा है किः—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

जिस कुलमें स्त्रियोंका समादर है वहां देवता लोग प्रसन्न रहते हैं और जहां ऐसा नहीं है उस परिवारमें समस्त यागादि क्रिया वृथा होती हैं।

कन्याविक्रयकी तरह पुत्रके विवाहमें भी कन्याके माता पितासे दबाकर धन लेना एक प्रकारका पुत्रविक्रय है। कन्याके पिताका यह कर्त्तव्य है कि कन्याको कुछ अलङ्कारादि देकर वरके हाथमें समर्पण करे क्योंकि पुत्रकी तरह कन्याका भी अधिकार पिताके धनपर है और यह अधिकार प्राकृतिक है। अलङ्कारादिके द्वारा उस

प्रकृतिकी पूजा करनी चाहिये; अर्थात् उस प्रकृतिसिद्ध अधिकारका पालन करना चाहिये। परन्तु पूजा भी अपनी शक्ति और अपने अधिकारके अनुसार हुआ करती है इसलिये वरके पिताको कन्याके पितासे उसकी शक्तिके अतिरिक्त दबाकर धन कभी नहीं लेना चाहिये। कन्या सुन्दरी है, उसका स्वभाव नम्र है और उसके पिता धर्म्मशील और उसकी माता धर्म्मपरायणा है इत्यादि बातोंका विचार पहले करना चाहिये। यदि ये सब बातें ठीक २ मिल जायँ तो कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये। इतना होनेपर धनके लिये पीड़न करना नीचता और पाप है। इसी पापसे भारतके बहुतसे समाजोंका आजकल अधःपतन होरहा है। पुत्रका भावी सुख और वंशकी उन्नतिपर पिताका लक्ष्य होना चाहिये। अर्थलोभसे कुटुम्बमें विरोध और अशान्ति उत्पन्न करना अधर्म्म और अविचारका कार्य्य है। सामाजिक नेताओंकी दृष्टि इस पर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

गृहस्थाश्रममें शान्ति कल्पतरु है और दाम्पत्यप्रेम उस कल्पतरु-का मूल है। जिस संसारमें पतिपत्नीका परस्पर प्रेम नहीं है वह संसार श्मशान है, दुःख दारिद्र्य तथा अशान्तिरूप प्रेत और पिशाच वहां नृत्य करते हैं। दाम्पत्यप्रेमका सर्व्वप्रधान लक्षण दम्पतिका परस्पर मनोगत आकर्षण है। इस आकर्षणके प्रधानतः चार हेतु हैं। पहला हेतु शरीरी जीवके स्थूल शरीरका धर्म्म है जो स्वाभाविकरूपसे स्त्रीके प्रति पुरुषका और पुरुषके प्रति स्त्रीका आकर्षण उत्पन्न करता है। आकर्षणका दूसरा हेतु सौन्दर्य्यबोध है। पत्नी पतिको और पति पत्नीको अन्य सब पुरुषों और स्त्रियों-की अपेक्षा अधिक सुन्दर देखेंगे, यह भाव उस आकर्षणके मूलमें है। संसारमें सौन्दर्य्यका ज्ञान भिन्न भिन्न होता है। एकके सामने जो सुन्दर है वह दूसरेके सामने सुन्दर होहीगा यह निश्चय नहीं

कहा जासक्ता। सौन्दर्य्य चित्तकी वृत्तिके साथ सम्बन्ध रखता है। वह वृत्ति अवस्था, शिक्षा और संसर्ग आदिके द्वारा स्त्री पुरुषके चित्तमें दाम्पत्यप्रेमको पुष्ट करती है। बालिकापनसे प्रेम भी इस भावको पवित्र और पुष्ट करता है। हिन्दुसमाजमें अल्प-वयस्का कन्याका विवाह करनेकी जो विधि है उसके मूलमें भी यह वैज्ञानिक सिद्धान्त निहित है। आकर्षणका तीसरा हेतु परस्परके गुणोंका बोध है। पति पत्नीके और पत्नी पतिके गुणोंका उत्कर्ष अनुभव करेंगे यह भाव आकर्षणके मूलमें है। पिता माता और श्वशुर सास आदिको वर कन्याके सामने परस्परके रूप और गुणोंकी प्रशंसा करके दोनोंके हृदयमें प्रेमभावको प्रस्फुटित करना चाहिये। दाम्पत्यप्रेम हृदयसरोवरमें प्रफुल्ल कमलकी तरह है। कमलका विकाश धीरे धीरे ही होता है। आकर्षणका चौथा हेतु धर्म्ममूलक प्राणविनिमय है। हिन्दुशास्त्रमें विवाहका संस्कार ही ऐसा है कि जिससे पतिके साथ पत्नीका और पत्नीके साथ पतिका आध्यात्मिक सम्बन्ध बन जाता है। स्त्रीका जीवन पतिके भोग और मोक्षके लिये और पतिका जीवन भोगबाधा दूर करके निवृत्ति-के लिये होना ही विवाहसंस्कारका लक्ष्य है। इस प्रकारका आध्यात्मिक भाव भी कर्त्तव्य बुद्धिके साथ प्रेमको उत्पन्न करता है।

सती स्त्रीका सौभाग्य-अभिमान दाम्पत्यप्रेमको और भी पुष्ट करता है। विशुद्धचित्त स्त्रीपुरुषके हृदय निर्म्मल दर्पणकी तरह परस्परके सम्मुख अवस्थान करते हैं। एकका भाव दूसरेके हृदयमें प्रतिबिम्बित हुआ करता है। "मैं उनके हृदयमें इतना प्रवेश कर गई हूँ कि उनके हृदयके भावके प्रकट न होते होते ही मैं समझ लेती हूँ, उनकी पूजासे ही मेरी पूजा है, उनके रहनेसे ही मेरा रहना है, उनके सुखसे ही मेरा सुख है, मेरे रहनेसे उनको सुख होता है इसलिये मैं रहती हूँ।" इस प्रकारके सौभाग्यका

अभिमान दाम्पत्यप्रेमको चन्द्रकलाकी तरह बढ़ाता हुआ संसारमें शान्तिरूपी अमृतधाराकी वर्षा करता है।

विवाहसंस्कारके बाद इसी प्रकार दाम्पत्यप्रेमके साथ पति पत्नी संसारयात्राको निर्व्वाह करते हैं। इसके लिये जितने कर्त्तव्योंका निर्णय शास्त्रमें किया गया है सो नीचे संक्षेपतः बतलाये जाते हैं। विवाहका मुख्य उद्देश्य प्रजाकी उत्पत्ति करना है इसलिये शास्त्रके अनुकूल गर्भाधान संस्कारके अनुसार सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये। इस विषयमें मनुजीने कहा है किः—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।

एकपत्नीव्रत होकर ऋतुकालमें अपनी स्त्रीमें गर्भाधान करना चाहिये। और भी लिखा है किः—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्राऽर्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः॥
निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राऽश्रमे वसन्॥

पहली चार दिवा रात्रियाँ लेकर स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रियाँ हैं। इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा एकादशी और त्रयोदशी रात्रियाँ ये ६ छः रात्रियाँ निषिद्ध हैं, बाकी १० दस रात्रियाँ स्त्रीगमनके लिये प्रशस्त हैं। इन दसोंमेंसे भी छठी आठवीं दसवीं आदि युग्म रात्रियोंमें गर्भ होने पर पुत्र होता

है और पाँचवी सातवीं नवीं आदि अयुग्म रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे कन्या होती है, इसलिये पुत्रके लिये ऋतुकालकी युग्म रात्रियोंमे ही गमनका विधान किया गया है। अयुग्म रात्रि होने पर भी पुरुषका वीर्य्य अधिक होने पर पुत्र होता है और युग्म रात्रि होने पर भी रजके आधिक्य होनेसे कन्या उत्पन्न होती है और दोनोंके समान होनेसे क्लीब अथवा यमज कन्यापुत्र उत्पन्न होते हैं। और यदि दोनोंके ही रजवीर्य्य असार हों तो गर्भ ही नहीं होता है। इस प्रकार निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रियोंमेंसे कोई भी आठ रात्रियाँ अर्थात् कुल १४ चवदह रात्रियोंमें सम्बन्ध त्याग करके वाकी दो रात्रियोंमें जिनमें कोई पर्व्व न हो, जो पुरुष स्त्री गमन करते हैं वे आश्रममें रहने पर भी ब्रह्मचारी बने ही रहते हैं। पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्द्दशी, अष्टमी और संक्रान्तिको पर्व्वदिन कहा जाता है इस लिये इन दिनोंमें भी स्त्रीसम्बन्ध करना मना है। दिवाभागमें संसर्ग अत्यन्त दोषयुक्त है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है किः—

प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।

दिनमें रतिके द्वारा प्राणमें हानि होती है। सन्ध्याकालमें भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। यमसंहितामें लिखा है किः—

चत्वारि खलु कर्म्माणि सन्ध्याकाले विवर्ज्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम्॥

सन्ध्याकालमें आहार, मैथुन, नींद और स्वाध्याय ये नही करने चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालके समयमें भी संसर्ग प्राणान्तकर है। ऋतुकालकी तो बात ही क्या कहना है, ऋतुकालमें संसर्ग सर्व्वथा त्याग करना उचित है उससे स्त्री पुरुष दोनोंकी ही कठिन पीड़ा, आध्यात्मिक अवनति और प्राणनाश होता है। रजःसंयमका काल साधारणतः चार दिन होने पर भी स्वास्थ्यके व्यतिक्रमसे और अधिक भी हो सक्ता है। इसलिये नियम यह

होना चाहिये कि जब तक रजःसंयम न हो तब तक संसर्ग न हो। उदरमें आहार्य्य द्रव्य अपक रहते स्त्रीपुरुषका संयोग नहीं होना चाहिये। स्त्री अथवा पुरुष किसीके शरीरमें किसी प्रकारकी ग्लानि रहने पर भी स्त्रीसंयोग होना निषिद्ध है। गर्भिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध या रजोदर्शनके पहले सम्बन्ध महापाप है। गर्भिणी स्त्रीके चित्तमें किसी प्रकारके कामभावके उत्पन्न होनेसे गर्भस्थ सन्तान कामुक होती है इसलिये हिन्दुशास्त्रमें उस दशामें पुरुषका सम्बन्ध निषेध किया गया है और बहुत प्रकारके संस्कार तथा धर्म्मभाव बढ़ानेकी आज्ञा की गई है। और स्त्री सम्बन्ध जब सन्तानके लिये है तो उस समय अर्थात् गर्भके समयमें सम्बन्ध वृथा है। गर्भाधान संस्कार शास्त्रीय विधिके अनुसार होना चाहिये जो आगे वर्णन किया जायगा। किसी किसी निरङ्कुश व्यक्तिकी सम्मति है कि स्त्रीसम्बन्धसे निवृत्त रहने पर पुरुषको रोग होजाता है यह सम्पूर्ण मिथ्या है। भीष्मदेवने ब्रह्मचर्य्यसे इच्छामृत्युलाभ किया था, बीमार नहीं होगये थे। अवश्य चित्तमें कामभाव रहनेसे उसके दमन करनेकी इच्छा न करके जो लोग मानसमैथुन किया करते हैं उनको रोग हो सक्ता है परन्तु संयमी ब्रह्मचारी वीर्य्यके बलसे सकल प्रकारकी उन्नति कर सक्ते हैं क्योंकि उनका शरीर नीरोग और दृढ़ होता है, उनमें द्वन्द्वसहिष्णुता और परिश्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है, उनमें आयु और मस्तिष्ककी शक्ति तथा चित्तकी एकाग्रता और मानसिक शक्ति बढ़ती है एवं उनको रोग नहीं होता है।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणाऽतिक्रमेण च॥
अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्म्मणा।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥ (मनुसंहिता)

कुविवाह, श्राद्धादि क्रियालोप, वेद-अध्ययनका अभाव, ब्राह्मणोंका अनादर, अयाज्यका याजन, श्रौत स्मार्त्त कर्म्मोंके प्रति नास्तिक्य बुद्धि और वेदहीनता आदि कारणोंसे कुल नष्ट होजाते हैं। और भी लिखा है किः—

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्याञ्च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥

जिस कुलमें वेदका अध्ययन और वैदिक कर्मका अनुष्ठान होता है वह धनी न होने पर भी कुलोंकी गणनामें उत्कृष्ट और प्रशंसापात्र हुआ करता है। इसलिये गृहस्थको अपने कुल और आश्रमका आचार और नित्यकर्म आदि यथाविधि करने चाहिये।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानञ्च पंक्तिञ्चाऽन्वाहिकीं गृही॥
पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्व्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥

गृही वैवाहिक अग्निमें प्रतिदिन नियमसे गृहकर्म्म करे एवं पञ्च महायज्ञ और पाक क्रिया भी करे। गृहस्थके घर नाना जीवोंके मरनेके स्थान साधारणतः पाँच हैं। यथा—चुल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और कलश। इन पाँच पदार्थोंको काममें लानेसे जीव मरते हैं इसलिये इस प्रकार जीवोंके मरनेसे जो पाप प्रतिदिन अवश्य होता है उससे निस्तार पानेके लिये महर्षियोंने पञ्च

महायज्ञरूप नित्य कर्म्मका विधान किया है। पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, पशु पक्षी आदिकोंको अन्न देना भूतयज्ञ और अतिथिसेवा नृयज्ञका नाम है। यथाशक्ति जो गृहस्थ पञ्चयज्ञका अनुष्ठान करते हैं उनको पञ्च सूनाका पाप नहीं लगता है। पञ्चसूनादोषसे मुक्त होनेके सिवाय पञ्चमहायज्ञके द्वारा किस प्रकार विश्वजीवनके साथ एकता प्राप्त करके मनुष्य मुक्तिपद तक प्राप्त कर सका है इसका पूरा विज्ञान ग्रन्थान्तरमें दिया गया है।

मनुजीने लिखा है कि:—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाऽऽश्रमो गृही॥

जिस प्रकार प्राणवायुके आश्रयसे सभी प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम द्वारा भी अन्य आश्रमोंके लोग जीवित रहते हैं क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी ये तीनों आश्रम ही गृहस्थ द्वारा विद्या और अन्नदानसे प्रतिपालित होते हैं इस लिये गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। गृहस्थके लिये अतिथिसेवाकी महिमा शास्त्रोंमें बहुत ही वर्णित है। गृहस्थ प्रतिदिन बलिवैश्यदेवके अनन्तर सबके पहिले अतिथिको भोजन करावेंगे और भिक्षुक ब्रह्मचारीको भिक्षा देंगे यह आज्ञा मनुजीने की है। पराशरजीने लिखा है कि:—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवताऽर्चनम्।
वैश्यदेवाऽऽतिथेयञ्च षट् कर्म्माणि दिने दिने॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
वैश्यदेवेति सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

न पृच्छेद्गोत्रचरणं न स्वाध्यायव्रतानि च ।
हृदयं कल्पयत्तस्मिन् सर्व्वदेवमयो हि सः ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाऽऽशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।
पितरस्तस्य नाऽश्नन्ति दशवर्षशतानि च ॥
न प्रसज्यति गोविप्रो ह्यतिथिं वेदपारगम् ।
अददन्नमात्रं तु भुक्त्वा भुङ्क्ते तु किल्विषम् ॥

प्रिय या अप्रिय तथा पण्डित या मूर्ख, जैसा ही हो वैश्वदेवके समय उपस्थित होनेपर वही अतिथि कहलावेगा और उसकी सेवा-से स्वर्गलाभ होगा । अतिथिका गोत्र, आचरण, स्वाध्याय और व्रत, कुछ भी न पूछकर प्रेमसे सेवा करना चाहिये क्योंकि अतिथि सर्व्वदेवोंके रूप हैं । अतिथि निराश होकर जिसके घरसे लौट जाता है उसके पितर सहस्र वर्ष पर्य्यन्त अनाहारमें रहते हैं । जो विप्र वेदज्ञको अन्न न देकर भोजन करते हैं वे पाप-भोजन करते हैं । अतिथिके लक्षणके विषयमें मनुजीने कहा है कि जो एकरात्र-मात्र दूसरेके घरमें वास करे वह अतिथि है; अर्थात् अनित्य स्थिति होनेके कारण ही वह अतिथि है । गृहस्थका अन्न भोगके लिये नहीं, परन्तु यज्ञके लिये प्रस्तुत होना चाहिये, क्योंकि भगवान्ने गीतामें लिखा है किः—

यज्ञशिष्टाऽशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

नृयज्ञ, भूतयज्ञ आदिकोंके शेष अन्नको खानेसे सब पापोंसे मुक्ति होती है । जो अपने लिये अन्न पाक करते हैं वे पाप भोजन करते हैं । अपने आधीन या आश्रित जो नौकर आदि हैं उनपर गृहस्थोंकी कृपा रहनी चाहिये । जिनकी स्थिति गृहस्थोंकी दयापर निर्भर है उनपर सब तरहसे दया और स्नेहका बर्त्ताव करना गृहस्थका अवश्य कर्त्तव्य है । ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्यासे उठ कर शौचादिसे निश्चिन्त

होकर प्रातःसंध्या और गायत्रीजप करना और इसी तरह सायङ्काल-को भी गायत्रीजप करना चाहिये। मनुजीने लिखा है कि:—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्च्चसमेव च॥

ऋषिलोग दीर्घ काल तक सन्ध्या करनेसे दीर्घायु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेजको प्राप्त किया करते थे। सन्ध्या और पञ्च महायज्ञ गृहस्थके नित्यकर्म हैं, इनके न करनेसे पाप होता है इस लिये इन दोनों कर्म्मोंमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। सन्ध्योपासनाके अतिरिक्त गुरुसे दीक्षा लेकर इष्टदेव पूजा, जप और प्राणायाम मुद्रा आदि साधन करना चाहिये। अब मनुसंहिता-मेंसे गृहस्थाश्रममें पालन करने योग्य कर्त्तव्योंका निर्देश किया जाता है।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥
सन्तोषं परमास्थाय सुखाऽर्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्य्ययः॥
इन्द्रियाऽर्थेषु सर्व्वेषु न प्रसज्जेत कामतः।
अतिप्रसक्तिञ्चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत्॥

जिससे जीवोंका कुछ भी अनिष्ट न हो या अभावपक्षमें उनको समान्य ही कष्ट हो, इस प्रकारकी वृत्ति आपत्काल भिन्न और सब समयमें आश्रय करके गृहस्थ जीवनयात्रा निर्व्वाह करे। केवल संसारयात्रा निर्व्वाहके लिये हो शरीरको कष्ट न देकर अनिन्दित कर्म्मोंसे धनसञ्चय करना चाहिये। सुखार्थी मनुष्य सन्तोषको आश्रय करके ही संयत रहे क्योंकि संतोष ही सुखका मूल और

असन्तोष दुःखका कारण है। इच्छासे किसी इन्द्रियके विषयमें आसक्त नहीं होना चाहिये, मनोबलसे इन्द्रियोंमें अत्यासक्ति परित्याग करनी चाहिये।

अग्निहोत्रञ्च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चाऽर्द्धमासाऽन्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥

उदित होमकारी दिन और रात्रिके पहले और अनुदित होमकारी दिन और रात्रिके अन्तमें अथवा उदित होमकारी दिनके पहले और अन्तमें और अनुदित होमकारी रात्रिके पहले और अन्तमें सदा अग्निहोत्र करें। कृष्णपक्ष पूर्ण होने पर दर्शनामक यज्ञ और पूर्णिमामें पौर्णमासनामक यज्ञ करें।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥
रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥
नाऽश्नीयाद्भार्य्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाऽश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चाऽऽसीनां यथासुखम् ॥

कामसे उन्मत्त होनेपर भी रजोदर्शनके निषिद्ध चार दिन कदापि स्त्रीगमन न करे और न स्त्रीके साथ सोवे। रजस्वला स्त्रीसे गमन करने पर पुरुषके तेज, प्रज्ञा, बल, चक्षु और आयु सब ही नष्ट होजाते हैं। स्त्रीके साथ भोजन न करे, जिस समय वह भोजन कर रही है उस दशामें उसको न देखे और छींकने, जँभाई लेनेके समय या यथासुख बैठनेके समय भी उसको न देखे।

नाऽन्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्।
न मूत्रं पथि कुर्व्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥
"रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्"।
"न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्"।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नाऽऽर्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥

एक वस्त्र पहनकर अन्न नहीं खाना चाहिये । विवस्त्र होकर स्नान नहीं करना चाहिये । रास्ते पर, भस्ममें या गोचारण स्थानमें मल मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये । रातको वृक्षके नीचे नहीं रहना चाहिये । नग्न होकर नहीं सोना चाहिये । उच्छिष्टमुखसे चलना नहीं चाहिये । आर्द्रपाद होकर (पैर धोकर) भोजन करना चाहिये परन्तु आर्द्रपादसे शयन नहीं करना चाहिये । आर्द्रपाद होकर भोजन करनेसे दीर्घायु लाभ होता है ।

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥
बालाऽऽतपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥

दूसरेके धारण किये हुए जुते, वस्त्र, अलङ्कार, जनेऊ, माला तथा कमण्डलु धारण नहीं करने चाहिये । उदय होते हुए सूर्य्यका ताप, चिताका धूम और भग्न आसन, ये सब त्याज्य हैं । स्वयं नख तथा रोमका छेदन या दाँतसे नख-छेदन नहीं करना चाहिये । दोनों हाथोंसे सिर खुजलाना नहीं चाहिये । उच्छिष्टमुख होने पर सिरको नहीं छूना चाहिये । सिर धोये बिना स्नान नहीं करना चाहिये ।

अमावास्यामष्टमीञ्च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥
न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नाऽतुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाऽजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायञ्चैव वैरिणः ।
अधार्म्मिकं तस्करञ्च परस्यैव च योषितम् ॥
न ह्रीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा तथा चतुर्द्दशी, इन तिथियोंमें और स्त्रीके ऋतुस्नाता होने पर भी स्नातक द्विज कदापि स्त्रीगमन न करे। भोजनके बाद स्नान नहीं करना चाहिये। पीड़ित अवस्थामें, मध्य रात्रिमें, बहुत वस्त्र पहन कर अथवा अज्ञात जलाशयमें कभी स्नान नहीं करना चाहिये। शत्रुकी, शत्रुके सहायककी, अधार्म्मिक-की, चोरकी तथा परस्त्रीकी सेवा नहीं करनी चाहिये। परस्त्रीगमन करनेसे जितना आयुःक्षय होता है उतना और किसीसे नहीं होता है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः ॥
अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवाऽसनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥

सत्य और प्रिय वचन कहना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिये। प्रिय होने पर भी मिथ्या नहीं कहना चाहिये। यही सनातन धर्म्म है। गृहागत वृद्धोंको प्रणाम तथा आसन देना चाहिये। उनके सामने कृताञ्जलि हो रहना चाहिये। और उनके जानेके समय थोड़ी दूर तक पीछे पीछे जाना चाहिये।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्म्मसु ।
धर्म्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धर्म्ममक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

सर्व्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

आलस्य त्याग करके श्रुति स्मृतिके अनुकूल, अपने वर्णाश्रम धर्म्मद्वारा विहित और सकल धर्म्मोंके मूलस्वरूप सदाचार समूहका पालन करें। आचार पालनसे आयु, उत्तम सन्तति तथा यथेष्ट धन-लाभ होता है और कुलक्षणोंका नाश होता है। दुराचारी पुरुष लोकसमाजमें निन्दित, सदा ही दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होते हैं। सकल प्रकारके शुभ लक्षणोंसे हीन होने पर भी आचारवान्, श्रद्धालु और दोषदर्शनप्रवृत्तिरहित मनुष्य सौ वर्षतक जीवित रहते हैं।

यद्यत्परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्ज्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥
सर्व्वं परवशं दुःखं सर्व्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
यत्कर्म्म कुर्व्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्व्वीत विपरीतं तु वर्ज्जयेत्॥

परवश सभी कर्म्म यत्नसे परित्याग करे और आत्मवश कर्म्म यत्नसे करे। परवश कर्म्म सभी दुःखद हैं और आत्मवश सभी सुखदायी हैं। सुख दुःखका यही संक्षेपसे लक्षण जाने। जिस कर्म्मसे आत्माका सच्चा सन्तोष हो वही यत्नसे करना चाहिये। और जिस कर्म्मसे अन्तरात्मामें ग्लानि उत्पन्न हो ऐसा कर्म्म नहीं करना चाहिये।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेभ्यो न समाचरेत्।'

जिस कर्म्मसे अपनी आत्मा दुःखी हो ऐसा आचरण दूसरेके साथ भी नहीं करना चाहिये, यह महाभारतका वचन है।

न सीदन्नपि धर्म्मेण मनोऽधर्म्मे निवेशयेत्।
अधार्म्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्य्ययम्॥
नाऽधर्म्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म्मवर्जितौ।
धर्म्मञ्चाऽप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

अधार्म्मिक लोगोंका शीघ्र ही नाश होता है, ऐसा जानकर धर्म्मसे आपाततः असुविधा होने पर भी अधर्म्म नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार खेतीमें बीज बोनेसे उसी समय फल नहीं देता है उसी प्रकार अधर्म्मका भी फल साधारणतः उसी समय नहीं मिलता है, परन्तु कुछ दिनोंके बाद यथाकाल अधर्म्माचारी समूल विनाशको प्राप्त होता है। धर्म्मविरुद्ध अर्थ तथा काम त्याग करने चाहियें। और जिस धर्म्मकार्य्यसे आगे असुविधा हो, कष्ट हो अथवा जो लोकविरुद्ध हो ऐसा धर्म्मकार्य्य भी नहीं करना चाहिये। सभी धर्म्मकार्य्य देश काल पात्रके अनुसार होनेसे ही सुखदायी होते हैं।

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्ज्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याऽऽशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥

माता, पिता, भगिनी, पुत्रवधू, पुत्र, स्त्री, कन्या, भ्राता, नौकर आदिके साथ कभी झगड़ा करना नहीं चाहिये। प्रतिग्रहकी शक्ति रहने पर भी प्रतिग्रहमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रतिग्रहके द्वारा शीघ्र ब्रह्मतेज नष्ट होता है।

न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नाऽवेदविदि धर्म्मवित्॥

दानधर्म्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥

विडालतपस्वी, बकव्रती या वेदज्ञानहीन द्विजको जलमात्र प्रदान भी धार्मिक पुरुषको नहीं करना चाहिये। अपात्रमें दान करनेसे दाता तथा ग्रहीता दोनोंको ही नरक होता है। विद्या तथा तपस्यायुक्त पात्र मिलनेसे सन्तोषके साथ यथाशक्ति इष्टापूर्त्तादि तथा दानधर्मका अनुष्ठान करना चाहिये।

सर्व्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्प्पिषाम् ॥

जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना तथा सर्पिः इन सब वस्तुओंके दानसे विद्यादान ही श्रेष्ठ है।

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥

कुलकी उन्नति करनेके लिये विद्या तथा आचारसे युक्त उत्तम उत्तम कुलोंके साथ कन्यादानादिसे सम्बन्ध करे और अधम कुलोंके साथ सम्बन्ध त्याग करे।

वाच्यार्था नियताः सर्व्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्व्वस्तेयकृन्नरः ॥

सकल पदार्थ ही वाक्यमें नियत और वाक्यमूलक हैं एवं वाक्यसे ही सब पदार्थ निर्गत हुए हैं, इसलिये जो मनुष्य मिथ्या बोलकर वाक्यका अपलाप करता है वह सब प्रकारसे चोर है।

नाऽमुत्र हि सहायाऽर्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्म्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

विचार करनेपर यह भी निश्चय होगा कि इन सब सदाचारोंमें आध्यात्मिक तथा मानसिक उन्नतिके सिवाय शारीरिक उन्नतिके लिये पदार्थविद्या (सायन्स) की भित्ति भी महर्षियोंने रक्खा है। कोई भी आचार सायन्सके विरुद्ध नहीं है। महर्षियों-की वैज्ञानिक बुद्धि दैनिक सदाचारोंमें भी त्रिविध उन्नतिके लिये युक्ति बताती है। एक दो दृष्टान्त देकर समझाया जाता है पहले बताया गया है कि "रातको वृक्षके नीचे नहीं सोना चाहिये" यह आज्ञा महर्षियोंने हजारों वर्ष पहलेसे की है। परन्तु आज सायन्सके जाननेवालोंने इसका पता लगाकर देखा है कि महर्षियोंकी आज्ञा वास्तवमें सायन्सके अनुकूल थी। वृक्षकी प्रकृति दिनमें आक्सिजन (Oxygen) त्याग करनेकी और कार्बन डायक्साइड (Carbon dioxide) ग्रहण करनेकी है। आक्सिजन मनुष्यके शरीरके लिये परम हितकारी है इसलिये दिनमें वृक्षके नीचे बैठनेसे आक्सिजनके द्वारा शरीरको विशेष उपकार पहुंचता है; अतएव महर्षिलोग वृक्षके नीचे बैठ शिष्योंको उपदेश करते थे। परन्तु रातको वृक्ष आक्सिजन लेता है और कार्बन डायक्साइड् त्याग करता है इसलिये रातको वृक्षके नीचे रहनेसे आक्सिजन कम मिलता है और कार्बन डायक्साइड् अधिक मिलता है। कार्बन डायक्साइड मनुष्यके शरीरको नष्ट करता है अतः रातको वृक्षके नीचे रहनेसे वृक्षसे निकले हुए कार्बन डायक्साइड्के द्वारा शरीरको बहुत ही हानि पहुँचेगी। अतः महर्षियोंने लिखा है कि रातको वृक्षके नीचे नहीं रहना चाहिये। इसी प्रकार "उत्तर दिशामें मस्तक रखकर नहीं लेटना चाहिये" यह आज्ञा भी महर्षियोंने की है जो कि सायन्स के पूर्ण अनुकूल है। सब ही सायन्सवेत्ता लोग जानते हैं कि पृथिवी एक बड़े भारी चुम्बककी तरह सब पदार्थोंको खींचती है। पृथिवी-का वह आकर्षण उत्तर दिशासे जारी है इसलिये उत्तर दिशामें

इहलोक परलोक दोनोंमें ही देखनेमें आती है। श्राद्ध तर्पण आदि द्वारा पुत्र परलोकमें शान्ति तथा उन्नति तो मातापिताकी करते ही हैं, अधिकन्तु मायामय संसारमें बद्ध पिता माताकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इहलोकमें भी पुत्र निमित्तरूप होते हैं। जीव भाव स्वार्थमूलक है। सन्तान होनेसे पिता माताके इस स्वार्थमें बहुत ही सङ्कोच हुआ करता है। सन्तानके सुखके लिये पिता माता अपनी सुखेच्छा तथा स्वार्थबुद्धिको तिलाञ्जलि देते हैं इससे उनकी उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

सर्वत्र विजयं हीच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

सर्वत्र विजय चाहनेपर भी लोग अपने पुत्रसे पराजय चाहते हैं। अपने पुत्रको अपनेसे भी गुणवान् देखनेकी इच्छा पिता माताकी हुआ करती है। यह भाव अहङ्कारका नाश करके गृहस्थकी आध्यात्मिक उन्नति करता है। अपने चालचलनमें दोष होनेसे पुत्र भी बिगड़ जायगा और अपनेमें मितव्ययिता, सदाचार, स्वास्थ्यरक्षाप्रवृत्ति आदि गुण न होनेसे पुत्र भी अमितव्ययी, दुराचारी तथा रोगी होगा, ये सब भाव माता पिताको सच्चरित्र, मितव्ययी, सदाचारी तथा नीरोग बननेमें सहायता करते हैं। इस प्रकारसे सन्तान इहलोकमें भी पिता माताके नरकत्राणमें निमित्तरूप होती है। प्रत्येक गृहस्थ पिता माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानके सामने वे ही सब आदर्श रक्खें जिनसे अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानके भी उन्नति हो और दिनबदिन वंशगौरवकी प्रतिष्ठा हो सन्तानकी शिक्षाविषयमें पिता माताको ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा पूर्वसंस्कारोंके अनुकूल होनेसे ही ठीक ठीक उन्नति हो सकती है। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिता विद्या पूर्वजन्माऽर्ज्जितं धनम्।
पूर्वजन्माऽर्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

इस प्रकारसे स्नातक द्विज गृहस्थाश्रमधर्म्मको पालन करके यथाविधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि वार्द्धक्यका लक्षण हो रहा है और पुत्रका पुत्र हो गया हो उसी समय वानप्रस्थ हो जाय। ग्रामके आहार तथा परिच्छद परित्याग करके तथा स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीके साथ ही वनमें जावे। ये सब आज्ञाएँ मनुजीने की हैं। श्रीमहाभारतमें लिखा है किः—

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥

पुत्र स्त्री और कुटुम्बमें आसक्त होकर मनुष्य दलदलमें फँसे हुए वृद्ध वन्य हस्तीकी तरह दुःख पाता है। विषयमूलक प्रवृत्ति-मार्गमें रति ही जीवका संसारबन्धन रज्जु है। पुण्यात्मा लोग इसको छेदन कर सकते हैं परन्तु पापी इसको छेदन नहीं कर सक्ता है। विषयका ध्यान, वैषयिक पुरुषोंका सङ्ग और विषयोंके कार्योंमें दिनभर लगे रहना, इन सबोंसे मनुष्य बन्धनको प्राप्त होता है इसलिये गार्हस्थ्याश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थताके बाद निवृत्तिमूलक संन्यासके द्वारा निःश्रेयस पदप्राप्तिके लिये उद्योग करना द्विजगणका अवश्य कर्त्तव्य होनेसे वानप्रस्थाश्रमकी विधि

अथवा शाक मूल तथा फलोंके द्वारा प्रतिदिन विधिपूर्वक पञ्च महायज्ञका अनुष्ठान करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूताऽनुकम्पकः॥
"जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च"।
"अप्रयत्नः सुखाऽर्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।"
एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥

वानप्रस्थ सदा ही स्वाध्यायमें रत रहे। द्वन्द्वसहिष्णु, परोपकारी, संयमी, दाता, प्रतिग्रहनिवृत्त और सकल जीवोंके प्रति दयाशील हो। जटा, श्मश्रु, नख तथा लोम धारण करे। सुखकर विषयमें अयत्नशील, ब्रह्मचारी तथा भूमिशय्याशायी हो। वानप्रस्थाश्रमी ये सब नियम और अन्य भी तपोवृद्धिकर बहुत नियमोंका पालन करे एवं आत्माकी उन्नतिके लिये उपनिषद् आदि बहुत प्रकारकी श्रुतियोंका अभ्यास करे। ऋषिगण, ब्राह्मणगण और गृहस्थगण भी ज्ञान तथा तपस्यावृद्धि और शरीरशुद्धिके लिये उपनिषदोंकी ही सेवा करते हैं।

उपस्पृशँस्त्रिषवणं पितृन्देवाँश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः॥
अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥

शक्तिके अनुसार त्रैकालिक स्नान करके देवता तथा पितरोंका तर्पण करे और तीव्र तपस्या द्वारा शरीरशोषण करे। श्रौताग्नि-

भिक्षावृत्तिको आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्यमें निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पुण्य पापसे मुक्त होकर उत्तरायण पथसे अमृत अव्यय पुरुषके लोकमें अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रमका संक्षेपसे रहस्य वर्णन किया गया, इसको अपने अपने अधिकार और देश कालसे मिलाकर अनुष्ठान करने पर त्रिविध तप तथा संयमके द्वारा निवृत्तिभावका अभ्यास होगा जिससे द्विजगण चतुर्थाश्रमके अधिकारी बन सकेंगे।

(संन्यासाश्रम)

संक्षेपसे चतुर्थ अर्थात् संन्यासाश्रमका कुछ वर्णन किया जाता है। निवृत्तिकी पराकाष्ठामें स्वरूपकी उपलब्धि द्वारा मोक्ष लाभ करना ही इस आश्रमका लक्ष्य है।

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥

इस प्रकार आयुका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें यापन करके चतुर्थभागमें निःसङ्ग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण करते हुए अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जिते-न्द्रियताके साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मोंसे श्रान्त हो तब संन्यास ग्रहण करनेसे परलोकमें उन्नति होती है। यह संन्यासका साधारण क्रम है। असाधारण दशामें ब्रह्मचर्य्य-आश्रमसे ही प्रारब्धबलसे एकबार ही संन्यासाश्रम ग्रहण होता है जैसा कि पहले कहा गया है।

ब्रह्ममें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव हैं, इस लिये कार्य्यब्रह्मरूपी इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भी तीन भाव हैं

हैं। जीवोंमें ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जब तक ऐसी परिच्छिन्नता है तब तक जीव बद्ध है। मुक्तिके लिये अपनी सत्सत्ताको उदार करके विराट्की सत्तामें विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भावकी पूर्णता नहीं हो सकती है। संसारको भगवान्का रूप जानकर निष्काम जगत्सेवामें प्रवृत्त होनेसे साधक अपने जीवनको विश्व-जीवनके साथ सहज ही मिला सकते हैं और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट्की सत्तासे मिल सकती है। यही संन्यासाश्रममें मुक्तिका प्रथम अङ्ग है इसलिये संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्म करना चाहिये, अन्यथा पूर्णता नहीं होगी। और तमःप्रधान कलियुगमें तो निष्काम कर्म्मकी बहुत ही आवश्यकता है क्योंकि इस युगमें कालधर्म्मके अनुसार तमोगुणका प्रभाव सर्वत्र रहता है जिससे कर्म्महीन पुरुषमें आलस्य प्रमाद आदिका होना बहुत ही सम्भव है। इसलिये निष्कामव्रतपरायण न होनेसे कलियुगके संन्यासियोंमें आलस्य प्रमाद आदि बढ़कर पतन होनेकी विशेष सम्भावना रहेगी। अतः अपने स्वरूपमें स्थित रहकर संन्यासका चरम लक्ष्य निःश्रेयस-पद प्राप्त करनेके लिये कलियुगमें संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्मयोगी होना चाहिये। इससे उनका पतन नहीं होगा। यही वेद और शास्त्रोंकी आज्ञा है। अवश्य, संन्यासधर्म्मपरायण व्यक्तिको जगत्को भगवान्का रूप मानकर और जगत्सेवाको भगवत्सेवा मानकर शुद्ध निष्काम तथा भक्तियुक्त होकर कार्य्य करना चाहिये। उसमें वित्तैषणा या लोकैषणा आदि दोष कभी नहीं होने चाहिये। श्रुति कहती है किः—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीनों एषणाओंके छूटने पर तब यथार्थ संन्यासी हो सकते हैं। इस प्रकार निष्काम कर्म्म

जिससे किसी जीवको भय नहीं होता है उसको भी देहत्यागके अनन्तर किसीसे कोई भय नहीं रहता है।

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥
नाऽभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥
अतिवादाँस्तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित्॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्यादाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वाराऽवकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत्॥

पवित्र दण्ड कमण्डलु आदि लेकर घरसे निकले और जो कुछ इन्द्रियविषय प्राप्त हों सभीमें लालसाशून्य तथा निरपेक्ष होकर विचरण करे। जीवन या मरण किसीकी इच्छा न करे और अपना कर्त्तव्य करते हुए प्रभुभक्त दासकी तरह कालभगवान्की प्रतीक्षा करे। अपमानजनक वाक्योंको सहन करे और किसीका अपमान न करे एवं नश्वर देहको प्राप्त करके किसीसे शत्रुता न करे। किसीके क्रोध करने पर भी उसके प्रति उलटा क्रोध न करे, किसीके आक्रोश करके कुछ कहने पर भी कुशल वाक्य ही कहे और धर्म्म अर्थ काम आदि सप्तद्वारविषयक वाक्यको मिथ्यासे कलुषित न करे।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखाऽर्थी विचरेदिह॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राऽङ्गविद्यया।
नाऽनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥

सर्व्वदा ब्रह्मभावमें ही मग्न रहे, सकल विषयोंमें निरपेक्ष तथा लोभशून्य हो और आत्माको ही सहायक तथा सुखदायक मानकर विचरण करे। भूचाल आदि उत्पात या वामाङ्गस्पन्दन आदि

धर्म्मार्थप्रभवञ्चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥
सूक्ष्मताञ्चाऽन्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥

कर्म्मदोषके कारण जीवकी नाना प्रकारकी गति, नरकप्राप्ति तथा यमयातना आदि सर्व्वदा चिन्ता करे। प्रिय लोगोंसे वियोग, अप्रियोंका संयोग, जराका प्रभाव, रोगसे पीडन, शरीरसे निकलना, पुनः गर्भवास दुःख और कोटि कोटि योनियोंमें निरन्तर भ्रमण, इन सबोंका रहस्य चिन्ता करे। जीवका सब दुःख अधर्म्मसे ही उत्पन्न होता है और नित्यसुखकी प्राप्ति धर्म्मसे ही होती है इसको निश्चय जाने एवं इसी लिये योगद्वारा परमात्माके अन्तर्य्यामित्व और नीरूपत्व आदि स्वरूपकी उपलब्धि करे क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा है कि:—

अयन्तु परमो धर्म्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्।

योगके द्वारा आत्मका दर्शन करना ही परम धर्म है। तथा उत्तम अधम सकल भूतोंमें परमात्माका अधिष्ठान है ऐसी चिन्ता करे।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान् ॥
यदा भावेन भवति सर्व्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवाऽवतिष्ठते ॥
अनेन क्रमयोगेन परित्यजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥

अतः इस समय संन्यासाश्रमकी यथार्थ उन्नति कैसे हो यह एक बड़ी भारी चिन्ताका विषय है।

जीवकी स्वाभाविक गति पतनकी ओर है। उन्नतिकी ओर दृढ़व्रत होकर दृष्टि न रखने पर मनुष्यका गिर जाना अवश्यम्भावी है, यह विषय पहले ही विज्ञान द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। आर्य्यजातिको इस प्रकारकी पतनदशासे बचानेके लिये वर्ण तथा आश्रमधर्मकी आज्ञा वेदोंने की है। वर्णधर्मसे प्रवृत्तिकी निम्न गतिसे बचाकर और आश्रम धर्मसे मनुष्यसमाजको क्रमशः उन्नत करके आर्य्यजातिको चिरस्थायी करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मकी विधि है।

आजकलके देशकालानुसार चारों आश्रमोंके धर्म यथासम्भव अवश्य पालन होने चाहिये, तभी आर्य्यजाति जीवित रहेगी और इसकी पुनरुन्नति होना अवश्य सम्भव होगा।

विशेषधर्म्मके सम्बन्धसे वर्णधर्म और आश्रमधर्मके दोनों अध्यायोंमें जो धर्म वर्णित हुए हैं वे सब आर्य्यजातिके लक्ष्यसे ही वर्णन किये गये हैं। आर्य्यजातिसे अनार्य्यजातिकी विशेषताके जितने लक्षण हैं उनमेंसे वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म सर्वप्रधान है जिसका विस्तारित विवरण अन्य अध्यायमें किया गया है। इन दोनों अध्यायोंमें वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मकी वैज्ञानिक भित्ति, वर्णधर्म मनुष्यजातिकी विषय-प्रवृत्तिको रोकता है इसका रहस्य, आश्रमधर्म मनुष्यजातिको निवृत्ति मार्गकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुंचा देता है इसका विज्ञान, सत्त्व रजः तम इन तीन गुणोंके भेदसे चार वर्णोंकी व्यवस्था स्वाभाविक कैसे है, ब्राह्मणवर्ण, क्षत्रियवर्ण, वैश्यवर्ण तथा शूद्रवर्ण, ये चारों वर्ण किस प्रकारसे एक दूसरेकी सहायता करते हुए आर्य्यजातिकी आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होकर इस जातिकी जीवनरक्षा करते हैं, ब्रह्मचर्य्य-आश्रम और गृहस्थाश्रम कैसे प्रवृत्तिके फन्देसे मनुष्य

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत

का

प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना और (२) धर्म रहस्य सम्बन्धीय मौलिक पुस्तकोंका उद्धार और प्रकाश करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है, विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है; परन्तु अभी तक यह कार्य संतोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलने अब इस विभागको उन्नत करनेका विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि वक्ता एक दो वार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवाय सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियोंके योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नतिके लिये, भारत गौरवकी रक्षाके लिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्व साधारणसे प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवं इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी। ग्रन्थमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं उसकी सूची नीचे प्रकाशित की जाती है।

(५) जो धर्मसभा इस धर्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग,
श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय, जगतगंज, बनारस।

इस विभाग द्वारा प्रकाशित समस्त धर्मपुस्तकोंका विवरण।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंके धर्म्म शिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गयी है। इसकी सात आवृत्तियां छपचुकी हैं। अपने बच्चोंकी धर्म्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मंगवाना चाहिये। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। इस पुस्तकी बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। इसका बंगला अनुवाद छप चुका है। हिन्दूमात्र को अपनी अपनी कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक मंगवानी चाहिये। मूल्य -) आना

धर्मसोपान। यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्म्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। मूल्य ।) चार आना

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्यकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ≡) तीन आना

साधनसोपान। यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छपचुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे ही इस पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य ≡)

भक्तिदर्शन । श्रीशाण्डिल्य सूत्रोंपर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अति विस्तृत भूमिकासहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दीका यह एक असाधारण ग्रन्थ है। ऐसा भक्तिसम्बंधी ग्रन्थ हिन्दीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्तिके विस्तारित रहस्योंका ज्ञान इस ग्रन्थके पाठ करनेसे होता है। भक्तिशास्त्रके समझनेकी इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान्में भक्ति करनेवाले धार्मिकमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मू० १)

योगदर्शन । हिन्दीभाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो। इस भाष्यके निर्माणमें पाठक उक्त विषयकी पूर्णता देखेंगे। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बनादिया गया है कि जिससे पाठकोंको मनोनिवेश पूर्वक पढ़ने पर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी और ऐसा प्रतीत होगा कि महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानो एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तयार है इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है। मूल्य २)

दैवीमीमांसा दर्शन प्रथम भाग । वेदके तीन काण्ड हैं, यथाः—कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डका वेदान्त दर्शन, कर्म्मकाण्डका जैमिनी दर्शन और भरद्वाज दर्शन और उपासनाकाण्डका यह अङ्गिरा दर्शन है। इसका नाम दैवीमीमांसा दर्शन है। यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं,यथाः—प्रथम रसपाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टि पाद, तीसरा स्थिति पाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद,

अध्याय हैं, यथा—आर्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधि प्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ साधन। यह ग्रंथरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रंथ है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रंथको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है। इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रंथका आदर सारे भारतवर्षमें समान रूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १) एक रुपया।

श्रीभगवद्गीता प्रथम खण्ड। श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजी पर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं परन्तु इस प्रकारका भाष्य आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) रुपया

तत्त्वबोध। भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशंकराचार्यकृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना

स्तोत्रकुसुमाञ्जलि मूल। इसमें पञ्चदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र स्थानोंकी स्तुति, वेदान्त प्रतिपादक स्तुतियाँ और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मूल्य ।) आना

निगमागमचन्द्रिका। प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकती हैं। प्रत्येकका मूल्य १) एक रुपया।

पहले पांच सालके पांच भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़

नहीं होगा और वह परमशान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यास-गीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्न्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्न्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्म-ज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डलप्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राज-योगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्त्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंका उपकारी यह ग्रन्थ है। इसका अनुवाद बंगभाषामें भी छप चुका है। पाठक इन सातों गीताओंको मंगाकर देख सकते हैं। विष्णुगीताका मूल्य ।॥) सूर्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य ।॥) धीशगीताका मूल्य ॥) शंभुगीताका मूल्य ।॥) सन्न्यासगीताका मूल्य ।॥) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव सूर्य्यदेव भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। इनके अतिरिक्त शम्भुगीतामें प्रकाशित वर्णाश्रयबन्ध नामक अद्भुत और अपूर्व चित्र भी सर्वसाधा-रणके देखने योग्य है।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो,
महामण्डलभवन, जगतगंज बनारस।

धार्मिक विश्वकोष।

(श्रीधर्म्मकल्पद्रुम)

यह हिन्दुधर्म्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है उनमेंसे सबसे बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि जिसके अध्ययन-अध्यापनके द्वारा सनातन धर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको

इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। यह ग्रन्थ चौसठ अध्याय और आठ समुल्लासोंमें पूर्ण होगा और बृहत् ग्रन्थ रायल साइजके चार हज़ार पृष्ठोंसे अधिक होगा तथा बारह खण्डोंमें प्रकाशित होगा। इसीके अन्तिम खण्डमें आध्यात्मिक शब्दकोष भी प्रकाशित करनेका विचार है। इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयके द्वितीय संस्करणका २), चतुर्थका २) पंचमका २) और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागज़ पर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। सातवाँ खण्ड यन्त्रस्थ है।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो,
महामण्डलभवन, जगत्गंज, बनारस।

श्रीरामगीता।

यह सर्वजीवहितकर उपनिषद् ग्रन्थ अबतक अप्रकाशित था। श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायण नामक एक विराट ग्रन्थ है, उसीके अन्तर्गत यह गीता है। इसके १८ अध्याय हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं, १-अर्यांध्यामण्डपादिवर्णन, २-प्रमाणसारविवरण, ३-ज्ञान योगनिरूपण, ४-जीवन्मुक्तिनिरूपण, ५-विदेहमुक्तिनिरूपण, ६-वासनात्रयादिनिरूपण, ७-सप्तभूमिकानिरूपण, ८-समाधिनिरूपण, ९वर्णाश्रमव्यवस्थापन, १०-कर्मविभागयोगनिरूपण, ११-गुणत्रयविभागयोगनिरूपण, १२-विश्वरूपनिरूपण, १३-तारकप्रणवविभागयोग, १४-महावाक्यार्थविवरण, १५-नवचक्रविवेकयोगनिरूपण, १६-अणिमादिसिद्धिदूषण; १७-विद्यासन्ततिगुरुतत्त्वनिरूपण, १८-सर्वाध्यायसङ्गतिनिरूपण। कर्म उपासना और ज्ञानका अद्भुत सामञ्जस्य इस ग्रन्थमें दिखाया गया है। विषयोंके स्पष्टीकरणके लिये ग्रन्थमें ७ त्रिवर्ण चित्र भी दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं— १—श्रीराम, सीतामाता, वीरलक्ष्मण, २—श्रीराम लक्ष्मण और जटायु, ३—श्रीराम, सीता और हनुमान्, ४—बृहत् श्रीरामपञ्चायतन, ५—श्रीसीताराम, ६—श्रीरामपञ्चायतन ७—श्रीराम हनुमान्। इनके सिवाय इसके सम्पादक स्वर्गीय श्रीदरबार महा-

अंग्रेजी भाषाके धर्मग्रन्थ।

भारतधर्म्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित सब संहिताओं, गीताओं और दार्शनिक ग्रन्थोंका अंग्रेजी अनुवाद तयार हो रहा है जो क्रमशः प्रकाशित होगा। सम्प्रति अंग्रेजी भाषामें एक ऐसा ग्रन्थ छप गया है जिसके द्वारा सब अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियोंको सनातन धर्मका महत्त्व, उसका सर्वजीवहितकारी स्वरूप, उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टितत्त्व, कर्म्म तत्त्व, वर्णाश्रमधर्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े बड़े विषय अच्छी तरह समझमें आ जावें। इसका नाम "वर्ल्ड्स इटरनल रिलिजन" है। इसका मूल्य रायल एडीशनका ५) और साधारणका ३) है। दोनोंमें जिल्द बंधी हुई है और सात त्रिवर्ण चित्र भी दिये हैं।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो

महामण्डलभवन, जगतगंज बनारस।

विविधविषयोंकी पुस्तकें।

असभ्यरमणी =) अनार्यसमाजरहस्य ≡) अन्त्येष्टिक्रिया ।) आनन्द रघुनन्दन नाटक ।।) आचार प्रबन्ध १) इङ्गलिशग्रामर ।) उपन्यास कुसुम ≡) एकान्तवासी योगी ~) कल्किपुराण उर्दू ॥) कार्तिकप्रसादकी जीवनी =) काशीयुक्ति विवेक ।~) गोवंशचिकित्सा ।) गोपीनावली ~) ग्वीसेफमेजिनी ।) जैमिनीसूत्र ।) तर्कसंग्रह ।~) दुर्गेशनन्दिनी द्वितीय भाग ।=) देवपूजन ~) देशीकरघा ॥) धनुर्वेद संहिता ।) नवीन रत्नाकर भजनावली)। न्याय दर्शन ~) पारिवारिक प्रबन्ध १) प्रयाग माहात्म्य ॥=) प्रवासी =) बारहमासी ~) बालहित ~)॥ भक्तसर्वस्व =) भजनगोरक्षाप्रकाश मञ्जरी)॥ मानस मञ्जरी ।) मेगास्थनीजका भारतवर्षीय वर्णन ॥=) मङ्गलदेव पराजय =) रागरत्नाकर २) रामगीता ≡) राशिमाला)॥ बसंतशृङ्गार ≡) वारेन्हेस्टिङ्गकी जीवनी १) वीरबाला ।॥) वैष्णवरहस्य)॥ शारीरिकभाष्य ।) शास्त्रीजीके दो व्याख्यान ॥=) सारमञ्जरी ।) सिद्धान्तकौमुदी २) सिद्धान्तपटल ~) सुजानचरित्र २) सुनारी ।) सुबोध व्याकरण ।) सुश्रुतसंस्कृत ३) संध्यावन्दन भाष्य ॥) हनुमज्जोतिष =) हनुमानचालीसा)। हिन्दी पहिली किताब)॥ क्षत्रियहितैषिणी ~)

नोट— पचीस रुपयोंसे अधिककी पुस्तक खरीदनेवालोंको योग्य कमीशन भी दिया जायगा।

वक्ता इसमें निर्माण हुए, होते हैं और होते रहेंगे ऐसा इसका प्रबन्ध हुआ है। अब इसमें दैनिक पाठ्यक्रमके अतिरिक्त यह भी प्रबन्ध हुआ है कि रात्रिके समय महीनेमें १० दिन व्याख्यान-शिक्षा, दस दिन शास्त्रार्थ-शिक्षा और दस दिन सङ्गीत-शिक्षा भी दी जाया करे। वक्तृताके लिये संगीतका साधारण ज्ञान होना आवश्यक है और इस पंचम वेदका (शुद्ध सङ्गीतका) लोप हो रहा है। इस कारण व्याख्यान और शास्त्रार्थ शिक्षाके साथ सङ्गीत-शिक्षाका भी समावेश किया गया है। सर्व साधारण भी इस धर्मचर्चाका यथासमय उपस्थित होकर लाभ उठा सकते हैं।

निवेदक—सेक्रेटरी महामण्डल,
जगत्गंज, बनारस।

हिन्दूधार्मिक विश्वविद्यालय।

(श्रीशारदामण्डल)

हिन्दूजातिकी विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलका यह विद्यादानविभाग है। वस्तुतः हिन्दूजातिके पुनरभ्युदय और हिन्दुधर्मकी शिक्षा सारे भारतवर्षमें फैलानेके लिये यह विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है। इसके प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कार्यविभाग हैं।

(१) श्रीउपदेशक महाविद्यालय (हिन्दू कालेज आफ डिविनिटी) इस महाविद्यालयके द्वारा योग्य धर्मशिक्षक और धर्मोपदेशक तैयार किये जाते हैं। अंग्रेजी भाषाके बी० ए० पास अथवा संस्कृत भाषाके शास्त्री आचार्य आदि परीक्षाओंकी योग्यता रखनेवाले पण्डित ही छात्ररूपसे इस महाविद्यालयमें भरती किये जाते हैं। छात्रवृत्ति २५) माहवार तक दी जाती है।

(२) धर्मशिक्षाविभाग। इस विभागके द्वारा भारतवर्षके प्रधान प्रधान नगरोंमें ऊपर लिखित महाविद्यालयसे परीक्षोत्तीर्ण एक एक पण्डित स्थायीरूपसे नियुक्त करके उक्त नगरोंके स्कूल, कालेज और पाठशालाओंमें हिन्दुधर्मकी धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जाता है। वे पण्डितगण उन नगरोंमें सनातनधर्मका प्रचार भी करते रहते हैं। ऐसा प्रबन्ध किया जा रहा है कि जिससे महामण्डलके प्रयत्नसे सब बड़े बड़े नगरोंमें इस प्रकार धर्म्मकेन्द्र

श्रीमहामण्डलके सभ्योंकी विशेष सुविधा।

हिन्दू समाजकी एकता और सहायताके लिये विराट् आयोजन।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल हिन्दू जातिकी अद्वितीय धर्म्म महासभा और हिन्दू समाजकी उन्नति करनेवाली भारतवर्षके सकल प्रान्तव्यापी संस्था है। श्रीमहामण्डलके सभ्य महोदयोंको केवल धर्म्मशिक्षा देना ही इसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु हिन्दू समाजकी उन्नति, हिन्दूसमाजकी दृढ़ता और हिन्दू समाजमें पारस्परिक प्रेम और सहायताकी वृद्धि करना भी इसका प्रधान लक्ष्य है इस कारण निम्नलिखित नियम श्रीमहामण्डलकी प्रबन्ध-कारिणी सभाने बनाये हैं। इन नियमोंके अनुसार जितने अधिक संख्यक सभ्य महामण्डलमें सम्मिलित होंगे उतनीही अधिक सहायता महामण्डलके सभ्य महोदयोंको मिल सकेगी। ये नियम ऐसे सुगम और लोकहितकर बनाये गये हैं कि श्रीमहामण्डलके जो सभ्य होंगे उनके परिवारको बड़ी भारी एककालिक दानकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। वर्त्तमान हिन्दूसमाज जिस प्रकार दरिद्र हो गया है उसके अनुसार श्रीमहामण्डलके ये नियम हिन्दू समाजके लिये बहुत ही हितकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीमहामण्डलके मुखपत्रसम्बन्धी उपनियम।

(१) धर्म्मशिक्षाप्रचार, सनातनधर्मचर्चा, सामाजिक उन्नति, सद्विद्याविस्तार, श्रीमहामण्डलके कार्य्योंके समाचारोंकी प्रसिद्धि और सभ्योंको यथासम्भव सहायता पहुंचाना आदि लक्ष्य रखकर श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय द्वारा भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित देशभाषाओंमें मासिकपत्र नियमितरूपसे प्रचार किये जायँगे।

(२) अभी केवल हिन्दी और अंग्रेजी—इन दो भाषाओंके दो मासिसपत्र प्रधान कार्य्यालयसे प्रकाशित हो रहे हैं। यदि इन नियमोंके अनुसार कार्य्य करनेपर विशेष सफलता और सभ्योंकी विशेष इच्छा पाई जायगी तो भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी देशभाषाओंमें भी क्रमशः मासिकपत्र प्रकासित करनेका विचार रक्खा गया है। इन मासिकपत्रोंसे प्रत्येक मेम्बरको एक एक मासिक पत्र, जो वे चाहेंगे, विना मूल्य दिया जायगा। कमसे कम दो हजार

अंश श्रीमहामण्डलके छपाई-विभागको मासिकपत्रोंकी छपाई और प्रकाशन आदि कार्य्यके लिये दिया जायगा। बाकी आधा रुपया एक स्वतन्त्र कोषमें रक्खा जायगा जिस कोषका नाम "समाजहितकारी कोष" होगा।

(९) "समाजहितकारी कोष" का रुपया बैंक आफ बंगाल अथवा ऐसे ही विश्वस्त बैंकमें रक्खा जायगा।

(१०) इस कोषके प्रबन्धके लिये एक खास कमेटी रहेगी।

(११) इस कोषकी आमदनीका आधा रुपया प्रतिवर्ष इस कोषके सहायक जिन मेम्बरोंकी मृत्यु होगी, उनके निर्वाचित व्यक्तियोंमें समानरूपसे बाँट दिया जायगा।

(१२) इस कोषमें बाकी आधे रुपयोंके जमा रखनेसे जो लाभ होगा, उससे श्रीमहामण्डलके कार्यकर्त्ताओं तथा मेम्बरोंके क्लेशका विशेष कारण उपस्थित होनेपर उन क्लेशोंको दूर करनेके लिये कमेटी व्यय कर सकेगी।

(१३) किसी मेम्बरकी मृत्यु होनेपर वह मेम्बर यदि महामण्डलकी किसी शाखासभाका सभ्य हो अथवा किसी शाखासभाके निकटवर्ती स्थानमें रहनेवाला हो तो उसके निर्वाचित व्यक्तिका फर्ज होगा कि वह उक्त शाखासभाकी कमेटीके मन्तव्यकी नकल श्रीमहामण्डल प्रधान कार्य्यालयमें भिजवावे। इस प्रकारसे शाखासभाके मन्तव्यकी नकल आनेपर कमेटी समाजहितकारी कोषसे सहायता देनेके विषयमें निश्चय करेगी।

(१४) जहाँ कहीं सभ्योंको इस प्रकारकी शाखासभाकी सहायता नहीं मिल सकती है या जहाँ कहीं निकट शाखासभा नहीं है ऐसी दशामें उस प्रान्तके श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधियोंमेंसे किसीके अथवा किसी देशी रजवाड़ोंमें हो तो उक्त दरबारके प्रधान कर्म्मचारीका सार्टिफिकेट मिलनेपर सहायता देनेका प्रबन्ध किया जायगा।

(१५) यदि कमेटी उचित समझेगी तो वाला २ खबर मंगाकर सहायता दानका प्रबन्ध करेगी, जिससे कार्य्यमें शीघ्रता हो।

अन्यान्य नियम।

(१६) महामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंमेंसे जो महाशय हिन्दूसमाजकी उन्नति और दरिद्रोंकी सहायताके विचारसे इस

(२३) इन नियमोंके घटाने-बढ़ानेका अधिकार महामण्डलको रहेगा।

(२४) इस कोषकी सहायता 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल' प्रधान कार्यालय, काशी, से ही दी जायगी।

सेक्रेटरी, श्रीभारतधर्ममहामण्डल,
जगत्गंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीमें दीनदुःखियोंके क्लेशनिवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभाके द्वारा अतिविस्तृत रीतिपर शास्त्र प्रकाशनका कार्य्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभाके द्वारा धर्मपुस्तिका पुस्तकादि यथासम्भव विना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गया है। इस दानभण्डारके द्वारा महामण्डल द्वारा प्रकाशित तत्त्वबोध, साधुओंका कर्तव्य, धर्म और धर्माङ्ग, दानधर्म, नारी धर्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दीभाषाके धर्मग्रन्थ और अंग्रेज़ी भाषाके कई एक ट्रैक्टस विना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं। पत्राचार करने पर विदित हो सकेगा। शास्त्र प्रकाशनकी आमदनी इसी दानभण्डारमें दीनदुःखियोंके दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकारका पत्राचार करना चाहें वे निम्न लिखित पते पर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णादानभण्डार,
श्रीभारतधर्ममहामण्डल, प्रधान कार्यालय,
जगत्गंज, बनारस, (छावनी)।

आर्य्यमहिलाके नियम।

१—श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिकाके रूपमें "आर्य्यमहिला" प्रकाशित होती है।

२—महापरिषद्की सब प्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दी जाती है। अन्य ग्राहकोंको

जीविकाका उनके लिये यथायोग्य प्रबन्ध भी किया जाता है। इस विषयोंमें यदि कुछ अधिक जानना चाहें तो निम्नलिखित पतेपर पत्र व्यवहार करें।

प्रधानाध्यापक—आर्यमहिला महाविद्यालय
महामण्डल भवन, जगत्गंज, बनारस।

बंगलाके धर्मग्रंथ।

श्रीमहामण्डलप्रकाशित बंग भाषाके धर्म्मग्रंथ कलकत्ता प्रान्तीय कार्यालयसे यहां मंगा लिये गये हैं उनकी नामावली निम्न लिखित है।

मन्त्रयोग संहिता	॥।)	पुराण तत्त्व	॥।=)
जातीय महायज्ञ साधन	॥।)	धर्म्म	।=)
दैवीमीमांसा दर्शन १म खण्ड	॥)	साधन तत्त्व	॥।)
गुरुगीता	=)	जन्मान्तर तत्त्व	॥=)
तत्त्वबोध	=)	आर्यजाति	॥।)
साधन सोपान	=)	नारी धर्म्म	१)
सदाचार सोपान	-)	सदाचार शिक्षा	।=)
कन्याशिक्षा सोपान	-)	नीतिशिक्षा	॥)

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो,
महामण्डलभवन, जगत्गंज, काशी।

एजन्टोंकी आवश्यकता।